आ श्य सू

मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

प्रेरणा ☐
उपप्रवर्त्तक शासनसेवी स्व० स्वामी श्रीव्रजलालजी महाराज

आद्यसंयोजक—प्रधानसम्पादक ☐
(स्व०) युवाचार्य श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक—विवेचक—सम्पादक ☐
सिद्धान्ताचार्या महासती सुप्रभा 'सुधा' एम. ए

मुख्य सम्पादक ☐
प. शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक ☐
श्री आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क २४

☐ निर्देशन
महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाण सवत् २५११
वि स. २०४२
ई सन् १९८५

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन-समिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यन्त्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य २५) रुपये

V Y T

Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc]

Inspiring Soul
o-pravartaka Shasansevi (Late) Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Siddhantacharya Sadhwi Suprabha 'Sudha' M A

Chief Editor
Pt Shobha Chandra Bharill

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj)

Jinagam Granthmala Publication No. 24

☐ **Direction**
Sadhwi Umravakunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt Shobhachandra Bharill

☐ **Managing Editor**
Srichand Surana 'Saras'

☐ **Promotor**
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

☐ **Date of Publication**
Vir-nirvana Samvat 2511
Vikram Samvat 2042, August, 1985

☐ **Publisher**
Sri Agam Prakashan Samiti,
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj) [India]
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price** · **Rs 25/-**

समर्पण

[illegible] स एव श्रुतभक्ति ने
जैनागमग्रन्थमाला को जन्म दिया,
जिन्होंने अपने जीवन-काल में अनेकानेक
ग्रन्थों का प्रणयन कर मानव लोक का
असीम उपकार किया,
उच्च आचार और शुचि विचार जिनका
सहज योग बन गया था,
जिनका वैदुष्य विद्वद्वर्ग में था,
जो शत-शत सन्तों-सतियों द्वारा श्रमण-
संघ के भावी कर्णधार के रूप में प्रतिष्ठित
किए गए थे,
जो मनसा-वाचा-कर्मणा सम्यक् संकल्प,
सम्भाषण और समाधि के साकार प्रतीक थे,
उन सर्वतोभद्र महामनीषी
श्रमणसंघीय युवाचार्य
श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'
की दिवंगत पुनीतात्मा को।

का कीय

श्री जैनागमग्रन्थमाला के २४ वे ग्रन्थ के रूप मे आवश्यकसूत्र पाठको के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। आवश्यकसूत्र धर्म-क्रिया से सम्बद्ध है और प्रत्येक मुमुक्षु साधक के लिए सदैव उपयोगी एव आवश्यक है। इस सूत्र का सम्पादन एव अनुवाद अध्यात्मयोगिनी परमविदुषी महासतीजी श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना' की पण्डिता शिष्या श्री सुप्रभाजी म० 'सुधा' सिद्धान्ताचार्य, साहित्यरत्न, एम० ए० ने परिश्रमपूर्वक किया है। अतएव हम महासतीजी के इस महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए आभारी हैं।

महासतीजी ने इस सस्करण को सर्वसाधारण के लिए उपयोगी बनाने का पूर्ण रूप से प्रयास किया है। विशिष्ट शब्दो का अर्थ और भावार्थ देकर अनुवाद को अलकृत किया है।

साहित्यवाचस्पति विद्वद्वर मुनि श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री ने प्रस्तुत सूत्र को विशद प्रस्तावना लिख कर इसे अधिक उपयोगी बना दिया है। प्रस्तावना मे आपने विस्तार के साथ आवश्यको के स्वरूप पर प्रकाश डाला है और विभिन्न धर्मो सम्बन्धी आवश्यकक्रिया की तुलना भी प्रस्तुत की हे।

पच्चीसवे ग्रन्थ के रूप मे जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति प्रेस मे दे दी गई है। इस प्रकार समिति का प्रकाशन कार्य अग्रसर हो रहा है। आगमप्रेमी सज्जन इन आगमो के प्रचार-प्रसार मे सहयोग दे, यही निवेदन है।

रतनचद मोदी	**जतनराज**	**चादमल विनायकिया**
कार्यवाहक अध्यक्ष	**प्रधानमन्त्री**	**मन्त्री**

अपनी ओर से

विराट् विश्व के समस्त प्राणी सुख चाहते है। आचाराग सूत्र मे श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—

"सव्वे पाणा सुहसाया दुक्खपडिकूला"[1] समस्त प्राणी चाहे वह कीडी हो या कुंजर, दरिद्रतम मानव है अथवा स्वर्गाधिपति इन्द्र, सभी सुख चाहते है। दुःख कोई नही चाहता। 'सुखकामानि भूतानि'[2]—प्राणिमात्र की कामना है—सुख मिले। लेकिन प्रश्न यह है कि सुख मिले कैसे? वह कोई ऐसा फल तो है नही जो किसी वृक्ष पर लटक रहा हो, जिसे तोड लिया जाय अथवा कही से खरीद लिया जाय। यदि ऐसा होता तो जितने भी धनिक है, वे कब के उसे खरीद लेते। फिर बेचारे गरीबो को तो सुख नसीब ही न होता? पर ऐसा नही है। सुख अपने ही भीतर से प्रकट होता है। आत्मा मे ही सुख-दुःख के बीज छिपे हुए है। उस सुख को प्राप्त करने के लिए जो क्रिया अनिवार्य है—उस क्रिया का चिन्तन, मनन करके उसका अमल करना चाहिए। जीवन की वह क्रिया, जिसके अभाव मे हम आत्मिक सुखलाभ के पथ पर आगे नही बढ सकते, वही आवश्यक कहलाती है। जीवित रहने के लिये जिस प्रकार श्वास लेना जरूरी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र मे जीवन की पवित्रता के लिए जो क्रिया अथवा साधना जरूरी है, अनिवार्य है उसे ही आगम मे 'आवश्यक' की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। आवश्यक अर्थात् प्रतिक्रमण आदि अवश्य करणीय कर्त्तव्य।

प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है—पापो से निवृत्त होना। आत्मा की जो वृत्ति अशुभ हो चुकी है, उस वृत्ति को शुभ स्थिति मे लाना प्रतिक्रमण है। अथवा प्रतिक्रमण का अर्थ है—अतीत के जीवन का प्रामाणिकता-पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण। मन की छोटी-बडी सभी विकृतियाँ, जो किसी न किसी रूप मे पाप की श्रेणी मे आती है, उनके प्रतीकार के लिए जैन परम्परा मे प्रतिक्रमण एक महोषध है। तन की विकृति जैसे रोग है, वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मन की विकृतियाँ मन के रोग है। इनकी चिकित्सा भी आवश्यक है। तन का रोग अधिक से अधिक एक जन्म तक ही पीडा दे सकता है, किन्तु मन का रोग एक बार प्रारम्भ होने के बाद, यदि व्यक्ति असावधान रहा तो हजारो ही नही, लाखो जन्मो तक परेशान करता है। भारतीय पौराणिक साहित्य की हजारो जैन, बौद्ध एव वैदिक कथाएँ इसकी साक्षी है। अत प्रतिक्रमण के द्वारा मानसिक विकृतियो का तत्काल परिमार्जन कर लेना परमावश्यक है।

अनुयोगद्वार मे आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिये है—आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्कवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।[3]

---

१ आचारागसूत्र, १।२।३।

२ उदान २।३

३ **आवस्सय अवस्सकरणिज्ज, धुवनिग्गहो विसोही य।**
अज्झयण-छक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो॥

साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के लिए सायकाल और प्रात काल कर्मो की निर्जरा करने लिए प्रतिक्रमण परम अनिवार्य है । आवश्यकसूत्र के छह अध्ययन ह—(१) सामायिक (२) चतुर्विशतिस्तव (३) वदना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) प्रत्याख्यान ।

१ सामायिक

सामायिक की साधना के विषय मे महामहिम गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि—

प्र०—सामाइएण भते ! जीवे कि जणयइ ?

उ०—सामाइएण सावज्जजोगविरइ जणयइ ॥[1]

जीवन को स्पर्श करने वाला कितना मार्मिक प्रश्नोत्तर है । जिस आत्मा ने समता के अमृतबिन्दु का पान किया ह, वह कौन-सा आनन्द प्राप्त करता है ? प्रश्न जरा गभीर लगता है, किन्तु उत्तर मे उससे भी अधिक गभीरता है ।

हे गौतम ! सामायिक द्वारा आत्मा सावद्ययोग की प्रवृत्ति से विरक्त होती है । आत्मा की वृत्ति चिरकाल से अशुभ की तरफ दौड रही ह । सामायिक की साधना आत्मा को अशुभ वृत्ति से हटाकर शुभ मे जोडती है और शुभ से शुद्धि की ओर ले जाती ह ।

जिस प्रकार व्यक्ति पशुओ को जब कीले से बाध देता ह, तब उसके भाग जाने का भय नही रहता, उसी प्रकार समभाव के साधक अशुभ वृत्ति को सामायिक से बाध देते ह, फिर विकार की तरफ जाने का भय नही रहता ह । सामायिक का अर्थ सिर्फ शारीरिक क्रिया को रोकना ही नही, अपितु अशुभ मानसिक क्रिया को भी रोकना ह । सामायिक की मुख्य आधारभूमि मन ही है । जब तक मन मे सामायिक नही आती, जब तक तन की सामायिक का विशेष महत्त्व नही है । राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का शरीर तो सामायिक मे था लेकिन मन किन्ही और ही विषम भावो से गु था हुआ था । तन समभाव मे था किन्तु मन सहार मे प्रवृत्त था । मन की अस्थिरता के योग ने उनको सातवे नरक तक के योग्य बन्धन मे बाध लिया, परन्तु जैसे ही तन के साथ मन भी समभाव मे प्रवृत्त बना कि सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करके कैवल्य को भी प्राप्त कर लिया ।

२ चतुर्विशति-स्तव

आवश्यकसूत्र का दूसरा अध्ययन है चतुर्विशतिस्तव । आलोचना के क्षेत्र मे पहुचने से पूर्व क्षेत्रशुद्धि होना आवश्यक ह । साधक प्रथम समभाव में स्थिर बने फिर गुणाधिक महापुरुषो की स्तुति करे ।-महापुरुषो का गुण-कीर्तन प्रत्येक साधक के लिए प्रेरणा का स्रोत है । मानव-मन जबतक वर्त्तमान चौबीसी मे, जो आध्यात्मिक जीवन के चौबीस सर्वोत्तम कलाकार हो गये ह, उनका शरण नही लेगा तब तक आध्यात्मिक कला सीख नही सकेगा । इस विषय मे गणधर गोतम श्रमण भगवान् महावीर से प्रश्न करते ह—

प्र०—चउव्वीसत्थएण भते ! जीवे कि जणयइ ?

उ०—चउव्वीसत्थएण दसणविसोहि जणयइ ॥[2]

---

१ उत्तराध्ययन, अ २९ सूत्र ९

२ उत्तराध्ययन सूत्र अ २९ सूत्र १० ।

प्रभो ! चतुर्विंशति-स्तव का जीवन मे क्या स्थान है तथा जीवन मे स्तवन-स्तुति का प्रकाश प्राप्त होता है, तब आत्मा कौन से आध्यात्मिक गुण को प्राप्त करती है ?

हे गौतम ! प्रार्थना का, स्तुति का प्रकाश आत्मा के दर्शन-ज्ञान को विशुद्ध बनाता है। मिथ्यात्व का अधकार दर्शनगुण की प्रतिभा को नष्ट कर देता है, किन्तु वीतराग की स्तुति मिथ्यात्व से हटाकर साधक को सम्यक्त्व की ओर ले जाती है।

३ वन्दना

आवश्यकसूत्र का तीसरा अध्ययन वन्दना है। आलोचना क्षेत्र मे प्रवेश करते समय गुरुभक्ति एव नम्रता का होना आवश्यक है। ज्ञातासूत्र मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर आया है। जीवन का पारखी सेठ सुदर्शन मुनि थावच्चापुत्र से प्रश्न करता है कि जैनधर्म का, जैनदर्शन का मूल क्या है—'किंमूलए धम्मे ?' उस महामहिम अनगार ने क्षमा आदि गुणो को धर्म का मूल न बताकर 'विनय' को ही धर्म का मूल कहा है—'सुदसणा ! विणयमूले धम्मे।' विनय जीवनप्रासाद की नीव की ईट रूप है। विनय एक वशीकरण मत्र है। विनय से, नम्रता से देवता भी वश मे हो जाते है तथा शत्रु, मित्र बन जाता है। इसलिए साधक तीर्थंकर की स्तुति के बाद गुरुदेव को वदन करते है। इस विषय मे शिष्य प्रश्न करता है—

प्र०—वन्दणएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—वन्दणएण नीयागोय कम्म खवेइ। उच्चागोय कम्म निबन्धइ। सोहग्ग च ण अप्पडिहय आणाफल निव्वत्तेइ, दाहिणभाव च ण जणयइ ॥[1]

भगवन् ! वदन करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

गौतम ! वन्दना द्वारा आत्मा नीचगोत्ररूप बधे हुए कर्म का क्षय करता है और उच्चगोत्र कर्म को बाधता है तथा ऐसा सौभाग्य प्राप्त करता है कि उसकी आज्ञा निष्फल नही जाती है अर्थात् उसकी वाणी मे इतना निखार आ जाता है कि सभी उसकी आज्ञा का पालन करते है। साथ ही वन्दना मे आत्मा को दाक्षिण्यभाव प्राप्त होता है।

४ प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण आवश्यकसूत्र का चतुर्थ अध्ययन है। व्रतो मे लगे अतिचारो की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। प्रतिदिन यथासमय यह चिन्तन करना कि आज आत्मा व्रत से अव्रत मे कितना गया ? कषाय की ज्वाला कितनी बार प्रज्वलित हुई ? और हुई तो निमित्त क्या बना ? वह कषाय अनन्तानुबन्धी या अथवा अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी या सज्वलन ? क्रोध के आवेश मे जो शब्द कहे वे उचित थे या अनुचित ? इस प्रकार का सूक्ष्म रूप से चिन्तन-मनन करके इसकी शुद्धि करना ही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण मे साधक अपनी भूलो का स्मरण करता है और उसके लिए पश्चात्ताप के आँसू बहाता है। पाप की कालिमा को नदी का सैकडो मन पानी नही धो सकता, किन्तु पश्चात्ताप के आँसू की दो बूदे उसे एक मिनट मे धो देती है। एक विचारक ने कहा है—**जो भूल करता है वह मानव है, लेकिन उस भूल पर अहकार करना राक्षस का काम है।** भूल होना स्वाभाविक है, पर भूल पर गौरव अनुभव करना अर्थात् भूल को फूल मानकर बैठ जाना सबसे बडी भूल है और यही भूल आगे जाकर जीवन मे शूल बन जाती है।

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र, अ २९ सूत्र ११

साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के लिए सायकाल और प्रात काल कर्मों की निर्जरा करने लिए प्रतिक्रमण परम अनिवार्य हे । आवश्यकसूत्र के छह अध्ययन ह—(१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वदना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) प्रत्याख्यान ।

१. सामायिक

सामायिक की साधना के विषय मे महामहिम गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि—

प्र०—सामाइएण भते ! जीवे कि जणयइ ?

उ०—सामाइएण सावज्जजोगविरइ जणयइ ॥[1]

जीवन को स्पश करने वाला कितना मार्मिक प्रश्नोत्तर हे। जिस आत्मा ने समता के अमृतविन्दु का पान किया ह, वह कोन-सा आनन्द प्राप्त करता है ? प्रश्न जरा गभीर लगता हे, किन्तु उत्तर मे उससे भी अधिक गभीरता है।

हे गोतम ! सामायिक द्वारा आत्मा सावद्ययोग की प्रवृत्ति से विरक्त होती है। आत्मा की वृत्ति चिरकाल से अशुभ की तरफ दोड रही हे। सामायिक की साधना आत्मा को अशुभ वृत्ति से हटाकर शुभ मे जोडती ह ओर शुभ से शुद्धि की ओर ले जाती है।

जिस प्रकार व्यक्ति पशुओ को जब कीले से वाध देता ह, तव उसके भाग जाने का भय नही रहता, उसी प्रकार समभाव के साधक अशुभ वृत्ति को सामायिक से वाध देते ह, फिर विकार की तरफ जाने का भय नही रहता हे। सामायिक का अथ सिर्फ शारीरिक क्रिया को रोकना ही नही, अपितु अशुभ मानसिक क्रिया को भी रोकना हे। सामायिक की मुख्य आधारभूमि मन ही है। जव तक मन मे सामायिक नही आती, जव तक तन की सामायिक का विशेष महत्त्व नही हे। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का शरीर तो सामायिक मे था लेकिन मन किन्ही ओर ही विषम भावो से गु था हुआ था। तन समभाव मे था किन्तु मन सहार मे प्रवृत्त था। मन की अस्थिरता के योग ने उनको सातवे नरक तक के योग्य बन्धन मे बाध लिया, परन्तु जैसे ही तन के साथ मन भी समभाव मे प्रवृत्त बना कि सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करके कैवल्य को भी प्राप्त कर लिया।

२ चतुर्विंशति-स्तव

आवश्यकसूत्र का दूसरा अध्ययन है चतुर्विंशतिस्तव। आलोचना के क्षेत्र मे पहुचने से पूर्व क्षेत्रशुद्धि होना आवश्यक ह। साधक प्रथम समभाव मे स्थिर बने फिर गुणाधिक महापुरुषो की स्तुति करे। महापुरुषो का गुण-कीतन प्रत्येक साधक के लिए प्रेरणा का स्रोत है। मानव-मन जबतक वर्तमान चौवीसी मे, जो आध्यात्मिक जीवन के चोवीस सर्वोत्तम कलाकार हो गये हे, उनका शरण नही लेगा तव तक आध्यात्मिक कला सीख नही सकेगा। इस विषय मे गणधर गोतम श्रमण भगवान् महावीर से प्रश्न करते हे—

प्र०—चउव्वीसत्थएण भते ! जीवे कि जणयइ ?

उ०—चउव्वीसत्थएण दसणविसोहि जणयइ ॥[2]

१ उत्तराध्ययन, अ २९ सूत्र ९

२ उत्तराध्ययन सूत्र अ २९ सूत्र १० ।

प्रभो ! चतुर्विंशति-स्तव का जीवन मे क्या स्थान है तथा जीवन में स्तवन-स्तुति का प्रकाश प्राप्त होता है, तब आत्मा कौन से आध्यात्मिक गुण को प्राप्त करती है ?

हे गौतम ! प्रार्थना का, स्तुति का प्रकाश आत्मा के दर्शन-ज्ञान को विशुद्ध बनाता है। मिथ्यात्व का अधकार दर्शनगुण की प्रतिभा को नष्ट कर देता है, किन्तु वीतराग की स्तुति मिथ्यात्व से हटाकर साधक को सम्यक्त्व की ओर ले जाती है।

३ वन्दना

आवश्यकसूत्र का तीसरा अध्ययन वन्दना है। आलोचना क्षेत्र मे प्रवेश करते समय गुरुभक्ति एव नम्रता का होना आवश्यक है। ज्ञातासूत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर आया है। जीवन का पारखी सेठ सुदर्शन मुनि थावच्चापुत्र से प्रश्न करता है कि जैनधर्म का, जैनदर्शन का मूल क्या है—'किंमूलए धम्मे ?' उन महामहिम अनगार ने क्षमा आदि गुणो को धर्म का मूल न बताकर 'विनय' को ही धर्म का मूल कहा है—'सुदसणा ! विणयमूले धम्मे।' विनय जीवनप्रासाद की नीव की ईट रूप है। विनय एक वशीकरण मत्र है। विनय से, नम्रता से देवता भी वश मे हो जाते हैं तथा शत्रु, मित्र बन जाता है। इसलिए साधक तीर्थंकर की स्तुति के बाद गुरुदेव को वदन करते है। इस विषय मे शिष्य प्रश्न करता है—

प्र०—वन्दणएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—वन्दणएण नीयागोय कम्म खवेइ। उच्चागोय कम्म निबन्धइ। सोहग्ग च ण अप्पडिहय आणाफल निव्वत्तेइ, दाहिणभाव च ण जणयइ ॥[१]

भगवन् ! वदन करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

गौतम ! वन्दना द्वारा आत्मा नीचगोत्ररूप बधे हुए कर्म का क्षय करता है और उच्चगोत्र कर्म को बाधता है तथा ऐसा सौभाग्य प्राप्त करता है कि उसकी आज्ञा निष्फल नही जाती है अर्थात् उसकी वाणी मे इतना निखार आ जाता है कि सभी उसकी आज्ञा का पालन करते है। साथ ही वन्दना मे आत्मा को दाक्षिण्यभाव प्राप्त होता है।

४ प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण आवश्यकसूत्र का चतुर्थ अध्ययन है। व्रतो मे लगे अतिचारो की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। प्रतिदिन यथासमय यह चिन्तन करना कि आज आत्मा व्रत से अव्रत मे कितना गया ? कषाय की ज्वाला कितनी बार प्रज्वलित हुई ? और हुई तो निमित्त क्या बना ? वह कषाय अनन्तानुबन्धी था अथवा अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी या सज्वलन ? क्रोध के आवेश मे जो शब्द कहे वे उचित थे या अनुचित ? इस प्रकार का सूक्ष्म रूप से चिन्तन-मनन करके इसकी शुद्धि करना ही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण मे साधक अपनी भूलो का स्मरण करता है और उसके लिए पश्चात्ताप के आँसू बहाता है। पाप की कालिमा को नदी का सैकडो मन पानी नहीं धो सकता, किन्तु पश्चात्ताप के आँसू की दो बूदे उसे एक मिनट मे धो देती है। एक विचारक ने कहा है—**जो भूल करता है वह मानव है, लेकिन उस भूल पर अहकार करना राक्षस का काम है।** भूल होना स्वाभाविक है, पर भूल पर गौरव अनुभव करना अर्थात् भूल को फूल मानकर बैठ जाना सबसे बडी भूल है और यही भूल आगे जाकर जीवन मे शूल बन जाती है।

---

[१] उत्तराध्ययनसूत्र, अ २९ सूत्र ११

प्रतिक्रमण क्या है ? आत्मा के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में शिष्य प्रश्न करता है—

प्र०—पडिक्कमणेण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

उ०—पडिक्कमणेण वयछिद्दाणि पिहेइ पिहियवय छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे, असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥[1]

भगवन् ! प्रतिक्रमण करके आत्मा कौन-से विशिष्ट गुण को प्राप्त करता है ? शिष्य के मन की जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् फरमाते हैं—प्रतिक्रमण द्वारा साधक व्रत के छिद्रों को आच्छादित (बन्द) करता है। प्रमादवश व्रत में जो स्खलन हो जाता है, उसे प्रतिक्रमण के द्वारा दूर करता है। शुद्धव्रतधारी जीव आश्रवों को रोककर, शबलादि दोष रहित शुद्ध संयम वाला होकर आठ प्रवचनमाताओं में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधि-पूर्वक अपनी इन्द्रियों को सन्मार्गगामी बनाकर संयम-मार्ग में विचरण करता है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच प्रकार होते हैं—(१) दैवसिक, (२) रात्रिक, (३) पाक्षिक (४) चातुर्मासिक और (५) सांवत्सरिक।

१ दैवसिक—दिन के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

२ रात्रिक—रात्रि के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण अर्थात् रात्रि में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।

३ पाक्षिक—पन्द्रह दिन के अन्त में पापों की आलोचना करना।

४ चातुर्मासिक—चार महीने के बाद कार्तिकी पूर्णिमा फाल्गुनी पूर्णिमा एवं आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार महीने के अन्तर्गत लगे दोषों का प्रतिक्रमण करना।

५ सांवत्सरिक—आषाढी पूर्णिमा से उनपचासवें या पचासवें दिन वर्ष भर में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग, ये पांच दोष माने गये हैं। साधक प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता हुआ यह देखता है कि वह कहीं सम्यक्त्व के प्रशस्त पथ को छोडकर मिथ्यात्व के कटीले पथ की तरफ तो नहीं बढ रहा है ? व्रत के वास्तविक स्वरूप को भूलकर अव्रत की ओर तो नहीं जा रहा है ? अप्रमत्तता के शान्त वातावरण को छोडकर मन कहीं प्रमाद के तनावपूर्ण वातावरण में तो नहीं फंस रहा है ? अकषाय के सुरभित बाग को छोडकर कषाय के दुर्गन्ध से युक्त बाडे की ओर तो नहीं गया है ? योगों की प्रवृत्ति शुभ योग को छोड कर अशुभयोग में तो नहीं लगी ? यदि मैं मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग में गया हूँ, तो मुझे पुन सम्यक्त्व, व्रत, अकषायता, अप्रमाद और शुभ योग में प्रवृत्त होना चाहिये।

प्रतिक्रमण साधकजीवन की एक अपूर्व कला है तथा जैन साधना का प्राणतत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश दोष न लग सके। उन दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये। प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन, निरीक्षण करते हुए इन दोषों से निवृत्त होकर हल्का बनता है।

१ उत्तराध्ययन सूत्र, अ २९ सूत्र १२।

५ कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग आवश्यकसूत्र का पाचवाँ अध्ययन है तथा ग्यारहवा तप है। इसका अर्थ है—देह के प्रति ममत्व त्यागना। जब तक देह के प्रति ममत्वभाव है तब तक साधक जीवन के मैदान मे दृढतापूर्वक आगे नही बढ सकता। अत जैन साधना-पद्धति मे कायोत्सग का अद्भुत, मानिक एव विलक्षण महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुयोगद्वार मे कायोत्सग को 'व्रणचिकित्सा' कहा है। सावधान रहने पर भी प्रमाद आदि के कारण साधना मे दोष लग जाते है। उन दोष रूपी जख्मो को ठीक करने के लिये कायोत्सग एक मरहम है, जो अतिचार रूपी घावो को ठीक कर देता है। सयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिये, अपने आपको विशुद्ध बनाने के लिए, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य से मुक्त करने के लिए, पाप कर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सग किया जाता है।

कायोत्सग के विषय मे शिष्य प्रश्न करता है—

प्रश्न—काउसग्गेण भते ! जीवे कि जणयइ ?

उत्तर—काउसग्गेण तीय-पडुप्पन्न पायच्छित्त विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरिय-भारुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुह सुहेण विहरइ।[1]

प्र०—भगवन् ! कायोत्सर्ग से आत्मा क्या फल प्राप्त करता है ?

उ०—कायोत्सग के द्वारा आत्मा भूतकाल और वर्तमान काल के अतिचारो से विशुद्ध बनता है। अतिचारो से शुद्ध होने के बाद साधक के मन मे इतना आनन्द का अनुभव होता है, जितना कि एक मजदूर के सम्तक पर से वजन हट जाने पर उसे होता है।

६ प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान आवश्यकसूत्र का छठा अध्ययन है। भूतकाल के अतिचारो की आलोचना के बाद साधक प्रायश्चित्त रूप मे कायोत्सग करता है और अतीत के दोषो से मुक्त हो जाता है। परन्तु भविष्य के दोषो को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। साधक के जीवन मे प्रत्याख्यान का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इस विराट् विश्व मे इतने अधिक पदार्थ हैं जिनकी परिगणना करना भी असभव है। चाहे कितनी भी लम्बी उम्र क्यो न हो फिर भी एक मनुष्य विश्व की सभी वस्तुओ का उपभोग नही कर सकता। लेकिन मानव की इच्छाए तो आकाश की भाति अनन्त हैं। एक के बाद दूसरे को भोगने की इच्छा होती है, जिसके कारण मनुष्य के अन्तर्मानस मे सदा अतृप्ति एव अशान्ति बनी रहती है। उस अतृप्ति की आग को बुझाने का एकमात्र उपाय प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान से भविष्य मे लगने वाले तत्सबधी पाप रुक जाते है और साधक का जीवन सयम के सुनहरे प्रकाश मे जगमगाने लगता है। प्रत्याख्यान से भविष्य मे आने वाली अविरति की सभी क्रियाए रुक जाती है और साधक नियमोपनियम का सम्यक् पालन करता है।

प्रत्याख्यान के विषय मे कहा गया है—

प्रश्न—पच्चक्खाणेण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पच्चक्खाणेण आसवदाराइ निरु भइ, पच्चक्खाणेण इच्छानिरोह जणयइ। इच्छानिरोहगए य ण जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे। सीईभूए विहरइ॥[2]

---

१ उत्तराध्ययन सू, अ २९, सूत्र १३
२ उत्तराध्ययन अ २९, सूत्र १४

समाधान (३)—श्रावक के व्रतो और अतिचारो को एक साथ कहना श्रावकसूत्र है। लेकिन यह विषय बडा विचारणीय है। (१) साधु के महाव्रतो मे श्रावक के अणुव्रतो का समावेश हो जाता है, इसलिए साधु को श्रावको के व्रत कहने की आवश्यकता नही है। (२) श्रावक को तो साधु होने का मनोरथ अवश्य करना चाहिए, अत श्रमणसूत्र कहने की आवश्यकता है, परन्तु यदि कहे कि साधु भी श्रावक होने की भावना करे और श्रावक सूत्र को प्रतिक्रमण मे कहे तो यह कथन सर्वथा अयोग्य ही होगा।

शका (४)—श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे या करते है, इसका कोई प्रमाण है क्या ?

समाधान (४)—द्वादश वार्षिक महादुष्काल से धर्मस्खलित जैनो के पुनरुद्धारक श्रावकवरिष्ठ श्रीलोका-शाह गुजरात देश के अहमदाबाद शहर मे हुए। उस देश मे अर्थात् गुजरात, झालावाड, काठियावाड, कच्छ आदि देशो मे छह कोटि एव आठ कोटि वाले सभी श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे एव करते है। सनातन जैन साधुमार्गी समाज के पुनरुद्धारक परम पूज्य श्री लवजीऋषिजी महाराज के तृतीय पाट पर विराजित हुए परम पूज्य श्री कहनाजीऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक श्रमणसूत्र बोलते है।

बाईस सम्प्रदाय के मूलाचार्य परम पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक एव मेवाड देश-धर्मप्रवत्तक पूज्य श्री एकलिगदासजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते है।

उपर्युक्त शका-समाधन से सिद्ध होता है कि श्रावक को श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करना चाहिए। श्रमणसूत्र के पाठो के बिना श्रावक की क्रिया पूरी तरह शुद्ध नही हो सकती है। क्योकि श्रावको को अवश्य जानने योग्य विषय और आचरण करने योग्य विषय श्रावकसूत्र मे है। प्राचीन काल के श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे, वतमान मे भी कुछ श्रावक श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण करते है और जो श्रमणसूत्र सहित प्रतिक्रमण नही करते है, उन्हे अब करना चाहिए।

प्रस्तुत सस्करण

आवश्यकसूत्र का प्रस्तुत सस्करण आगम प्रकाशन समिति द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। इस समिति की आयोजना हमारे स्वर्गीय गुरुदेव पूज्य युवाचार्य श्री 'मधुकर' मुनिजी महाराज द्वारा की गई थी। गुरुदेव का यह विचार था कि मूल आगमो का प्रकाशन ऐसी पद्धति से किया जाए जिससे सर्वसाधारण आगमप्रेमी जनो को भी उनका स्वाध्याय कर सकना सरल हो। यह कोई सामान्य सकल्प नही था। एक भगीरथ-अनुष्ठान था, मगर महान् सकल्प के धनी गुरुदेव ने इसे कार्य रूप मे परिणत किया और आपके निर्देशन मे अनेक आगमो का प्रकाशन हो भी गया। किन्तु दु ख का विषय है कि गुरुदेव बीच मे ही स्वग सिधार गए। तत्पश्चात् भी अनेक मुनिवरो और उदार सद्गृहस्थो के महत्त्वपूर्ण सहयोग से गुरुदेव द्वारा प्रारब्ध प्रकाशन-कार्य अग्रसर हो रहा है। अब यह प्रकाशन-काय गुरुदेव युवाचार्यश्री के प्रति एक प्रकार से श्रद्धाञ्जलि-स्वरूप ही समझना चाहिए।

आवश्यकसूत्र के सम्पादन मे हमारी गुरुणीजी म अध्यात्मयोगिनी, प्रशस्तवात्सल्यमूर्ति, सुमधुरभाषिणी, परमविदुषी पूज्य श्री उमरावकु वरजी म सा ने मेरा पथ-प्रदर्शन किया है। तपोमूर्ति श्री उम्मेदकु वरजी म तथा अन्य साध्वी-मडल का सहयोग प्राप्त हुआ है। उपाध्याय कविवर्य श्री अमरमुनिजी म आदि द्वारा सम्पादित सस्करणो का भी इसमे यथास्थान उपयोग किया गया है। इन सभी के सहयोग के लिए मे अतीव आभारी हूँ।

साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्रमुनिजी म ने विस्तृत प्रस्तावना लिख कर इस सस्करण को विभूषित किया है। उनके प्रति आभारी होना स्वाभाविक है।

पूरी सावधानी वरतने के बावजूद अगर कही कोई त्रुटि रह गई हो तो उदार पाठक हमे अवश्य सूचना दे, जिससे अगले सस्करण मे उसका परिमाजन किया जा सके।

—साध्वी सुप्रभा 'सुधा'

प्रस्तावना

आवश्यकसूत्र एक समीक्षात्मक अध्ययन

भारतीय साहित्य मे 'आगम' शब्द शास्त्र का पर्यायवाची है। आवश्यकचूर्णिकार ने आगम शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है—जिसके द्वारा पदार्थों का अवबोध होता है, वह आगम है[1]। अनुयोगद्वारचूर्णि मे लिखा है—जो आप्तवचन है, वह आगम है[2]। अनुयोगद्वार मलधारीय टीका मे आचार्य ने आगम शब्द पर चिन्तन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि जो गुरुपरम्परा से आता है, वह आगम है[3]। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—जिस शास्त्र के अनुशीलन से अभ्युदय एव नि श्रेयस् का उपाय अवगत हो, वह आगम है। अभिनव-गुप्ताचार्य के अभिमतानुसार जिसके पठन से सर्वांगीण बोध प्राप्त हो, वह आगम है[4]। इसी प्रकार आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य मे शास्त्र की परिभाषा देते हुए लिखा है—जिसके द्वारा यथार्थ सत्य रूप ज्ञेय का, आत्मा का परिबोध हो और अनुशासन किया जा सके, वह शास्त्र है[5]। आगम और शास्त्र के ही अर्थ मे सूत्र शब्द का भी प्रयोग होता है। सघदासगणी ने बृहत्कल्पभाष्य मे सूत्र शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—जिसके अनुसरण से कर्मो का सरण / अपनयन होता है, वह सूत्र है[6]। विशेषावश्यकभाष्य मे निरुक्त-विधि से अर्थ करते हुए लिखा है—जो अर्थ का सिचन / क्षरण करता है, वह सूत्र है[7]। आचार्य अभयदेव ने स्थानागवृत्ति मे लिखा है—जिससे अर्थ सूचित / गुम्फित किया जाता है, वह सूत्र है[8]। बृहत्कल्पटीका मे लिखा है—सूत्र का अनुसरण करने से अष्ट प्रकार की कर्म-रज का अपनयन होता है, अत वह सूत्र कहा जाता है[9]।

जैन साधना का प्राण आवश्यक

जैन आगमसाहित्य मे आवश्यकसूत्र का अपना विशिष्ट स्थान है। अनुयोगद्वारचूर्णि मे आवश्यक की परिभाषा करते हुए लिखा है—जो गुणशून्य आत्मा को प्रशस्त भावो से आवासित करता है वह आवासक/आवश्यक है[10]। अनुयोगद्वार मलधारीय टीका मे लिखा है, जो समस्त गुणो का निवासस्थान है, वह आवासक/

---

१ णज्जति अत्था जेण सो आगमो। — आवश्यकचूर्णि १।३६

२ अत्तस्स वा वयण आगमो। —अनुयोगद्वारचूर्णि पृष्ठ १६

३ गुरुपारम्पर्येणागच्छतीत्यागम। —अनुयोगद्वार मलधारीय टीका, पृ २०२

४ आसमन्तात् अर्थं गमयति इति आगम।

५ सासज्जिति तेण तहिं वा नेयमायतो सत्य।

६ अनुसरइ त्ति सुत्त। —बृहत्कल्प भाष्य, ३११

७, सिंचति खरइ जमत्थ तम्हा सुत्त निरुत्तविहिणा। —वि भा १३६८

८ सूच्यन्ते अनेनेति सूत्रम्। —स्थानागवृत्ति, पृष्ठ ४९

९ सूत्रमनुसरन् रज —अष्टप्रकार कर्म अपनयति तत सरणात् सूत्रम्। —बृहत्कल्पटीका, पृष्ठ ९५

१० सुण्णमप्पाण त पसत्यभावेहिं आवासेतीति आवास। —अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ १४

आवश्यक सूत्र है[11]। दूसरे शब्दो मे यो भी कहा जा सकता है कि जो प्रशस्त गुणो से आत्मा को सम्पन्न करता हे, वह आवासक / आवश्यक जैन साधना का प्राण हे। वह जीवनशुद्धि और दोषपरिमार्जन का जीवन्त भाष्य हे। साधक चाहे साक्षर हो चाहे निरक्षर हो, चाहे सामान्य जिज्ञासु हो या प्रतापपूर्ण प्रतिभा का धनी कोई मूर्धन्य मनीषी, सभी साधको के लिये आवश्यक का ज्ञान आवश्यक ही नही, अनिवार्य हे। आवश्यकसूत्र के परिज्ञान से साधक अपनी आत्मा को निरखता है, परखता हे। 'जैसे वैदिक परम्परा मे सन्ध्याकर्म हे, बौद्ध परम्परा मे उपासना हे, पारसियो मे खोर देह अवेस्ता हे, यहूदी और ईसाईयो मे प्रार्थना हे, इस्लाम धम मे नमाज ह, वैसे ही जैनधम मे दोपो की विशुद्धि के लिये और गुणो की अभिवृद्धि के लिये आवश्यक हे।'

आवश्यक जैन साधना का मुख्य अग है। वह आध्यात्मिक समता, नम्रता, प्रभृति सद्गुणो का आधार हे। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न साधक का लक्ष्य वाह्य पदार्थ नही, आत्मशोधन है। जिस साधना और आराधना से आत्मा शाश्वत सुख का अनुभव करे, कर्म-मल को नष्ट कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से अध्यात्म के आलोक को प्राप्त करे, वह आवश्यक है। अपनी भूलो को निहार कर उन भूलो के परिष्कार के लिये कुछ न कुछ क्रिया करना आवश्यक हे। आवश्यक का विधान श्रमण हो या श्रमणी हो, श्रावक हो या श्राविका हो—सभी के लिये हे।[12] अनुयोगद्वारसूत्र मे आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिये ह—आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्कवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग। इन नामो मे किंचित् अर्थभेद होने पर भी सभी नाम समान अर्थ को ही व्यक्त करते है।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणो के लिये यह नियम है कि वे अनिवार्य रूप से आवश्यक करे। यदि श्रमण और श्रमणिया आवश्यक नही करते है तो श्रमणधर्म से च्युत हो जाते है। यदि जीवन मे दोष की कालिमा लगी है तो भी और नही लगी है तो भी आवश्यक अवश्य करना चाहिये। आवश्यकनिर्युक्ति मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरो के शासन मे प्रतिक्रमण सहित धर्म प्ररूपित किया गया है।[13] श्रावको के लिये भी आवश्यक की जानकारी आवश्यक मानी गई हे। यही कारण है कि श्वेताम्बर परम्परा मे वालको के धार्मिक अध्ययन का प्रारम्भ आवश्यकसूत्र से ही कराया जाता है।

आवश्यकसूत्र के छह अग है—

१ सामायिक—समभाव की साधना,
२ चतुर्विंशतिस्तव—चौवीस तीर्थंकर देवो की स्तुति।
३ वन्दन—सद्गुरुओ को नमस्कार, उनका गुणगान,
४ प्रतिक्रमण—दोषो की आलोचना,
५ कायोत्सर्ग—शरीर के प्रति ममत्वका त्याग,
६ प्रत्याख्यान—आहार आदि का त्याग।

अनुयोगद्वार मे इनके नाम इस प्रकार दिये गये है—१ सावद्य योगविरति (सामायिक), २ उत्कीर्तन

---

११ समग्रस्यापि गुणग्रामस्यावासकमित्यावासकम्। —अनुयोगद्वार मलधारीय टीका, पृष्ठ २८

१२ समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वय हवइ जम्हा।
अन्ते अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सय नाम॥ —आवश्यकवृत्ति, गाथा २, पृष्ठ ५३

१३ सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाण, कारणजाए पडिक्कमण॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२४४

(चतुर्विंशतिस्तव), ३ गुणवत् प्रतिपत्ति (गुरु-उपासना अथवा वन्दन), ४ स्खलितनिन्दना (प्रतिक्रमण—पिछले पापो की आलोचना), ५ व्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग—ध्यान-शरीर से ममत्व-त्याग) और ६ गुणधारण (प्रत्याख्यान—आगे के लिये त्याग, नियमग्रहण आदि)।

ज्ञानसार मे आचार्य ने आवश्यकक्रिया का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—आवश्यकक्रिया पहले से प्राप्त भावविशुद्धि से आत्मा को गिरने नही देती। गुणो की वृद्धि के लिये और प्राप्त गुणो से स्खलित न होने के लिये आवश्यक क्रिया का आचरण बहुत उपयोगी है। आवश्यकक्रिया के आचरण से जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता है। उसके जीवन मे सद्गुणो का सागर ठाठे मारने लगता है।

आवश्यक मे जो साधना का क्रम रखा गया है, वह कार्य-कारण भाव की शृ खला पर अवस्थित है तथा पूर्ण वैज्ञानिक है। साधक के लिये सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। बिना समता को अपनाये सद्गुणो के सरस सुमन खिलते नही और अवगुणो के काटे झडते नही। जब अन्तर्हृ दय मे विषमभाव की ज्वालाएँ धधक रही हो तब वीतरागी महापुरुषो के गुणो का उत्कीर्त्तन किस प्रकार किया जा सकता है? समत्व को जीवन मे धारण करने वाला व्यक्ति ही महापुरुषो के गुणो का सकीर्त्तन करता है और उनके उदात्त गुणो को जीवन मे उतारता है। इसीलिये सामायिक आवश्यक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक रखा गया है। जब गुणो को व्यक्ति हृदय मे धारण करता है, तभी उसका सिर महापुरुषो के चरणो मे झुकता है। भक्तिभावना से विभोर होकर वह उन्हे वन्दन करता है, इसीलिये तृतीय आवश्यक वन्दन है। वन्दन करने वाले साधक का हृदय सरल होता है, खुली पुस्तक की तरह उसके जीवन-पृष्ठो को प्रत्येक व्यक्ति पढ सकता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषो की आलोचना करता है, अत वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। भूलो को स्मरण कर उन भूलो से मुक्ति पाने के लिये तन एव मन मे स्थैर्य आवश्यक है। कायोत्सर्ग मे तन और मन की एकाग्रता की जाती है और स्थिर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन स्थिर होता है, तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डाँवाडोल स्थिति मे हो, तब प्रत्याख्यान सम्भव नही है। इसलिये प्रत्याख्यान आवश्यक का स्थान छठा रखा गया है। इस प्रकार यह षडावश्यक आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम उपाय है।

अनुयोगद्वार सूत्र मे आवश्यक के दो विभाग प्राप्त हैं—द्रव्य-आवश्यक और भाव-आवश्यक है।[१४] द्रव्य आवश्यक में बिना चिन्तन, अन्यमनस्क भाव से पाठो का केवल उच्चारण किया जाता है। जो पाठ बोला जा रहा है—उस पाठ मे मन न लगकर इधर-उधर भटकता रहता है। द्रव्य-आवश्यक मे केवल बाह्य क्रिया चलती है, उपयोग के अभाव से उस क्रिया से आन्तरिक तेज प्रकट नही होता। वह प्राणरहित साधना है। भाव-आवश्यक में साधक उपयोग के साथ क्रिया करता है। उस क्रिया के साथ उसका मन, उसका वचन, उसका तन पूर्ण रूप से एकाग्र होता है। वह एकलय और एकतानता के साथ साधना करता है। जब द्रव्य-आवश्यक के साथ भाव-आवश्यक का सुमेल होता है तो द्रव्य-आवश्यक एक तेजस्वी आवश्यक बन जाता है। यही कारण है कि शास्त्रकारो ने भाव-आवश्यक को अत्यधिक महत्त्व दिया है। भाव-आवश्यक लोकोत्तर साधना है और उस साधना का फल मोक्ष है।

---

१४ ज ण इमे समणो वा समणी वा सावओ वा सविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए, अन्नत्थ कत्थई मण अकरेमाणे उभओकाल आवस्सय करेंति से त लोगुत्तरिय भावावस्सय।

सामायिक आवश्यक

षडावश्यक मे सामायिक का प्रथम स्थान है। वह जैन आचार का सार है। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनो के लिये आवश्यक है। जितने भी श्रावक है वे जब साधना का मार्ग स्वीकार करते है तो सर्वप्रथम सामायिकचरित्र को ग्रहण करते है। चारित्र के पाच प्रकार है। उनमे सामायिक चारित्र प्रथम है। सामायिक चारित्र चोवीस ही तीर्थकरो के शासन-काल मे रहा है, पर अन्य चार चारित्र अवस्थित नही है। श्रमणो के लिये सामायिक प्रथम चारित्र है, तो गृहस्थ साधको के लिये सामायिक चार शिक्षाव्रतो मे प्रथम शिक्षाव्रत है। जैन आचारदर्शन का भव्य प्रासाद सामायिक की सुदृढ नीव पर आवृत है। समत्ववृत्ति की साधना किसी व्यक्ति-विशेष या वर्गविशेष की धरोहर नही है। वह सभी साधको के लिये है और जो समत्ववृत्ति की साधना करता है वह जैन है। आचार्य हरिभद्र ने तो स्पष्ट रूप मे कहा है कि साधक चाहे श्वेताम्बर हो, चाहे दिगम्बर हो, बोद्ध हो या अन्य किसी मत का हो, जो भी समभाव मे स्थित होगा वह निःसदेह मोक्ष को प्राप्त करेगा।[१५] एक व्यक्ति प्रतिदिन एक लाख स्वर्ण मुद्राओ का उदारतापूर्वक दान करता है, दूसरा व्यक्ति समत्वयोग की साधना करता है, इन दोनो मे महान् कौन है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए तत्त्वदर्शी मनीषियो ने कहा—जो समत्वयोग—सामायिक की साधना करता है, वह महान् है।[१६] करोडो वर्षो तक तपश्चरण की निरन्तर साधना करने वाला जिन कर्मो को नष्ट नही कर पाता, उनको समभावी साधक कुछ ही क्षणो मे नष्ट कर लेता है।[१७] कोई भी साधक बिना समभाव के मुक्त नही हुआ है और न होगा ही। अतीत काल मे जो साधक मुक्त हुए है, वर्तमान मे जो मुक्त हो रहे है तथा भविष्य मे जिन्हे मुक्त होना है, उनके मुक्त होने का आधार सामायिक था/है/रहेगा।

सामायिक एक विशुद्ध साधना है। सामायिक मे साधक की चित्तवृत्ति क्षीरसमुद्र की तरह एकदम शान्त रहती है, इसलिये वह नवीन कर्मो का बन्ध नही करता। आत्मस्वरूप मे स्थित रहने के कारण जो कर्म शेष रहे हुए है, उनकी वह निर्जरा कर लेता है। इसीलिये आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घातिकर्मो को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।[१८]

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे सामायिक की परिभाषा करते हुए लिखा है—सम उपसर्गपूर्वक गति अर्थ वाली "इण्" धातु से 'समय' शब्द निष्पन्न होता है। सम्—एकीभाव, अय—गमन अर्थात् एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से पुनः मुडकर आत्मा की ओर गमन करना समय है। समय का भाव सामायिक

---

१५ सेयम्बरो वा आसम्बरो वा बुद्धो वा तहेव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा लहेइ मुक्खं न सदेहो॥ —हरिभद्र

१६ दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवण्णस्स खडिय एगो।
एगो पुण सामाइय, करेइ न पहुप्पए तस्स॥

१७ तिव्वतव तवमाणे ज न वि निवट्टइ जम्मकोडीहिं।
त समभाविअचित्तो, खवेइ कम्म खणद्धेण॥

१८ सामायिक-विशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मण।
क्षयात्केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम्॥ —हरिभद्र अष्टक-प्रकरण, ३०-१

है।[19] आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—राग-द्वेष के कारणो मे मध्यस्थ रहना सम है। मध्यस्थभावयुक्त साधक की मोक्ष के अभिमुख जो प्रवृत्ति है, वह सामायिक है।[20] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी विशेषावश्यकभाष्य मे यही परिभाषा स्वीकार की है[21]। आवश्यकसूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और हारिभद्रीया वृत्ति मलयगिरिवृत्ति आदि मे सामायिक के विविध दृष्टियो से विभिन्न अर्थ किये हैं। सभी जीवो पर मैत्री-भाव रखना साम है और साम का लाभ जिससे हो, वह सामायिक है।[22] पापकारी प्रवृत्तियो का त्याग करना ही सावद्ययोग-परित्याग कहलाता है। अहिंसा, समता प्रभृति सद्गुणो का आचरण निरवद्ययोग है। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध स्वभाव मे रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना के द्वारा उस 'सम' की प्राप्ति हो, वह सामायिक है।[23] 'सम' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है और 'अयन' का अर्थ आचरण है। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक है। अहिंसा आदि श्रेष्ठ साधना समय पर की जाती है, वह सामायिक है।

सामायिक की विभिन्न व्युत्पत्तियो पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन सभी मे समता पर बल दिया गया है। राग-द्वेष के विविध प्रसग समुपस्थित होने पर आत्म-स्वभाव मे सम रहना, वस्तुत सामायिक है। समता से तात्पर्य है—मन की स्थिरता, राग-द्वेष का उपशमन और सुख-दुख मे निश्चल रहना, समभाव मे उपस्थित होना। कर्मों के निमित्ति से राग-द्वेष के विषमभाव समुत्पन्न होते हैं, उन विषम भावो से अपने-आपको हटाकर स्व-स्वरूप मे रमण करना, समता है। समता को ही गीता मे योग कहा है।[24]

मन, वचन और काय की दुष्ट वृत्तियो को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक मन, वचन और काय को वश मे कर लेता है। विषय, कषाय और राग-द्वेष से अलग-थलग रहकर वह सदा ही समभाव मे स्थित रहता है। विरोधी को देखकर उसके अन्तर्मानस मे क्रोध की ज्वाला नही भडकती और न हितैषी को देखकर वह राग से आह्लादित होता है। वह समता के गहन सागर मे डुबकी लगाता है, जिससे विषमता की ज्वालाएँ उसकी साधना को नष्ट नही कर पाती। उसे न निन्दा के मच्छर डँसते है और न ईर्ष्या के बिच्छू ही डक मारते हैं। चाहे अनुकूल परिस्थिति हो, चाहे प्रतिकूल, चाहे सुख के सुमन खिल रहे हो, चाहे दुख के नुकीले काटे बीध रहे हो, पर वह सदा समभाव से रहता है। उसका चिन्तन सदा जागृत रहता है। वह सोचता है कि सयोग और वियोग—ये दोनो ही आत्मा के स्वभाव नही है। ये तो शुभाशुभ कर्मों के उदय का फल हैं। परकीय पदार्थो के सयोग और वियोग से आत्मा का न हित हो सकता है और न अहित ही। इसलिए वह सतत समभाव मे रहता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—जो साधक त्रस और स्थावर रूप सभी जीवो पर समभाव रखता है, उसकी सामायिक शुद्ध

---

१९ 'सम्' एकीभावे वर्तते। तद्यथा, सगत घृत सगत तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयन गमन समय, समय एव सामायिकम्। समय प्रयोजनमस्येति वा विग्रह्य सामायिकम्। —सर्वार्थसिद्धि, ७, २१

२० समो—रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थ, इण गतौ अयन अयो गमनमित्यर्थ, समस्य अय समाय—समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्ति समाय एव सामायिकम्। —आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, ८५४

२१ रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयण अयो त्ति गमण ति।
समगमण ति समाओ स एव सामाइय नाम॥ —विशेषावश्यक भाष्य, ३४७७

२२ विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३४८१

२३ अहवा समस्स आओ गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो। —वि भाष्य, गा ३४८०

२४ समत्व योगमुच्यते। —भगवद्गीता, २-४८

होती है।[२५] जिसकी आत्मा सयम मे, तप मे, नियम मे सलग्न रहती है, उसी की सामायिक शुद्ध होती है।[२६]

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—जैसे चन्दन काटने वाली कुल्हाडी को भी सुगन्धित बना देता है, वैसे ही विरोधी के प्रति भी जो समभाव की सुगन्ध फैलाता है, उसी की सामायिक शुद्ध है।[२७]

समता के द्वारा साधक आत्मशक्तियो को केन्द्रित करके अपनी महान् ऊर्जा को प्रकट करता है। मानव अनेक कामनाओ के भवरजाल मे उलझा रहता है, जिससे उसका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है। द्वन्द्व और तनाव का वातावरण बना रहता है। बर्बरता, पशुता, सकीर्णता व राग-द्वेष के विकार-जन्तु पनपते रहते हैं। जब मानव समता से विचलित हुआ तब प्रकृति मे विकृति, व्यक्ति मे तनाव, समाज मे विषमता, युग मे हिंसा के तत्त्व उभरे है। उन सभी को रोकने के लिये सन्तुलन और व्यवस्था बनाये रखने के लिये सामायिक की आवश्यकता है। सामायिक समता का लहराता हुआ निर्मल सागर है। जो साधक उसमे अवगाहन कर लेता है, वह राग-द्वेष के कर्दम से मुक्त हो जाता है।

सामायिक की साधना बहुत ही उत्कृष्ट साधना है। अन्य जितनी भी साधनाए है, वे सभी साधनाए इसमे अन्तर्निहित हो जाती है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थपिड कहा है।[२८] उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशागी रूप जिनवाणी का साररूप बताया है।[२९] रग-बिरगे खिले हुए पुष्पो का सार गध है, यदि पुष्प मे गध नही है, केवल रूप ही है तो वह केवल दर्शको के नेत्रो को तृप्त कर सकता है, किन्तु दिल और दिमाग को ताजगी प्रदान नही कर सकता। दूध का सार घृत है। जिस दूध मे घृत नही है, वह केवल नाममात्र का ही दूध है। घृत से ही दूध मे पौष्टिकता रहती है। वह शरीर को शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार तिल का सार तेल है। यदि तिलो मे से तेल निकल जाय, इक्षु खण्ड मे से रस निकल जाय, धान मे से चावल निकल जाय तो वह निस्सार बन जाता है। वैसे ही साधना मे से समभाव यानी सामायिक निकल जाय तो वह साधना भी निस्सार है। केवल नाममात्र की साधना है। समता के अभाव मे उपासना उपहास है। साधक मायाजाल के चगुल मे फँस जाता है। दूसरो की उन्नति को निहार कर उसके अन्तर्मानस मे ईर्ष्या-अग्नि सुलगने लगती है, वैर-विरोध के जहरीले कीटाणु कुलबुलाने लगते है। इसीलिये सामायिक की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

भगवती सूत्र मे वर्णन है कि पार्श्वापत्य कालास्यवेसी अनगार के समक्ष तु गिया नगरी के श्रमणोपासको ने जिज्ञासा प्रस्तुत की थी कि सामायिक क्या है ? और सामायिक का अर्थ क्या है ?

---

२५ (क) जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलि-भासिय ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, ७९९
(ख) अनुयोगद्वार १२८ (ग) नियमसार १२६

२६ (क) जस्स सामाणिओ अप्पा सजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलि-भासिय ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, ७९८
(ख) अनुयोगद्वार १२७ (ग) नियमसार १२७

२७ हरिभद्र अष्टक-प्रकरण २९-१

२८ सामाइय सखेवो चोद्दस पुव्वत्थपिंडोत्ति ॥ —विशेषा भाष्य, गा २७९६

२९ तत्त्वार्थवृत्ति १-१

है।[19] आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—राग-द्वेष के कारणों में मध्यस्थ रहना सम है। मध्यस्थभावयुक्त साधक की मोक्ष के अभिमुख जो प्रवृत्ति है, वह सामायिक है।[20] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी विशेषावश्यकभाष्य में यही परिभाषा स्वीकार की है[21]। आवश्यकसूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और हारिभद्रीया वृत्ति मलयगिरिवृत्ति आदि में सामायिक के विविध दृष्टियों से विभिन्न अर्थ किये हैं। सभी जीवों पर मैत्री-भाव रखना साम है और साम का लाभ जिससे हो, वह सामायिक है।[22] पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करना ही सावद्ययोग-परित्याग कहलाता है। अहिंसा, समता प्रभृति सद्गुणों का आचरण निरवद्ययोग है। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध स्वभाव में रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना के द्वारा उस 'सम' की प्राप्ति हो, वह सामायिक है।[23] 'सम' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है और 'अयन' का अर्थ आचरण है। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक है। अहिंसा आदि श्रेष्ठ साधना समय पर की जाती है, वह सामायिक है।

सामायिक की विभिन्न व्युत्पत्तियों पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन सभी में समता पर बल दिया गया है। राग-द्वेष के विविध प्रसंग समुपस्थित होने पर आत्म-स्वभाव में सम रहना, वस्तुतः सामायिक है। समता से तात्पर्य है—मन की स्थिरता, राग-द्वेष का उपशमन और सुख-दुःख में निश्चल रहना, समभाव में उपस्थित होना। कर्मों के निमित्ति से राग-द्वेष के विषमभाव समुत्पन्न होते हैं, उन विषम भावों से अपने-आपको हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना, समता है। समता को ही गीता में योग कहा है।[24]

मन, वचन और काय की दुष्ट वृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक मन, वचन और काय को वश में कर लेता है। विषय, कषाय और राग-द्वेष से अलग-थलग रहकर वह सदा ही समभाव में स्थित रहता है। विरोधी को देखकर उसके अन्तर्मानस में क्रोध की ज्वाला नहीं भड़कती और न हितैषी को देखकर वह राग से आह्लादित होता है। वह समता के गहन सागर में डुबकी लगाता है, जिससे विषमता की ज्वालाएँ उसकी साधना को नष्ट नहीं कर पाती। उसे न निन्दा के मच्छर डँसते हैं और न ईर्ष्या के बिच्छू ही डंक मारते हैं। चाहे अनुकूल परिस्थिति हो, चाहे प्रतिकूल, चाहे सुख के सुमन खिल रहे हों, चाहे दुःख के नुकीले कांटे बींध रहे हों, पर वह सदा समभाव से रहता है। उसका चिन्तन सदा जागृत रहता है। वह सोचता है कि संयोग और वियोग—ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ये तो शुभाशुभ कर्मों के उदय का फल हैं। परकीय पदार्थों के संयोग और वियोग से आत्मा का न हित हो सकता है और न अहित ही। इसलिए वह सतत समभाव में रहता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—जो साधक त्रस और स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है, उसकी सामायिक शुद्ध

---

१९ 'सम्' एकीभावे वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्। —सर्वार्थसिद्धि, ७, २१

२० समो—रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः, इण गतौ अयनं अयो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समायः—समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः समाय एव सामायिकम्। —आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, ८५४

२१ रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयणं अयो त्ति गमणं ति।
ति समाओ स एव सामाइयं नाम॥ —विशेषावश्यक भाष्य, ३४७७

२२ विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३४८१

२३ आओ गुणाणं लाभो त्ति जो समाओ सो। —वि. भाष्य, गा. ३४८०

२४. योगमुच्यते। —भगवद्गीता, २-४८

होती है।[25] जिसकी आत्मा संयम में, तप में, नियम में संलग्न रहती है, उसी की सामायिक शुद्ध होती है।[26]

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—जैसे चन्दन काटने वाली कुल्हाड़ी को भी सुगन्धित बना देता है, वैसे ही विरोधी के प्रति भी जो समभाव की सुगन्ध फैलाता है, उसी की सामायिक शुद्ध है।[27]

समता के द्वारा साधक आत्मशक्तियों को केन्द्रित करके अपनी महान् ऊर्जा को प्रकट करता है। मानव अनेक कामनाओं के भवरजाल में उलझा रहता है, जिससे उसका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है। द्वन्द्व और तनाव का वातावरण बना रहता है। बर्बरता, पशुता, संकीर्णता व राग-द्वेष के विकार-जन्तु पनपते रहते हैं। जब मानव समता से विचलित हुआ तब प्रकृति में विकृति, व्यक्ति में तनाव, समाज में विषमता, युग में हिंसा के तत्त्व उभरे हैं। उन सभी को रोकने के लिये सन्तुलन और व्यवस्था बनाये रखने के लिये सामायिक की आवश्यकता है। सामायिक समता का लहराता हुआ निर्मल सागर है। जो साधक उसमें अवगाहन कर लेता है, वह राग-द्वेष के कदम से मुक्त हो जाता है।

सामायिक की साधना बहुत ही उत्कृष्ट साधना है। अन्य जितनी भी साधनाएं हैं, वे सभी साधनाएं इसमें अन्तर्निहित हो जाती हैं। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थपिंड कहा है।[28] उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनवाणी का साररूप बताया है।[29] रंग-बिरंगे खिले हुए पुष्पों का सार गंध है, यदि पुष्प में गंध नहीं है, केवल रूप ही है तो वह केवल दर्शकों के नेत्रों को तृप्त कर सकता है, किन्तु दिल और दिमाग को ताजगी प्रदान नहीं कर सकता। दूध का सार घृत है। जिस दूध में घृत नहीं है, वह केवल नाममात्र का ही दूध है। घृत से ही दूध में पौष्टिकता रहती है। वह शरीर को शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार तिल का सार तेल है। यदि तिलों में से तेल निकल जाय, इक्षु खण्ड में से रस निकल जाय, धान में से चावल निकल जाय तो वह निस्सार बन जाता है। वैसे ही साधना में से समभाव यानी सामायिक निकल जाय तो वह साधना भी निस्सार है। केवल नाममात्र की साधना है। समता के अभाव में उपासना उपहास है। साधक मायाजाल के चंगुल में फँस जाता है। दूसरों की उन्नति को निहार कर उसके अन्तर्मानस में ईर्ष्या-अग्नि सुलगने लगती है, वैर-विरोध के जहरीले कीटाणु कुलबुलाने लगते हैं। इसीलिये सामायिक की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

भगवती सूत्र में वर्णन है कि पार्श्वापत्य कालास्यवेसी अनगार के समक्ष तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों ने जिज्ञासा प्रस्तुत की थी कि सामायिक क्या है? और सामायिक का अर्थ क्या है?

---

२५ (क) जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलि-भासिय॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, ७९९
(ख) अनुयोगद्वार १२८ (ग) नियमसार १२६

२६ (क) जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलि-भासिय॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, ७९८
(ख) अनुयोगद्वार १२७ (ग) नियमसार १२७

२७ हरिभद्र अष्टक-प्रकरण २९-१

२८ सामाइय संखेवो चोद्दस पुव्वत्थपिंडोत्ति॥ —विशेषा भाष्य, गा २७९६

२९ तत्त्वार्थवृत्ति १-१

कालास्यवेसी अनगार ने स्पष्ट रूप से कहा, "आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।"

तात्पर्य यह है कि जब आत्मा पापमय व्यापारो का परित्याग कर समभाव मे अवस्थित होता है, तब सामायिक होती है। आत्मा का काषायिक विकारो मे अलग होकर स्वस्वरूप मे रमण करना ही सामायिक है और वही आत्म-परिणति है। सामायिक में साधक वाह्य दृष्टि का परित्याग कर अन्तर्दृष्टि को अपनाता है, विषमभाव का परित्याग कर समभाव मे अवस्थित रहता है, पर पदार्थो से ममत्व हटाकर निजभाव मे स्थित होता है। जैसे अनन्त आकाश विश्व के चराचर प्राणियो के लिये आधारभूत है, वैसे ही सामायिक-साधना आध्यात्मिक साधना के लिये आधारभूत है।

सामायिक के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए विविध दृष्टियो से सामायिक को प्रतिपादित किया गया है। नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव आदि से उसका स्वरूप प्रतिपादित है। सामायिक करने वाला साधक साधना मे इतना स्थिर होता है कि चाहे शुभ नाम हो, चाहे अशुभ नाम हो, उस नाम का उस साधक के अन्तर्मानस पर कोई असर नही होता। वह सोचता है कि आत्मा अनामी है, आत्मा का कोई नाम नही है, नाम प्रस्तुत शरीर का है, यह शरीर नामकर्म की रचना है। इसलिये मै व्यर्थ ही क्यो सकल्प-विकल्प करू। सामायिक का साधक चित्ताकर्षक वस्तु को निहार कर आह्लादित नही होता तो घिनौने रूप को देखकर घृणा भी नही करता। वह तो सोचता है कि आत्मा रूपातीत है। सुरूपता और कुरूपता तो पुद्गल परमाणुओ का परिणमन है, जो कभी शुभ होता है तो कभी अशुभ होता है। मैं पुद्गल तत्त्व से पृथक् हूँ। इस प्रकार वह चिन्तन कर समभाव मे रहता है। यह स्थापना सामायिक है। सामायिक व्रतधारी साधक पदार्थों की सुन्दरता को देखकर मुग्ध नही होता और असुन्दरता को देखकर खिन्न नही होता। इसी तरह बहुमूल्य वस्तु को देखकर प्रसन्न नही होता और अल्पमूल्य वाली वस्तु को देखकर खिन्न नही होता। वह चिन्तन करता है कि पदार्थों की सुन्दरता और असुन्दरता की कल्पना मानव की कल्पना मात्र है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर प्रतीत होती है तो दूसरे को वह सुन्दर प्रतीत नही होती। हीरे-पन्ने, माणक-मोती आदि जवाहरात मे भी मानव ने मूल्य की कल्पना की है, अन्यथा तो वे अन्य पत्थरो की भाति पत्थर ही है। ऐसा विचार कर साधक सभी भौतिक पदार्थो मे समभाव रखता है। यह द्रव्य-सामायिक है। ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप हो, पौष माह की भयकर सनसनाती सर्दी हो, श्रावण, भाद्रपद की हजार-हजार धारा के रूप मे वर्षा हो अथवा रिमझिम-रिमझिम बू दे गिर रही हो, चाहे अनुकूल समय हो, चाहे प्रतिकूल समय हो, सामायिक व्रतधारी साधक समभाव मे विचरण करता है। शीत, उष्ण आदि स्पर्श पुद्गल के है और ये सारे पुद्गल, पुद्गल को ही प्रभावित करते है। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ, किसी भी पर स्पर्श का कोई प्रभाव नही हो सकता। मुझे इन वैभाविक स्थितियो से दूर रहकर आत्मभाव मे स्थित रहना है। यह काल-सामायिक है।

सामायिकनिष्ठ साधक के लिये चाहे रमणीय स्थान हो, चाहे अरमणीय, चाहे सुन्दर सुगन्धित उपवन हो, चाहे बजर भूमि हो, चाहे विराट नगर की उच्च अट्टालिका हो, या निर्जन वन की कटीली भूमि हो, कोई फर्क नही पडता। वह सर्वत्र समभाव मे रहता है। उसका चिन्तन चलता है कि मेरा निवासस्थान न जगल है, न नगर, मेरा तो निवासस्थान आत्मा ही है, फिर व्यर्थ ही क्षेत्र के व्यामोह मे पडकर क्यो कर्मबन्धन करूँ? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव मे स्थित रहता है तो मुझे भी आत्म-भाव मे स्थिर रहना है, यह क्षेत्र-सामायिक है।

भाव-सामायिकधारी का चिन्तन ऊर्ध्वमुखी होता है। वह सदा-सर्वदा आत्म-भाव मे विचरण करता है। उसका चिन्तन चलता है—"मैं अजर और अमर हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ, जीवन-मरण, मान-अपमान, सयोग-

वियोग, लाभ-अलाभ—ये सभी कर्मोदयजन्य विकार है। मेरा इनके साथ वस्तुत कोई सम्बन्ध नही है। इस प्रकार विचार करके शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मतत्त्व को प्राप्त करना ही भाव-सामायिक है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार मे कहा है—परद्रव्यो से निवृत्त होकर जब साधक की ज्ञानचेतना आत्मस्वरूप मे प्रवृत्त होती है, तभी भाव-सामायिक होती है। राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ भावापन्न आत्मा सम कहलाता है। उस सम मे गमन करना भाव-सामायिक है।

आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने भाव-सामायिक पर विस्तार से चिन्तन किया है। उन्होंने गुणनिष्पन्न भाव-सामायिक को एक विराट नगर की उपमा दी है। जैसे एक विराट नगर जन, धन, धान्य आदि मे समृद्ध होता है, विविध वनो और उपवनो से अलकृत होता है, वैसे ही भाव-सामायिक करने वाले साधक का जीवन सद्गुणो से समलकृत होता है। उसके जीवन मे विविध सद्गुणो की जगमगाहट होती है, शान्ति का साम्राज्य होता है।

आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने सामायिक आवश्यक को आद्यमगल[30] माना है। जितने भी विश्व मे द्रव्यमगल है, वे सभी द्रव्यमगल अमगल के रूप मे परिवर्तित हो सकते है, पर सामायिक ऐसा भावमगल है जो कभी भी अमगल नही हो सकता। समभाव की साधना सभी मगलो का मूल केन्द्र है। अनन्त काल से इस विराट विश्व मे परिभ्रमण करने वाला आत्मा यदि एक बार भी भाव-सामायिक ग्रहण कर ले तो वह सात-आठ भव से अधिक ससार मे परिभ्रमण नही करता। सामायिक ऐसा पारसमणि है, जिसके सस्पर्श मे अनन्तकाल की मिथ्यात्व आदि की कालिमा से आत्मा मुक्त हो जाता है।

सामायिक के द्रव्य-सामायिक और भाव-सामायिक ये दो मुख्य भेद है। सामायिक ग्रहण करने के पूर्व जो विधि-विधान किये जाते है, जैसे सामायिक के लिये आसन बिछाना, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि धार्मिक उपकरण एकत्रित कर एक स्थान पर अवस्थित होना, यह द्रव्य-सामायिक है। द्रव्य-सामायिक मे आसन, वस्त्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, माला आदि वस्तुए स्वच्छ और सादगीपूर्ण होनी चाहिये, वे रग-बिरगे न होकर श्वेत होने चाहिये। श्वेत रग शुक्ल और शुभ ध्यान का प्रतीक है। आधुनिक विज्ञान ने भी श्वेत रग को शान्ति का प्रतीक माना है। सामायिक मे न गन्दे और बीभत्स धर्मोपकरण रखने चाहिये और न चमचमाती हुई विलासितापूर्ण वस्तुएँ ही। भाव-सामायिक वह है जिसमे साधक आत्म-भाव मे स्थिर रहता है। सामायिक मे द्रव्य और भाव दोनो की आवश्यकता है। भावशून्य द्रव्य केवल मुद्रा लगी हुई मिट्टी है, वह स्वर्णमुद्रा की तरह बाजार मे मूल्य प्राप्त नही कर सकती। केवल बालको का मनोरजन ही कर सकती है। द्रव्यशून्य भाव केवल स्वर्ण है, जिस पर मुद्रा उट्टकित नही है। वह स्वर्ण के रूप मे तो मूल्य प्राप्त कर सकता है किन्तु मुद्रा के रूप मे नही। द्रव्ययुक्त भाव स्वर्ण-मुद्रा है। वह अपना मूल्य रखती है और अबाध गति से सर्वत्र चलती है। इसीलिये भावयुक्त द्रव्य-सामायिक का भी महत्त्व है।

सामायिक के पात्र-भेद से दो भेद होते है—१ गृहस्थ की सामायिक और २ श्रमण की सामायिक।[31] गृहस्थ की सामायिक परम्परानुसार एक मुहूर्त्त यानी ४८ मिनट की होती है, अधिक समय के लिये भी वह अपनी स्थिति के अनुसार सामायिक व्रत कर सकता है। श्रमण की सामायिक यावज्जीवन के लिये होती है।

---

३० आदिमगल सामाइयज्झयण। सव्वमगलनिहाण निव्वाण पाविहित्ति काऊण सामाइयज्झयण मगल भवति। —आवश्यकचूर्णि

३१ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७९६

आचार्य भद्रबाहु ने सामायिक के तीन भेद बताए हैं—१ सम्यक्त्वसामायिक २ श्रुतसामायिक और ३ चारित्रसामायिक।[32] समभाव की साधना के लिये सम्यक्त्व और श्रुत ये दोनो आवश्यक हैं। बिना सम्यक्त्व के श्रुत निर्मल नही होता और न चारित्र ही निर्मल होता है। सर्वप्रथम दृढ निष्ठा होने से विश्वास की शुद्धि होती है। सम्यक्त्व मे अधविश्वास नही होता। वहाँ भेदविज्ञान होता है। श्रुत से विचारो की शुद्धि होती है। जब विश्वास और विचार शुद्ध होता है, तब चारित्र शुद्ध होता है।

सामायिक एक आध्यात्मिक साधना है, इसलिये इसमे जाति-पाँति का प्रश्न नही उठता। हरिकेशी मुनि[33] जाति से अन्त्यज थे, पर सामायिक की साधना से वे देवो द्वारा भी अर्चनीय बन गये। अर्जुन मालाकार,[34] जो एक दिन क्रूर हत्यारा था, सामायिक साधना के प्रभाव से उसने मुक्ति को वरण कर लिया।

जैन साहित्य मे सामायिक का महत्त्व प्रतिपादन करने हेतु पूनिया श्रावक की एक घटना प्राप्त होती है— सम्राट् श्रेणिक की जिज्ञासा पर भगवान् महावीर ने बताया कि तुम मरकर प्रथम नरक मे उत्पन्न होओगे, क्योकि तुमने इसी प्रकार के कर्मो का अनुबन्धन किया है। सम्राट् श्रेणिक ने नरक से बचने का उपाय पूछा। भगवान् ने चार उपाय बताये। उन उपायो मे एक उपाय पूनिया श्रावक की सामायिक को खरीदना था। जब श्रेणिक सामायिक खरीदने के लिये पहुचा तो पूनिया श्रावक ने श्रेणिक से कहा, "एक सामायिक का मूल्य कितना है ? यह आप भगवान् महावीर से पूछ लीजिये।" राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने कहा— राजन् ! तुम्हारे पास इतना विराट् वैभव है पर यह सारा धन सामायिक की दलाली के लिये भी पर्याप्त नही है। सामायिक का मूल्य तो उससे भी कही अधिक है। सार यह है कि सामायिक एक अमूल्य साधना है। आध्यात्मिक साधना की तुलना भौतिक वैभव से नही की जा सकती। आध्यात्मिक निधि के सामने भौतिक सम्पदाएँ तुच्छ ही नही, नगण्य है।

तुलना बौद्ध और वैदिक परम्परा से

सामायिक जैन साधना की विशुद्ध साधनापद्धति है। इस साधनापद्धति की तुलना आशिक रूप से अन्य धर्मो की साधनापद्धति से की जा सकती है। बौद्धधर्म श्रमणसस्कृति की ही एक धारा है। उस धारा मे साधना के लिये अष्टागिक मार्ग का निरूपण है।[35] अष्टागिक मार्ग मे सभी के आगे सम्यक् शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्-सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बौद्ध साहित्य के मनीषियो का यह अभिमत है कि यहाँ जो सम्यक् शब्द का प्रयोग हुआ है, वह सम के अर्थ मे है, क्योकि पाली भाषा मे जो सम्मा शब्द है, उसके सम और सम्यक् दोनो रूप बनते हैं। यहाँ पर जो सम्यक् शब्द का प्रयोग हुआ है, वह राग-द्वेष की वृत्तियो को न्यून करने के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। जब राग-द्वेष की मात्रा कम होती है, तभी साधक समत्वयोग की ओर अपने कदम बढा सकता है। अष्टागिक मार्ग मे अन्तिम मार्ग का नाम सम्यक् समाधि है। समाधि मे चित्तवृत्ति राग-द्वेष से

३२ सामाइय च तिविह, सम्मत्त सुय तहा चरित्त च।
दुविह चेव चरित्त, अगारमणगारिय चेव ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, ७९७

३३ उत्तराध्ययन, हरिकेशी अध्ययन, १२

३४ अन्तकृतदशाग, ६ वर्ग, तृतीय अध्ययन

३५ (क) दीघनिकाय-महासतिपट्ठान-सुत्त (ख) सयुत्तनिकाय ५, पृ ८-१०

रहित हो जाती है। जब तक चित्तवृत्तियाँ राग-द्वेष से मुक्त नही बनती तब तक समाधि के सदर्शन नहीं होते। सयुत्तनिकाय[36] मे तथागत बुद्ध ने कहा—जिन व्यक्तियो ने धर्मों को सही रूप से जान लिया है, जो किसी मत, पक्ष या वाद में उलझे हुए नही ह, वे सम्बुद्ध ह, समदृष्टा है और विषम स्थितियों मे भी उनका आचरण सम रहता है। सयुत्तनिकाय[37] मे अन्य स्थान पर बुद्ध ने स्पष्ट कहा—आर्यों का मार्ग सम है। आर्य विषम स्थिति मे भी सम का आचरण करते है। मज्झिमनिकाय[38] मे राग-द्वेष, मोह के उपशमन को ही परम आर्य उपशमन माना है। सुत्तनिपात[39] मे कहा गया है—जिस प्रकार मै हूँ, वैसे ही ससार के सभी प्राणी ह। अत सभी प्राणियो को अपने सदृश समझकर आचरण करना चाहिये। बौद्धदर्शन मे माध्यस्थ वृत्ति पर जो बल दिया है, उसका मूल आधार भी समभाव ही है। इस प्रकार बौद्धधर्म मे यत्र-तत्र समत्व के उल्लेख प्राप्त है। इससे यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म मे भी समभाव को साधना का एक आवश्यक अग माना है। यह सत्य है कि उन्होने सामायिक का निरूपण नही किया, पर सामायिक का जो मूल समभाव है, उसका उल्लेख जरूर किया है।

वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे भी समत्वयोग की चर्चा यत्र-तत्र हुई ह। श्रीमद्भगवद्गीता वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। उसमे योग की चर्चा करते हुए समत्व को ही योग कहा है।[40] ज्ञान, कर्म, भक्ति, ध्यान आदि का उद्देश्य समत्व है। बिना समत्व के ज्ञान, अज्ञान है। जिसमे समत्व भाव है वही वस्तुत यथार्थ ज्ञानी है।[41] बिना समता के कर्म अकर्म नही बनता, समत्व के अभाव मे कर्म का बन्धकत्व बना रहेगा।[42] समत्व के अभाव मे भक्त भी सच्चा भक्त नही है। समत्व मे वह अपूर्व शक्ति है जिससे अज्ञान ज्ञान के रूप मे परिवर्तित हो जाता है और वह ज्ञान योग के रूप मे जाना जाता है। गीताकार की दृष्टि से स्वय परमात्मा/ब्रह्म सम है।[43] जो व्यक्ति समत्व मे अवस्थित रहता है, वह परमात्मभाव मे ही अवस्थित है।[44] नवम अध्याय मे श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को कहा—हे अर्जुन! मै सभी प्राणियो मे सम के रूप मे स्थित हूँ।[45] गीताकार की दृष्टि से समत्व का क्या अर्थ है? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए आचार्य शकर ने लिखा है—समत्व का अर्थ तुल्यता है, आत्मवत् दृष्टि है। जिस प्रकार सुख मुझे प्रिय है, दुख अप्रिय है, वैसे ही विश्व के सभी प्राणियो को सुख प्रिय / अनुकूल है, दुख प्रतिकूल/अप्रिय है। इस प्रकार जो विश्व के प्राणियो मे अपने ही सदृश सुख और दुख को अनुकूल और प्रतिकूल रूप मे देखता है, वह किसी के प्रति भी प्रतिकूल आचरण नही करता। वही समदर्शी है। सभी प्राणियो के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्व है।[46] समत्व योगी साधक

---

३६ सयुत्तनिकाय १।१।८

३७ सयुत्तनिकाय १।२।६

३८ मज्झिमनिकाय ३।४०।२

३९ सुत्तनिपात ३।३७।७

४० श्रीमद्भगवद्गीता २।४८

४१ श्रीमद्भगवद्गीता ५।१८

४२ श्रीमद्भगवद्गीता ४।२२

४३ (क) श्रीमद्भगवद्गीता ५।१९ (ख) गीता (शाकर भाष्य) ५।१८

४४ श्रीमद्भगवद्गीता ५।१९

४५ श्रीमद्गवद्गीता ९।१९

४६ श्रीमद्भगवद्गीता, शाकर भाष्य ६।३२

चाहे अनुकूल स्थिति हो, चाहे प्रतिकूल स्थिति हो, चाहे सम्मान मिलता हो, चाहे तिरस्कार प्राप्त होता हो, चाहे सिद्धि के सदर्शन होते हो, चाहे असिद्धि प्राप्त हो, तो भी उसका अन्तर्मानस उन सभी स्थितियो मे सम रहता है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा—जो सुख-दुख मे समभाव रखता है, जो इन्द्रियो के विषय-सुख मे आकुल-व्याकुल नही होता, वही मोक्ष/अमृतत्व का अधिकारी है।[४७] गीता के अठारहवे अध्याय मे श्रीकृष्ण ने बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे कहा—जो समत्व भाव मे स्थित होता है, वही मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर सकता है।[४८] इस प्रकार गीता मे समत्वयोग का स्वर यत्र-तत्र मुखरित हुआ है।

आज विश्व मे समत्वयोग के अभाव मे विषमता की काली घटाएँ मडरा रही है। जिससे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र परेशान है। समत्वयोग जीवन के विविध पक्षो मे इस प्रकार समन्वय स्थापित करता है जिससे न केवल व्यक्तिगत जीवन का सघर्ष समाप्त होता है, अपितु सामाजिक जीवन के सघर्ष भी नष्ट हो जाते है, यदि समाज और राष्ट्र के सभी सदस्यगण उसके लिये प्रयत्नशील हो। समत्वयोग से वैचारिक दुराग्रह समाप्त हो जाता है और स्नेह की सुर-सरिता प्रवाहित होने लगती है। जीवन के सभी सघर्ष समाप्त हो जाते है। वैचारिक जगत् के सघर्ष का मूल कारण आग्रह-दुराग्रह है। दुराग्रह के विष से मुक्त होने पर मनुष्य सत्य को सहज रूप से स्वीकार कर लेता है। समत्वयोगी साधक न वैचारिक दृष्टि से सकुचित होता है और न उसमे भोगासक्ति ही होती है। इसलिये उसका आचार निर्मल होता है और विचार उदात्त होते है। वह 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त मे विश्वास रखता है। इस प्रकार हम देखते है कि समत्वयोग के द्वारा गीताकार ने समभाव की साधना पर बल दिया है।

सामायिक आवश्यक मे न राग अपना राग आलापता है और न द्वेष अपनी जादूई बीन बजाता है। वीतराग और वितृष्ण बनने के लिये यह उपक्रम है। यह वह कीमिया है जो भेदविज्ञान की अगुली पकडकर समता की सुनहरी धरती पर साधक को स्थित करता है। यह साधना जीवन को सजाने और सवारने की साधना है।

चतुर्विंशतिस्तव

षडावश्यक मे दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। हमने पूर्व पक्तियो मे देखा कि सामायिक मे सावद्य योग से निवृत्त रहने का विधान किया गया है। सावद्य योग से निवृत्त रहकर साधक किसी न किसी आलम्बन का आश्रय अवश्य ग्रहण करता है, जिससे वह समभाव मे स्थिर रह सके। एतदर्थ ही सामायिक मे साधक तीर्थंकर देवो की स्तुति करता है।

चतुर्विंशतिस्तव भक्ति-साहित्य की एक विशिष्ट रचना है। उसमे भक्ति की भागीरथी प्रवाहित हो रही है। यदि साधक उस भागीरथी मे अवगाहन करे तो आनन्द-विभोर हुए विना नही रह सकता। तीर्थंकर त्याग और वैराग्य की दृष्टि से, सयमसाधना की दृष्टि से महान् है। उनके गुणो का उत्कीर्तन करने से साधक के अन्तर्हृदय मे आध्यात्मिक बल का सचार होता है। यदि किसी कारणवश श्रद्धा शिथिल हो जाये तो उसमे अभिनव स्फूर्ति का सचार होता है। उसके नेत्रो के सामने त्याग-वैराग्य की ज्वलन्त प्रतिकृति आती है, जिससे उसका अहकार बर्फ की तरह पिघल जाता है।

---

४७ गीता २।१५

४८ गीता १८।५४

स्मरण रखिये, ससार मे जो शुभतर परमाणु ह उनसे तीर्थकर का शरीर निर्मित होता ह, इसलिये रूप की दृष्टि से तीर्थकर महान् ह । ससार मे जितने भी प्राणी है, उन प्राणियो म तीर्थकर सबसे अधिक बली ह । उनके बल के सामने बडे-बडे वीर भी टिक नही पाते । तीर्थकर अवधिज्ञान के साथ जन्म लेते हैं । श्रमण-दीक्षा अगीकार करते ही उन्हे मन पर्यवज्ञान प्राप्त हो जाता है और उसके पश्चात् उनमे केवलज्ञान का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, अत ज्ञान की दृष्टि से तीर्थकर महान् हैं । दशन की दृष्टि से तीर्थकर क्षायिक सम्यक्त्व के धारक होते है । उनका चारित्र उत्तरोत्तर विकसित होता ह । उनके परिणाम सदा वर्द्धमान रहते ह । ज्ञान, दशन और चारित्र के साथ ही दान मे उनकी क्षमता कोई भी नही कर सकता । वे श्रमणधम मे प्रविष्ट होने के पूर्व एक वष तक प्रतिदिन एक करोड, आठ लाख स्वण मुद्राओ का दान देत ह । वे गुप्त ब्रह्मचारी होते हे । साधना काल मे देवागनाएँ भी अपने अद्भुत रूप से उनको आकर्षित नही कर पाती । तप के क्षेत्र मे भी तीर्थकर कीर्तिमान सस्थापित करते ह । वे तप-काल मे जल भी ग्रहण नही करते । भावना के क्षेत्र मे भी तीर्थकरो की भावना उत्तरोत्तर निमल और निमलतम होती जाती ह ।

इस प्रकार तीर्थकरो का जीवन विविध विशेषताओ का पावन प्रतिष्ठान है । एक काल मे एक स्थान पर अनेक अरिहन्त हो सकते ह, पर तीर्थकर एक ही होता है । प्रत्येक साधक प्रयत्न करने पर अरिहन्त बन सकता है, किन्तु तीर्थकर बनने के लिये एक नही अनेक भवो की साधना अपेक्षित हे । तीर्थकरत्व उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है । तीर्थकरो के गुणो का उत्कीतन करने से हृदय पवित्र होता है, वासनाएँ शान्त होती ह । जैसे तीव्र ज्वर के समय बफ की ठडी पट्टी लगाने से ज्वर शान्त हो जाता ह, उसी प्रकार जब जीवन मे वासना का ज्वर बेचैनी पैदा करता हो, उस समय तीर्थकरो का स्मरण बर्फ की पट्टी की तरह शान्ति प्रदान करता है । तीर्थकरो की स्तुति से सचित कम नष्ट हो जाते ह । जैसे एक नन्ही सी चिनगारी रुई के ढेर को भस्म कर देती हे वैसे ही तीर्थकरो की स्तुति से कर्म नष्ट हो जाते है ।

जब हम तीर्थकरो की स्तुति करते ह तो प्रत्येक तीर्थकर का एक उज्ज्वल आदश हमारे सामने रहता ह । भगवान् ऋषभदेव का स्मरण आते ही आदियुग का चित्र मानस-पटल पर चमकने लगता हे । वह सोचने लगता हे कि भगवान् ने इस मानव-सस्कृति का निर्माण किया । राज्यव्यवस्था का सचालन किया । मनुष्य को कला, सभ्यता और धम का पाठ पढाया । राजसी वैभव को छोडकर वे श्रमण बने । एक वर्ष तक भिक्षा न मिलने पर भी चेहरे पर वही आह्लाद अठखेलियाँ करता रहा । भगवान् शान्तिनाथ का जीवन शान्ति का महान् प्रतीक हे । भगवती मल्ली का जीवन नारी-जीवन का एक ज्वलन्त आदर्श हे । भगवान् अरिष्टनेमि करुणा के साक्षात् अवतार ह । पशु-पक्षियो की प्राण-रक्षा के लिये वे सर्वागसुन्दरी राजीमती का भी परित्याग कर देते हे । भगवान् पार्श्व का स्मरण आते ही उस युग की तप-परम्परा का एक रूप सामने आता है, जिसमे ज्ञान की ज्योति नही है, अन्तर्मानस मे कषायो की ज्वालाएँ धधक रही है तो बाहर भी पचाग्नि की ज्वालाएँ सुलग रही ह । वे उन ज्वालाओ मे से जलते हुए नाग को बचाते हे । कमठ के द्वारा भयकर यातना देने पर भी उनके मन मे रोष पैदा नही हुआ और धरणेन्द्र पद्मावती के द्वारा स्तुति करने पर भी मन मे प्रसन्नता नही हुई । यह है उनका वीतरागी रूप । भगवान् महावीर का जीवन महान् क्रान्तिकारी जीवन हे । अनेक लोमहर्षक उपसर्गो से भी वे तनिक मात्र भी विचलित नही होते । आर्यो और अनार्यो के द्वारा, देवो और दानवो के द्वारा, पशु-पक्षियो के द्वारा दिये गये उपसर्गो मे वे मेरु की तरह अविचल रहते हैं । जाति-पाति का खण्डन कर वे गुणो की महत्ता पर बल देते ह । नारी-जाति को प्रतिष्ठा प्रदान करते हे ।

इस प्रकार तीर्थंकरो की स्तुति मानव मे अपने पौरुष को जागृत करने की प्रेरणा देती है। आत्मा ही परमात्मा है। कर्मबद्ध जीव है तो कर्ममुक्त शिव है। एक दिन तीर्थंकर की आत्मा भी हमारी तरह ही भोगवासना के दलदल मे फँसी थी। पर ज्यो ही उसने अपने स्वरूप को समझा त्यो ही वे उसे त्याग कर नर से नारायण बन गए। आत्मा से परमात्मा बन गए। यदि मै भी तीर्थंकर की तरह प्रयत्न करू तो मै उनके समान बन सकता हूँ। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि तुम मेरी भक्ति करो मे तुम्हे सभी पापो से मुक्त कर दूगा।[४६] श्रमण भगवान् महावीर ने भी कहा—मै भय से रक्षा करने वाला हूँ।[५०] तथागत बुद्ध ने कहा—जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।[५१] तथापि यह स्पष्ट है कि जैन और बौद्ध इन दोनो विचार-धाराओ के अनुसार व्यक्ति अपने ही पुरुषार्थ से उत्थान के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ होता है और अपने ही कुप्रयत्न से पतन के महागर्त मे गिरता है। स्वय पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न कर प्रभु के सहारे मुक्त होने की कल्पना को जैन धर्म मे स्थान नही दिया है। उसने इस प्रकार की विवेकशून्य प्रार्थना को उचित नही माना है। उसका यह स्पष्ट अभिमत रहा है कि इस प्रकार की प्रार्थनाएँ मानव को दीन-हीन और परापेक्षी बनाती है। जो साधक स्वय पुरुषार्थ नही करता, उस साधक को केवल तीर्थंकरो की स्तुति मुक्ति प्रदान नही कर सकती। व्यक्ति का पुरुषार्थ ही उसे मुक्ति-महल की ओर बढा सकता है।

तीर्थंकर तो साधनामार्ग के आलोक-स्तम्भ है। आलोक-स्तम्भ जहाज का पथ प्रदर्शन करता है, पर चलने का कार्य तो जहाज का ही है। वैसे ही साधना की ओर प्रगति करना साधक का कार्य है। जैन दृष्टि से भक्ति का लक्ष्य अपने-आप का साक्षात्कार है। अपने मे रही हुई शक्ति की अभिव्यक्ति करना है। साधक के अन्तर्मानस मे जिस प्रकार की श्रद्धा / भावना बलवती होगी, उसी प्रकार का उसका जीवन बनेगा। इसीलिये गीताकार ने कहा—'श्रद्धामयोऽय पुरुष यो यच्छ्रद्ध स एव स।'[५२] जिस घर मे गरुड पक्षी का निवास हो, उस घर मे साँप नही रह सकता। साँप गरुड की प्रतिच्छाया से भाग जाते है। जिनके हृदय मे तीर्थंकरो की स्तुतिरूपी गरुड आसीन है, वहाँ पर पापरूपी साँप नही रह पाते। तीर्थंकरो का पावन स्मरण ही पाप को नष्ट कर देता है। एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! चतुर्विशतिस्तव करने से किस सद्गुण की उपलब्धि होती है? भगवान् महावीर ने समाधान करते हुए कहा—चतुर्विशतिस्तव करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। चतुर्विशतिस्तव से अनेक लाभ है। उससे श्रद्धा परिमार्जित होती है, सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपसर्ग और परीषहो को समभाव से सहन करने की शक्ति विकसित होती है और तीर्थंकर बनने की पवित्र प्रेरणा मन मे उद्बुद्ध होती है। इसलिये षडावश्यको मे तीर्थंकरस्तुति या चतुर्विशतिस्तव को स्थान दिया गया है।

वन्दन

साधनाक्षेत्र मे तीर्थंकर के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का है। तीर्थंकर देव है। देव के पश्चात् गुरु को नमन किया जाता है। उनका स्तवन और अभिवादन किया जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति मे ही वन्दन मे अर्थ मे चितिकर्म, पूजाकर्म आदि पर्यायवची शब्द व्यवहृत हुए है। साधक मन, वचन और शरीर से सद्गुण के प्रति सर्वात्मना समर्पित होता है। जो सद्गुणी है, उन्ही के चरणो मे वह नत होता है। जीवन मे विनय आवश्यक है।

---

४९ गीता १८।६६

५० सूत्रकृताग १।१६

५१ (क) मज्झिमनिकाय (ख) इतिवुत्तक ३।४३

५२ श्रीमद्भगवद्गीता १७।३

जैन आगमो मे विनय को धर्म का मूल कहा है। आगमसाहित्य मे विनय के सम्बन्ध मे विस्तार से विवेचना है, तथापि यह सत्य है कि जैनधर्म वैनयिक नही है। भगवान् महावीर के युग मे एक ऐसा पन्थ था जिसके अनुयायी पशु-पक्षी आदि जो भी मार्ग मे मिल जाता, उसे वे नमस्कार करते थे। भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा—मानव! तेरा मस्तिष्क ऐरे-गैरे के चरणो मे झुकने के लिये नही है। नम्र होना अलग बात है, पर हर एक व्यक्ति को परमादरणीय समझकर नमस्कार करना अलग बात है। जैनधर्म मे सद्गुणो की उपासना की गई है। उसका सिर सद्गुणियो के चरणो मे नत होता है। सद्गुणो को नमन करने का अर्थ है, सद्गुणो को अपनाना। यदि साधक असयमी पतित व्यक्ति को नमस्कार करता है, जिसके जीवन मे दुराचार पनप रहा हो, वासनाए उभर रही हो, राग-द्वेष की ज्वालाए धधक रही हो, उस व्यक्ति को नमन करने का अर्थ है—उन दुर्गुणो को प्रोत्साहन देना। आचार्य भद्रबाहु[५३] ने आवश्यकनिर्युक्ति मे बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि ऐसे गुणहीन व्यक्तियो को नमस्कार नही करना चाहिये, क्योकि गुणो से रहित व्यक्ति अवन्दनीय होते है। अवन्दनीय व्यक्तियो को नमस्कार करने से कर्मो की निजरा नही होती और न कीर्ति ही बढती है। असयम और दुराचार का अनुमोदन करने से नये कर्म बधते है। अत उनको वन्दन व्यर्थ है। एक अवन्दनीय व्यक्ति जो जानता है कि मेरा जीवन दुर्गुणो का आगार है, यदि वह सद्गुणी व्यक्तियो से नमस्कार ग्रहण करता है तो वह अपने जीवन को दूषित करता है। असयम की वृद्धि कर अपना ही पतन करता है।[५४]

जैनधर्म की दृष्टि से साधक मे द्रव्य-चारित्र और भाव-चारित्र—ये दोनो आवश्यक है। यदि द्रव्य-चारित्र नही है, केवल भाव-चारित्र ही है, तो वह प्रशसनीय नही है। क्योकि सामान्य साधको के लिये उसका पवित्र चरित्र ही पथ-प्रदर्शक होता है। केवल द्रव्य-चारित्र ही है, और भाव-चारित्र का अभाव है तो भी वह श्लाघनीय नही है। वह तो केवल दिखावा है। साधक को ऐसे ही गुरु की आवश्यकता है—जिसके द्रव्य और भाव दोनो ही चारित्र निर्मल हो, व्यवहार और निश्चय दोनो ही दृष्टियो से जिसके जीवन मे पूर्णता हो, वही सद्गुरु वन्दनीय और अभिनन्दनीय होता है। ऐसे सद्गुरु से साधक पवित्र प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। वन्दन आवश्यक मे ऐसे ही सद्गुरु को नमन करने का विधान है।

वन्दन करने से अहकार नष्ट होता है, विनय की उपलब्धि होती है। सद्गुरुओ के प्रति अनन्य श्रद्धा व्यक्त होती है। तीर्थकरो की आज्ञा का पालन करने से शुद्ध धर्म की आराधना होती है। अत साधक को सतत जागरूक रहकर वन्दन करना चाहिये। वन्दन करने मे किंचिन्मात्र भी उपेक्षा नही रखनी चाहिये। जब साधक के अन्तर्मानस मे भक्ति का स्रोत प्रवाहित होता है, तब सहसा वह सद्गुरुओ के चरणो मे झुक जाता है। जिस वन्दन मे भक्ति की प्रधानता नही, केवल भय, प्रलोभन, प्रतिष्ठा आदि भावनाए पनप रही हो, वह वन्दन केवल द्रव्य-वन्दन है, भाव-वन्दन नही। द्रव्य-वन्दन से कितनी ही बार कर्म-बन्धन भी हो जाता है। पवित्र और निर्मल भावना से किया गया वन्दन ही सही वन्दन है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—द्रव्य-वन्दन मिथ्यादृष्टि भी करता है किन्तु भाव-वन्दन सम्यग्दृष्टि ही करता है। मिथ्यादृष्टि की द्रव्य-वन्दन की क्रिया केवल यान्त्रिक प्रक्रिया है, उससे किसी भी प्रकार का आध्यात्मिक लाभ नही होता। वन्दन के लिये द्रव्य और भाव दोनो ही आवश्यक है।

---

५३ पासत्थाइ वदमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ।
कायकिलेस एमेव कुणई तह कम्मबध च॥
—आवश्यकनिर्युक्ति ११०८

५४ जे बभचेरभट्टा पाए उड्डति बभयारीण।
ते होति कुट मुटा बोही य सुदुल्लहा तेसि॥
—आवश्यकनिर्युक्ति ११०९

धम्मपद[५५] मे तथागत बुद्ध ने कहा—पुण्य की इच्छा मे जो व्यक्ति वर्ष भर मे यज्ञ और हवन करता हे, उस यज्ञ और हवन का फल पुण्यात्माओ के अभिवादन के फल का चतुर्थ भाग भी नही हे। अत सरल मानस वाले महात्माओ को नमन करना चाहिये। सदा वृद्धो की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुरुष की चार वस्तुए वृद्धि को प्राप्त होती ह—आयु, सौन्दर्य, सुख और बल।[५६] इस प्रकार बौद्धधर्म मे वन्दन को महत्त्व दिया है। वहाँ पर भी श्रमणजीवन की वरिष्ठता और कनिष्ठता के आधार पर वन्दन की परम्परा रही है।

वैदिक परम्परा मे भी वन्दन सद्गुणो की वृद्धि के लिये आवश्यक माना ह।[५७] श्रीमद्भागवत मे नवधा भक्ति का उल्लेख है।[५८] उस नवधा भक्ति मे वन्दन भी भक्ति का एक प्रकार बताया गया ह। श्रीमद्भगवद्-गीता[५९] के अठारहवे अध्याय मे "मा नमस्कुरु" कहकर श्रीकृष्ण ने वन्दन के लिये भक्तो को उत्प्रेरित किया है।

जैन मनीषियो ने वन्दन के सम्बन्ध मे बहुत ही विस्तार से और गहराई मे चिन्तन किया है। आचार्य भद्रबाहु[६०] ने वन्दन के ३२ दोष बताये ह। उन दोषो से बचने वाला साधक ही सही वन्दन कर सकता है। सक्षेप मे वे दोष इस प्रकार ह—

१ अनादृत २ स्तब्ध ३ प्रविद्ध ४ परिपिण्डित ५ टोलगति ६ अकुश ७ कच्छपरिगत ८ मत्स्योद्वृत्त ९ मनसाप्रद्विष्ट १० वेदिकाबद्ध ११ भय १२ भजमान १३ मैत्री १४ गौरव १५ कारण १६ स्तैन्य १७ प्रत्यनीक १८ रुष्ट १९ तर्जित २० शठ २१ हीलित २२ विपरिकुचित २३ दृष्टादृष्ट २४ शृग २५ कर २६ मोचन २७ आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट २८ ऊन २९ उत्तरचूडा ३० मूक ३१ ढड्ढर ३२ चुडली।

सार यह है कि वन्दन करते समय अन्तर्मानस मे किसी प्रकार की स्वार्थ भावना / आकाक्षा / भय या किसी के प्रति अनादर की भावना नही होनी चाहिये। जिनको हम वन्दन करे उनको हम योग्य सम्मान प्रदान करे। मन, वचन और काया तीनो ही वन्दनीय के चरणो मे नत हो।

प्रतिक्रमण

भारतवर्ष की सभी अध्यात्मवादी धर्म-परम्पराए आत्मसाधना की प्रबल प्रेरणा प्रदान करती हैं। आत्मा मे अनन्त काल से प्रमाद और असावधानी के कारण विकार और वासनाए अपना प्रभुत्व जमाए हुए ह। उन्हे हटाकर ईश्वरत्व को जगाना है। मानव मे जो पशुत्व वृत्ति है, वह स्वय उसकी नही अपितु बाहर से आई हुई है। साधक की आत्मा घनघोर घटाओ से घिरे हुए सूर्य के सदृश है। कर्मो की काली घटाओ के कारण आत्मा का परम तेज दिखाई नही दे रहा है। वह अपने-आप को दीन-हीन समझ रहा है। भूतकाल मे जो अज्ञान और

५५ धम्मपद, १०८
५६ धम्मपद, १०९
५७ मनुस्मृति, २।१२१
५८ श्रीमद्भागवत पुराण ७।५।२३
५९ श्रीमद्भगवद्गीता १८।६५
६० (क) आवश्यकनियुक्ति १२०७-१२११
(ख) प्रवचनसारोद्धार वन्दनाद्वार

प्रमाद के कारण भूले हुई है, उन भूलो का परिष्कार प्रतिक्रमण के द्वारा ही सम्भव है। पापरूपी रोग को नष्ट करने मे प्रतिक्रमण राम-बाण औषध के सदृश है।

प्रतिक्रमण जैन परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है पुन लौटना। हम अपनी मर्यादाओ का अतिक्रमण कर, अपनी स्वभाव-दशा मे निकलकर विभाव-दशा मे चले गये, अत पुन स्वभाव रूप सीमा मे प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से स्वय किये जाते हैं, दूसरो से करवाये जाते है और दूसरो के द्वारा किये हुए पापो का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापो की निवृत्ति हेतु, किये गये पापो की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—शुभ योगो मे से अशुभ योगो मे गये हुए अपने-आप को पुन शुभ योगो मे लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[61] आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यकवृत्ति मे यही कहा है।[62]

गृहीत नियमो और मर्यादा के अतिक्रमण से पुन लौटना ही प्रतिक्रमण है। साधना के क्षेत्र मे मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग—ये पाचो भयकर दोष है। साधक प्रात और सन्ध्या के सुहावने समय मे अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है, उस समय वह गहराई से चिन्तन करता है कि वह कही सम्यक्त्व के प्रशस्त पथ को छोडकर मिथ्यात्व की कटीली झाडियो मे तो नही उलझा है? व्रत के स्वरूप को विस्मृत कर अव्रत को तो ग्रहण नही किया है? अप्रमत्तता के नन्दनवन मे विहरण के स्थान पर प्रमाद की झुलसती मरुभूमि मे तो विचरण नही किया है? अकषाय के सुगन्धित सरसब्ज बाग को छोडकर, कषाय के धधकते हुए पथ पर तो नही चला है? मन, वचन, काया की प्रवृत्ति जो शुभ योग मे लगनी चाहिये थी वह अशुभ योग मे तो नही लगी? यदि मै मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग मे गया हूँ, तो मुझे पुन सम्यक्त्व, व्रत, अकषाय, अप्रमाद और शुभ योग मे आना चाहिये। इसी दृष्टि से प्रतिक्रमण किया जाता है।[63]

आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प्रभृति ग्रन्थो मे प्रतिक्रमण के सम्बन्ध मे बहुत विस्तार के साथ विचार-चर्चाए की गई है। उन्होने प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्द[64] भी दिए है, जो प्रतिक्रमण के विभिन्न अर्थो को व्यक्त करते है। यद्यपि आठो का भाव एक ही है किन्तु ये शब्द प्रतिक्रमण के सम्पूर्ण अर्थ को समझने मे सहायक है। वे इस प्रकार है—

१ प्रतिक्रमण[65]—इस शब्द मे "प्रति" उपसर्ग है और "क्रमु" धातु है। प्रति का तात्पर्य है—प्रतिकूल और क्रमु का तात्पर्य है—पदनिक्षेप। जिन प्रवृत्तियो से साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र

---

६१ प्रतीप क्रमण प्रतिक्रमणम्, अयमर्थ —शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तर क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीप क्रमणम्।
—योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, स्वोपज्ञवृत्ति

६२ स्वस्थानाद् यत्परस्थान, प्रमादस्य वशाद् गत।
तत्रैव क्रमण भूय प्रतिक्रमणमुच्यते॥

६३ (क) प्रति प्रतिवर्तन वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
नि शल्यस्य यतेर्यत्, तद्वा ज्ञेय प्रतिक्रमणम्॥
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५०

६४ पडिकमण पडियरणा, परिहरणा वारणा नियत्ती य।
निन्दा गरिहा सोही, पडिकमण अट्ठहा होइ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति १२३३

६५ पडिक्कमण पुनरावृत्ति। —आवश्यकचूर्णि

रूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम रूप पर स्थान मे चला गया हो, उसका पुन अपने-आप मे लौट आना प्रतिक्रमण या पुनरावृत्ति है।

२ प्रतिचरणा[६६]—असयम क्षेत्र से अलग-थलग रहकर अत्यन्त सावधान होकर विशुद्धता के साथ सयम का पालन करना प्रतिचरणा है, अर्थात् सयम-साधना मे अग्रसर होना प्रतिचरणा है।

३ प्रतिहरणा—साधक को साधना के पथ पर मुस्तैदी से अपने कदम बढाते समय उसके पथ मे अनेक प्रकार की बाधाए आती है। कभी असयम का आकर्षण उसे साधना से विचलित करना चाहता है तो कभी अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिया उत्पन्न होती है। यदि साधक परिहरणा (प्रतिहरणा) न रखे तो वह पथभ्रष्ट हो सकता है। इसलिये वह प्रतिपल-प्रतिक्षण अशुभ योग, दुर्ध्यान और दुराचरणो का त्याग करता है। यही परिहरणा है।

४ वारणा—वारणा का अर्थ निषेध (रोकना) है। साधक विषय, कषायो से अपने आपको रोककर सयम-साधना करते हुए ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिये विषय-कषायो से निवृत्त होने के लिये प्रतिक्रमण अर्थ मे वारणा शब्द का प्रयोग हुआ है।

५ निवृत्ति[६७]—जैन साधना मे निवृत्ति का अत्यन्त महत्त्व रहा है। सतत सावधान रहने पर भी कभी प्रमाद के वश अशुभ योगो मे उसकी प्रवृत्ति हो जाये तो उसे शीघ्र ही शुभ मे आना चाहिये। अशुभ से निवृत्त होने के लिये ही यहाँ प्रतिक्रमण का पर्यायवाची शब्द निवृत्ति आया है।

६ निन्दा—साधक अन्तर्निरीक्षण करता रहता है। उसके जीवन मे जो भी पापयुक्त प्रवृत्ति हुई हो, शुद्ध हृदय से उसे उन पापो की निन्दा करनी चाहिये। स्वनिन्दा जीवन को माँजने के लिए है। उससे पापो के प्रति मन मे ग्लानि पैदा होती है और साधक यह दृढ निश्चय करता है कि जो पाप मैने असावधानी से किये थे, वे अब भविष्य मे नही करूगा। इस प्रकार पापो की निन्दा करने के लिये प्रतिक्रमण के अर्थ मे निन्दा शब्द का व्यवहार हुआ है।

७ गर्हा—निन्दा अपने-आपकी की जाती है, उसके लिए साक्षी की आवश्यकता नही होती और गर्हा गुरुजनो के समक्ष की जाती है। गुरुओ के समक्ष नि शल्य होकर अपने पापो को प्रकट कर देना बहुत ही कठिन कार्य है। जिस साधक मे आत्मबल नही होता, वह गर्हा नही कर सकता। गर्हा मे पापो के प्रति तीव्र पश्चात्ताप होता है। गर्हा पापरूपी विष को उतारने वाला गारुडी मन्त्र, है जिसके प्रयोग से साधक पाप से मुक्त हो जाता है। इसीलिये गर्हा को प्रतिक्रमण का पर्यायवाची कहा है।

८ शुद्धि—शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। जैसे बर्तन पर लगे हुए दाग को खटाई से साफ किया जाता है, सोने पर लगे हुए मैल को तपा कर शुद्ध किया जाता है, ऊनी वस्त्र के मैल को पेट्रोल से साफ किया जाता है, वैसे ही हृदय के मैल को प्रतिक्रमण द्वारा शुद्ध किया जाता है। इसीलिये उसे शुद्धि कहा है।

आचार्य भद्रबाहु ने साधक को उत्प्रेरित किया है कि वह प्रतिक्रमण मे प्रमुख रूप से चार विषयो पर गहराई से अनुचिन्तन करे। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण के चार भेद बनते है।[६८]

---

६६ अत्यादरात् चरणा पडिचरणा अकार्यपरिहार कार्यप्रवृत्तिश्च। —आवश्यकचूर्णि

६७ असुभभाव-नियत्तण नियत्ती। —आवश्यकचूर्णि

६८ पडिसिद्धाण करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमण।
अमद्दहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए अ॥ —आवश्यकनियुक्ति, गाथा १२६८

१ श्रमण और श्रावक के लिये क्रमश महाव्रतो और अणुव्रतो का विधान है। उनमे दोष न लगे, इसके लिये सतत सावधानी आवश्यक है। यद्यपि श्रमण और श्रावक सतत सावधान रहता है, तथापि कभी-कभी असावधानीवश अहिसा, सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह मे स्खलना हो गई हो तो श्रमण और श्रावक को उसकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये।

२ श्रमण और श्रावको के लिये एक आचारसहिता आगमसाहित्य मे निरूपित है। श्रमण के लिये स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि अनेक विधान है तो श्रावक के लिये भी दैनदिन साधना का विधान है। यदि उन विधानो की पालना मे स्खलना हो जाये तो उस सम्बन्ध मे प्रतिक्रमण करना चाहिये। कर्त्तव्य के प्रति जरा सी असावधानी भी ठीक नही है।

३ आत्मा आदि अमूर्त्त पदार्थो को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना बहुत कठिन है। वह तो आगम आदि प्रमाणो के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। उन अमूर्त्त तत्त्वो के सम्बन्ध मे मन मे यह सोचना कि आत्मा है या नही ? यदि इस प्रकार मन मे अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिये साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिये।

४ हिंसा आदि दुष्कृत्य, जिनका महर्षियो ने निषेध किया है, साधक उन दुष्कृत्यो का प्रतिपादन न करे। यदि असावधानीवश कभी प्रतिपादन कर दिया हो तो शुद्धि करे।

अनुयोगद्वार सूत्र मे प्रतिक्रमण के दो प्रकार बताये गये है—द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। द्रव्य-प्रतिक्रमण मे साधक एक स्थान पर अवस्थित होकर विना उपयोग के यशप्राप्ति की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करता है। यह प्रतिक्रमण यत्र की तरह चलता है, उसमे चिन्तन का अभाव होता है। पापो के प्रति मन मे ग्लानि नही होती। वह पुन -पुन उन स्खलनाओ को करता रहता है। वास्तविक दृष्टि से जैसी शुद्धि होनी चाहिये, वह उस प्रतिक्रमण से नही हो पाती। भावप्रतिक्रमण वह है, जिसमे साधक के अन्तर्मानस मे पापो के प्रति तीव्र ग्लानि होती है। वह सोचता है, मैने इस प्रकार स्खलनाए क्यो की ? वह दृढ निश्चय के साथ उपयोगपूर्वक उन पापो की आलोचना करता है। भविष्य मे वे दोष पुन न लगे, इसके लिये दृढ सकल्प करता है। इस प्रकार भावप्रतिक्रमण वास्तविक प्रतिक्रमण है। भावप्रतिक्रमण मे साधक न स्वय मिथ्यात्व आदि दुर्भावो मे गमन करता है और न दूसरो को गमन करने के लिये उत्प्रेरित करता है और न दुर्भावो मे गमन करने का अनुमोदन करता है।[६९]

साधारणतया यह समझा जाता है कि प्रतिक्रमण अतीतकाल मे लगे हुए दोषो की परिशुद्धि के लिए है। पर आचार्य भद्रबाहु[७०] ने बताया कि प्रतिक्रमण केवल अतीतकाल मे लगे दोषो की ही परिशुद्धि नही करता अपितु वह वर्तमान और भविष्य के दोषो की भी शुद्धि करता है। अतीतकाल मे लगे हुए दोषो की शुद्धि तो आलोचना प्रतिक्रमण मे की ही जाती है, वर्तमान मे भी साधक सवर साधना मे लगा रहने से पापो से निवृत्त

६९ मिच्छत्ताइ ण गच्छइ ण य गच्छावेइ णाणुजाणेइ।
ज मण-वय-काएहि त भणिय भावपडिक्कमण ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति (हा भ वृ)

७० (क) आवश्यकनिर्युक्ति

(ख) प्रतिक्रमणशब्दो हि अत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्राय सामान्यत परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषय प्रतिक्रमण निन्दाद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति, प्रत्युत्पन्नविषयमपि सवरद्वारेण अशुभयोग-निवृत्तिरेव अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति। —आचार्य हरिभद्र

हो जाता है। साथ ही प्रतिक्रमण मे वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता ह, जिससे भावी दोषो से भी वच जाता हे। भूतकाल के अशुभ योग से निवत्ति, वर्तमान मे शुभ योग मे प्रवृत्ति और भविष्य मे भी शुभ योग मे प्रवृत्ति करू गा, इस प्रकार वह सकल्प करता है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पाच प्रकार भी वताये ह। १ दैवसिक, २ रात्रिक, ३ पाक्षिक, ४ चातुर्मासिक ग्रार ५ सावत्सरिक।

१ दैवसिक—दिन के अन्त मे किया जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

२ रात्रिक—रात्रि मे जो भी दोप लगे हो—उनकी रात्रि के अन्त मे निवृत्ति करना।

३ पाक्षिक—पन्द्रह दिन के अन्त मे अमावस्या और पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष मे आचरित पापो का विचार कर प्रतिक्रमण करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

४ चातुर्मासिक—चार माह के पश्चात् कीर्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा और आपाढी पूर्णिमा के दिन चार महीने मे लगे हुए दोषो की आलोचना कर प्रतिक्रमण करना चातुर्मासिक है।

सावत्सरिक—आषाटी पूर्णिमा के उनपचास या पचासवे दिन वर्ष भर मे लगे हुए दोषो का प्रतिक्रमण करना।

यहाँ पर यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि जब साधक प्रतिदिन प्रात-साय नियमित प्रतिक्रमण करता ह, फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक ओर सावत्सरिक प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है? समाधान हे—प्रतिदिन मकान की सफाई की जाती हे तथापि पव दिनो मे विशेप सफाई की जाती हे, वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण मे अतिचारो की आलोचना की जाती है, पर पव दिनो मे विशेप रूप से जागरूक रहकर जीवन का निरीक्षण, परीक्षण और पाप का प्रक्षालन किया जाता है।

स्थानाग[७१] मे प्रतिक्रमण के छह प्रकार अन्य दृष्टियो से प्रतिपादित है। वे इस प्रकार ह—

१ उच्चारप्रतिक्रमण—विवेकपूर्वक पुरीपत्याग, मल परठ कर आने के समय मार्ग मे गमनागमन सम्बन्धी जो दोप लगते ह, उनका प्रतिक्रमण।

२ प्रस्रवणप्रतिक्रमण—विवेकपूवक मूत्र को परठने के पश्चात् ईर्या का प्रतिक्रमण।

३ इत्वरप्रतिक्रमण—दैवसिक, रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना।

४ यावत्कथिकप्रतिक्रमण—महाव्रत आदि जो यावत्काल के लिये ग्रहण किये जाते हे अर्थात् सम्पूर्ण जीवन के लिये पाप से निवृत्त होने का जो सकल्प किया जाता है, वह यावत्कथिकप्रतिक्रमण हे।

५ यत्किचित्-मिथ्याप्रतिक्रमण—सावधानीपूर्वक जीवनयापन करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी मे किसी भी प्रकार असयमरूप आचरण हो जाने पर उसी क्षण उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके प्रति पश्चात्ताप करना।

६ स्वप्नान्तिकप्रतिक्रमण—स्वप्न मे कोई विकार-वासना-रूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध मे पश्चात्ताप करना।

७१ स्थानाग ६।५३७

ये जो छह प्रकार प्रतिक्रमण के प्रतिपादित किये गये हैं, इनका मुख्य सम्बन्ध श्रमण की जीवनचर्या से है।

सक्षेप मे जिनका प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, उनका सक्षेप मे वर्गीकरण इस प्रकार हो जाता है— २५ मिथ्यात्व, १४ ज्ञानातिचार और अठारह पापस्थानो का प्रतिक्रमण सभी साधको के लिये आवश्यक है। दूसरी बात पच महाव्रत, मन, वाणी, शरीर का असयम, गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप एव मल-मूत्र-विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषो का प्रतिक्रमण भी श्रमण साधका के लिये आवश्यक है। पच अणुव्रतो, तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो मे लगने वाले अतिचारो का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों के लिये आवश्यक है। जिन साधको ने सलेखना व्रत ग्रहण कर रखा हो, उनके लिये सलेखना के पाच अतिचारो का प्रतिक्रमण आवश्यक है।

प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राणतत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नही जिसमे प्रमादवश स्खलना न हो सके। चाहे लघुशका से निवृत्त होते समय, चाहे शोचनिवृत्ति करते समय, चाहे प्रतिलेखना करते समय, चाहे भिक्षा के लिये इधर-उधर जाते समय साधक को उन स्खलनाओ के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिये। उन स्खलनाओ के सम्बन्ध मे किंचिन्मात्र भी उपेक्षा न रखकर उन दोपो से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये। क्योंकि प्रतिक्रमण जीवन को माजने की एक अपूर्व क्रिया है।

साधक प्रतिक्रमण मे अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है, उसके मन मे, वचन मे, काया मे एकरूपता होती है। साधक साधना करते समय कभी क्रोध, मान, माया, लोभ से साधनाच्युत हो जाता है, उससे भूल हो जाती है तो वह प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का गहराई से अवलोकन कर एक-एक दोप का परिष्कार करता है। यदि मन मे छिपे हुए दोप को लज्जा के कारण प्रकट नही कर सका, उन दोपो को भी सद्गुरु के समक्ष या भगवान् की साक्षी से प्रकट कर देता है। जैसे कुशल चिकित्सक परीक्षण करता है, और शरीर मे रही हुई व्याधि को एक्स-रे आदि के द्वारा बता देता है, वैसे ही प्रतिक्रमण मे साधक प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए, उन दोपो को व्यक्त कर हल्का बनता है।

प्रतिक्रमण साधक-जीवन की एक अपूव क्रिया है। यह वह डायरी है जिसमे साधक अपने दोपो की सूची लिखकर एक-एक दोप से मुक्त होने का उपक्रम करता है। वही कुशल व्यापारी कहलाता है, जो प्रतिदिन सायकाल देखता है कि आज के दिन मैने कितना लाभ प्राप्त किया है? जिस व्यापारी को अपनी आमदनी का ज्ञान नही है, वह सफल व्यापारी नही हो सकता। साधक को देखना चाहिये कि आज के दिन ऐसा कौन सा कर्त्तव्य था जो मुझे करना चाहिये था, किन्तु प्रमाद के कारण मै उसे नही कर सका? मुझे अपने कर्त्तव्य से विमुख नही होना चाहिये था। इस प्रकार वह अपनी भूलो को स्मरण करता है। भूलो का स्मरण करने से उसे अपनी सही स्थिति का परिज्ञान हो जाता है। जब तक भूलो का स्मरण नही होगा, भूलो को भूल नही समझा जाएगा, तब तक उनका परिष्कार हो नही सकता। साधक अनेक बार अपनी भूलो को भूल न मानकर उन्हे सही मानता है पर वस्तुत वह उसकी भूले ही होती है। कितने ही व्यक्ति भूल को भूल समझते हुए भी उसे स्वीकार नही करते। पर जब साधक अन्तर्निरीक्षण करता है तो उसे अपनी भूल का परिज्ञान होता है। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध विचारक फ्रेकलिन ने अपने जीवन को डायरी के माध्यम से सुधारा था। उसके जीवन मे अनेक दुर्गुण थे। वह अपने दुर्गुणो को डायरी मे लिखा करता था और फिर गहराई मे उनका चिन्तन करता था कि इस सप्ताह मे मैने कितनी भूले की है। अगले सप्ताह मे इन भूलो की पुनरावृत्ति नही करूगा। इस प्रकार डायरी के द्वारा उसने जीवन के दुर्गुणो को धीरे-धीरे निकाल दिया था और एक महान् सद्गुणी चिन्तक बन गया था।

प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ उपक्रम है, आध्यात्मिक जीवन की धुरी है। आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि मे सभी दोष जल कर नष्ट हो जाते है। पापाचरण शल्य के सदृश है। यदि उसे बाहर नही निकाला गया, मन मे ही छिपा कर रखा गया तो उसका विष अन्दर ही अन्दर बढता चला जायेगा और वह विष साधक के जीवन को बर्बाद कर देगा।

मानव की एक बडी कमजोरी यह है कि वह अपने सद्गुणो को तो सदा स्मरण रखता है किन्तु दुर्गुणो को भूल जाता है। साथ ही वह अन्य व्यक्तियो के सद्गुणो को भूलकर उनके दुर्गुणो को स्मरण रखता है। यही कारण है कि वह यदा कदा अपने सदगुणो की सूची प्रस्तुत करता है और दूसरो के दुगुणो की गाथाए गाता हुआ नही अघाता। जब कि साधक को दूसरो के सद्गुण और अपने दुगुण देखने चाहिये। प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्दो मे निन्दा और गर्हा शब्द प्रयुक्त हुए है। दूसरो की निन्दा से कर्म-बन्धन होता है और स्वनिन्दा से कर्मो की निजरा होती है। जब साधक अपने जीवन का निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन मे हजारो दुर्गुण दिखाई देते है। उन दुर्गुणो को वह धीरे-धीरे निकालने का प्रयास करता है। साधक के जीवन की यह विशेषता है कि वह गुणग्राही होता है। उसकी दृष्टि हस-दृष्टि होती है। वह हस की तरह सद्गुणो के पथ को ग्रहण करता है, मुक्ताओ को चुगता है। वह काक की तरह विष्ठा पर मुँह नही रखता।

बौद्धधर्म मे प्रवारणा

जैनधर्म मे व्यवस्थित रूप से निशान्त और दिवसान्त मे जिस प्रकार साधको के लिये प्रतिक्रमण करने का विधान है, उसी प्रकार पाप से मुक्त होने के विधान अन्य परम्पराओ मे भी पाये जाते है। बौद्धधर्म मे प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग नही हुआ है पर उसके स्थान पर प्रतिकम, प्रवारणा और पापदेशना प्रभृति शब्दो का प्रयोग हुआ। उदान मे तथागत बुद्ध ने कहा—जीवन की निर्मलता एव दिव्यता के लिये पापदेशना आवश्यक है। पाप के आचरण की आलोचना करने से व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है।[७२] खुला हुआ पाप चिपकता नही। बौद्धधर्म मे प्रवारणा का अत्यधिक महत्त्व रहा है। वर्षावास के पश्चात् भिक्षुसघ एकत्रित होता और अपने कृत अपराधो / दोषो के सम्बन्ध मे गहराई से निरीक्षण करता कि हमारे जीवन मे प्रस्तुत वर्षावास मे क्या-क्या दोष लगे है? यह प्रवारणा है। इसमे दृष्ट, श्रुत, परिशकित अपराधो का परिमार्जन किया जाता। जिससे परस्पर विनय का अनुमोदन होता।[७३] प्रवारणा की विधि इस प्रकार थी—प्रमुख भिक्षु सघ को यह सूचित करता कि आज प्रवारणा है। सर्वप्रथम स्थविर भिक्षु उत्तरासघ को अपने कधे पर रखकर कुक्कुट आसन से बैठता। हाथ जोडकर सघ से यह निवेदन करता कि मै दृष्ट, श्रुत, परिशकित अपराधो की आपके सामने प्रवारणा कर रहा हू। सघ मेरे अपराधो को बताये, मै उनका स्पष्टीकरण करूगा। वह इस बात को तीन बार दोहराता है। उसके बाद उससे छोटा भिक्षु और फिर क्रमश सभी भिक्षु दोहराते है अपने पापो को। इस प्रकार प्रवारणा से पाक्षिक शुद्धि की जाती है। प्रवारणा चतुर्दशी और पूर्णिमा को की जाती। पहले कम से कम पाच भिक्षु प्रवारणा मे आवश्यक माने जाते थे। उसके बाद चार, तीन, दो और अन्त मे एक भिक्षु भी प्रवारणा कर सकता है—यह अनुमति दी गई। विशेष स्थिति मे प्रवारणा बहुत ही सक्षेप मे और अन्य समय मे भी की जा सकती थी।

७२ उदान ५/५ अनुवादक—जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ

७३ अनुजानामि भिक्खवे, वस्स, वुट्ठान, भिक्खून तीहि ठानेहि पवारेतु दिट्ठेन वा सुतेन वा परिसकाय वा। सा वो भविस्सति अञ्ञमञ्ञानुलोमता आपत्तिवुट्ठानता विनयपुरेक्खा रता। —महावग्ग, पृ० १६७

बोधिचर्यावतार[७४] नामक ग्रन्थ मे आचार्य शान्तिदेव ने लिखा है—रात्रि मे तीन बार और दिन मे तीन बार त्रिस्कन्ध, पापदेशना-पुण्यानुमोदना और बोधिपरिणामना की आवृत्ति करनी चाहिये, जिससे अनजान मे हुई स्खलनाओ का शमन हो जाता है। आचार्य शान्तिदेव ने ही पापदेशना के प्रकृतिसावद्य और प्रज्ञप्तिसावद्य—ये दो प्रकार बताये है। प्रकृतिसावद्य वह है, जो स्वभाव मे ही निन्दनीय है—जैसे हिंसा, असत्य, चोरी आदि और प्रज्ञप्तिसावद्य है—व्रत ग्रहण करने के पश्चात् उसका भग करना—जैसे विकाल भोजन, परिग्रह आदि। बोधिचर्यावतार मे आचार्य शान्तिदेव लिखते है—जो भी प्रकृतिसावद्य और प्रज्ञप्तिसावद्य पाप मुझ अबोध मूढ ने कमाये है, उन सब की देशना दुःख से घबराकर मै प्रभु के सामने हाथ जोडकर बारम्बार प्रणाम करता हू। हे नायको! अपराध को अपराध के रूप मे ग्रहण करे। मै यह पाप फिर नही करूगा। बौद्ध प्रवारणा, जैसा कि हमने पूर्व पक्तियो मे लिखा है, एकाकी नही होती। वह तो सघ के सान्निध्य मे ही होती है। इस प्रवारणा मे जो ज्येष्ठ भिक्षु आचारसहिता का पाठ करता है और प्रत्येक नियम के पढने के पश्चात् उपस्थित भिक्षुओ से वह इस बात की अपेक्षा करता है कि यदि किसी ने नियम का भग किया है तो वह सघ के समक्ष उसे प्रकट कर दे। जैन परम्परा मे गुरु के समक्ष या गीतार्थ के समक्ष पापो की आलोचना करने का विधान है। पर सघ के समक्ष पाप को प्रकट करने की परम्परा नही है। सघ के समक्ष पाप को प्रकट करने से अगीतार्थ व्यक्ति उसका दुरुपयोग भी कर सकते है। उससे निन्दा की स्थिति भी बन सकती है। इसलिये जैनधर्म ने गीतार्थ के सामने आलोचना का विधान किया। सघ के समक्ष जो प्रवारणा है, उसकी तुलना वर्तमान मे प्रचलित सामूहिक प्रतिक्रमण के साथ की जा सकती है।

प्रतिक्रमण और सध्या

वैदिक परम्परा मे प्रतिक्रमण की तरह सध्या का विधान है। यह एक धार्मिक अनुष्ठान है जो प्रात और साय काल दोनो समय किया जाता है। सध्या का अर्थ है—सम्—उत्तम प्रकार से ध्यै—ध्यान करना। अपने इष्टदेव का भक्ति-भावना से विभोर होकर श्रद्धा के साथ ध्यान करना, चिन्तन करना। सध्या का दूसरा अर्थ है—मिलन/सयोग/सम्बन्ध। उपासना के समय उपासक का परमेश्वर के साथ सयोग या सम्बन्ध होना। तीसरा अर्थ है—रात्रि और दिन की सन्धि-वेला मे जो धार्मिक अनुष्ठान किये जाते है, वह सन्ध्या है। इस सध्या मे विष्णुमत्र के द्वारा शरीर पर जल छिटक कर शरीर को पवित्र बनाने का उपक्रम किया जाता है। पृथ्वी माता की स्तुति से अभिमन्त्रित कर आसन पर जल छिटक कर उसे पवित्र किया जाता है। उसके बाद सृष्टि के उत्पत्तिक्रम पर विचार होता है, फिर प्राणायाम का चक्र चलता है। अग्नि, वायु, आदित्य, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्व देवताओ की महिमा और गरिमा गाई गई है। सप्तव्याहृति इन्ही देवो के लिये होती है। वैदिक महर्षियो ने जल की सस्तुति बहुत ही भावना के साथ की है। उन्होने कहा—हे जल! आप जीव मात्र के मध्य मे विचरते हो, ब्रह्माण्ड रूपी गुहा मे सब ओर आपकी गति है। तुम्ही यज्ञ हो, वषट्कार हो, अप् हो, ज्योति हो, रस हो और अमृत भी तुम्ही हो।[७५] सध्या मे तीन बार सूर्य को जल के द्वारा अर्घ्य दिया जाता है। प्रथम अर्घ्य मे तीन राक्षसो की सवारी का, दूसरे मे राक्षसो के शस्त्रो का और तीसरे मे राक्षसो के नाश की कल्पना की जाती है। उसके पश्चात् गायत्रीमन्त्र पढा जाता है। उसमे सूर्य से बुद्धि एव स्फूर्ति की प्रार्थना की जाती है। इन स्तुतियो मे जल छिटकने की भी प्रथा है, जो बाह्याचार पर आधृत है। अन्तजगत

---

७४ बोधिचर्यावतार ५/९८

७५ ॐ अन्तश्चरसि भूतेषु, गुहायां विश्वतोमुख ।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार, आपो ज्योतिरसोऽमृतम् ॥

की भावनाओं को स्पश कर पाप-मल से आत्मा को मुक्त करने का उपक्रम नहीं है। एक मन्त्र में इस प्रकार के भाव अवश्य ही व्यक्त हुए हैं—

"सूर्य नारायण, यक्षपति और देवताओं से मेरी प्रार्थना है—यक्ष विषयक तथा क्रोध से किये हुए पापों से मेरी रक्षा करें। दिन और रात्रि में मन, वाणी, हाथ, पैर, उदर और शिश्न से जो पाप हुए हों उन पापों को मैं अमृतयोनि सूर्य में होम करता हूँ। इसलिये वह उन पापों को नष्ट करे।"[७६]

कृष्णयजुर्वेद में एक मन्त्र है कि मेरे मन, वाणी और शरीर से जो भी दुराचरण हुआ हो, मैं उसका विसर्जन करता हूँ।[७७]

इस प्रकार वैदिक परम्परा में सन्ध्या के द्वारा आचरित पापों के क्षय के लिये प्रभु से अभ्यर्थना की जाती है। यह एक दृष्टि से प्रतिक्रमण से ही मिलता-जुलता रूप है।

पारसी धर्म में भी पाप को प्रकट करने का विधान है। खोरदेह अवस्ता पारसी धर्म का मुख्य ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ में कहा गया है—मेरे मन में जो बुरे विचार समुत्पन्न हुए हों, वाणी से तुच्छ भाषा का प्रयोग हुआ हो और शरीर से जो अकृत्य किये हों, जो भी मैंने दुष्कृत्य किये हैं, मैं उनके लिये पश्चात्ताप करता हूँ। अहंकार, मृत व्यक्तियों की निन्दा, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, बुरी दृष्टि से निहारना, स्वच्छंदता, आलस्य, कानाफूसी, पवित्रता का भंग, मिथ्या साक्ष्य, तस्करवृत्ति, व्यभिचार, जो भी पाप मुझसे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से हुए हैं, उन दुष्कृत्यों को मैं सरल हृदय से प्रकट करता हूँ। उन सबसे अलग होकर पवित्र होता हूँ।[७८]

ईसाई धर्म के प्रणेता महात्मा यीशु ने पाप को प्रकट करना आवश्यक माना है। पाप को छिपाने से वह बढ़ता है और प्रकट कर देने से वह घट जाता है या नष्ट हो जाता है। इस तरह पाप को प्रकट कर दोषों से मुक्त होने का उपाय जो बताया गया है वह प्रतिक्रमण से मिलता-जुलता है। प्रतिक्रमण जीवनशुद्धि का श्रेष्ठतम प्रकार है। किसी धर्म में उसकी विस्तार से चर्चा है तो किसी में समास से। पर यह सत्य है कि सभी ने उसको आवश्यक माना है।

कायोत्सर्ग

जैन साधनापद्धति में कायोत्सर्ग का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। कायोत्सर्ग को अनुयोगद्वार सूत्र में व्रणचिकित्सा कहा है। सतत सावधान रहने पर भी प्रमाद आदि के कारण साधना में दोष लग जाते हैं, भूलें हो जाती हैं। भूलों रूपी घावों को ठीक करने के लिये कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है। वह अतिचार रूपी घावों को ठीक कर देता है। एक वस्त्र बहुत ही मलीन हो गया है, उसे साफ करना है, वह एक बार में साफ नहीं होगा, उसे बार-बार साबुन लगाकर साफ किया जाता है। उसी प्रकार संयम रूपी वस्त्र पर भी अतिचारों का मैल लग जाता है, भूलों के दाग लग जाते हैं। उन दागों को प्रतिक्रमण के द्वारा स्वच्छ किया जाता है। प्रतिक्रमण में भी जो दाग नहीं मिटते, उन्हें कायोत्सर्ग के द्वारा हटाया जाता है। कायोत्सर्ग में गहराई से चिन्तन कर उस दोष को नष्ट करने का उपक्रम किया जाता है। कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है?

---

७६ ओम् सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्य पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद् अह्ना यद् रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्या पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु, यत् किञ्चिद् दूरित मयि इदमहमापोऽमृत-योनी सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा।"

७७ कृष्णयजुर्वेद—दर्शन और चिन्तन भाग २, पृ० १९२ से उद्धृत।

७८ खोरदेह अवस्ता, पृ० ५/२३-२४

उस प्रश्न पर आवश्यकसूत्र में चिन्तन करते हुए लिखा है—संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिये, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य से मुक्त करने के लिये, पाप कर्मों के निर्घात के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है।[७९]

कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग—ये दो शब्द हैं। जिनका तात्पर्य है—काय का त्याग। पर जीवित रहते हुए शरीर का त्याग सम्भव नहीं है। यहाँ पर शरीरत्याग का अर्थ है—शारीरिक चंचलता और देहासक्ति का त्याग। साधक कुछ समय तक संसार के भौतिक पदार्थों से अलग-थलग रहकर आत्मस्वरूप में लीन होता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुखी होने की एक पवित्र भावना है। बहिर्मुखी स्थिति से साधक अन्तर्मुखी स्थिति में पहुंचता है और अनासक्त बनकर राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है। कायोत्सर्ग से शारीरिक ममता कम हो जाती है। शरीर की ममता साधना के लिये सबसे बड़ी बाधा है। कायोत्सर्ग में शरीर की ममता कम होने से साधक शरीर को सजाने-संवारने से हटकर आत्मभाव में लीन रहता है। यही कारण है कि साधक के लिये कायोत्सर्ग दुःखों का अन्त करने वाला बताया गया है। साधक जो भी कार्य करे, उस कार्य के पश्चात् कायोत्सर्ग करने का विधान है, जिससे वह शरीर की ममता से मुक्त हो सके।

षडावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतंत्र स्थान दिया गया है। जो इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि प्रत्येक साधक को प्रातः और संध्या के समय यह चिन्तन करना चाहिये कि यह शरीर पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। मैं अजर, अमर, अविनाशी हूँ। यह शरीर क्षणभंगुर है। कमल-पत्र पर पड़े हुए ओसबिन्दु की तरह यह शरीर कब नष्ट हो जाये, कहा नहीं जा सकता। शरीर के लिये मानव अकार्य भी करता है। शरीर के पोषण हेतु भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक नहीं रख पाता। कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर की ममता कम की जाती है। कायोत्सर्ग में जब साधक अवस्थित होता है तब डाँस, मच्छरों के व सर्दी-गर्मी के कैसे भी उपसर्ग क्यों न हों, वह शान्त भाव से सहन करता है। वह देह में रहकर भी देहातीत स्थिति में रहता है। आचार्य धर्मदास ने उपदेशमाला ग्रन्थ में लिखा है कि कायोत्सर्ग के समय प्रावरण नहीं रखना चाहिये।

कायोत्सर्ग में साधक चट्टान की तरह पूर्ण रूप से निश्चल, निस्पन्द होता है। जिनमुद्रा में वह शरीर का ममत्व त्याग कर आत्मभाव में रमण करता है। आचार्य भद्रबाहु[८०] ने लिखा है—कायोत्सर्ग की स्थिति में साधक को यदि कोई भक्तिभाव से चन्दन लगाये या कोई द्वेषपूर्वक बसूले से शरीर का छेदन करे, चाहे उसका जीवन रहे अथवा मृत्यु का वरण करना पड़े—वह सब स्थितियों में सम रहता है। तभी कायोत्सर्ग विशुद्ध होता है। कायोत्सर्ग के समय देव, मानव और तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के उपसर्ग उपस्थित होने पर जो साधक उन्हें समभाव पूर्वक सहन करता है, उसी का कायोत्सर्ग वस्तुतः सही कायोत्सर्ग है।[८१]

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के साधकों के लिये जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है, वे साधक के अन्तर्मानस में बल का सञ्चार करते हैं और वे दृढ़ता के साथ कायोत्सर्ग में तल्लीन हो जाते हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह मिथ्याग्रह के चक्कर में पड़कर अपने जीवन को होम दे। क्योंकि सभी साधकों की स्थिति

---

७९ तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं। —आवश्यकसूत्र

८० आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४८

८१ तिविहाणुवसग्गाणं माणुसाणं तिरियाणं।
सम्ममहियासणाए काउस्सग्गो हवइ सुद्धो॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४९

समान नही होती । कुछ साधक विशिष्ट हो सकते है, वे कष्टो से घबराते नही, शेर की तरह साहसपूर्वक आगे बढते ह । पर कुछ दुर्बल साधक भी होते हे, उनके लिये आवश्यकसूत्र मे आगारो का निर्देश हे । कायोत्सर्ग मे खाँसी, छीक, डकार, मूर्च्छा प्रभृति विविध शारीरिक व्याधियाँ हो सकती हे । कभी शरीर मे प्रकम्पन आदि भी हो सकता हे । तो भी कायोत्सर्ग भग नही होता । किसी समय साधक कायोत्सग मे खडा हे, उस समय मकान की दीवार या छत गिरने की भी स्थिति पैदा हो सकती हे । मकान मे या जहाँ वह खडा ह वहाँ पर अग्निकाड भी हो सकता है । तस्कर और राजा आदि के भी उपसग हो सकते ह । उस समय कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर साधक सुरक्षित स्थान पर भी जा सकता हे । उसका कायोत्सग भग नही होगा, क्योंकि कायोत्सर्ग का मूल उद्देश्य समाधि हे । यदि समाधि भग होती है तो आर्त्त और रौद्र ध्यान मे परिणत होती हे । यह परिणति कायोत्सर्ग को भग कर देती हे । जिस कायोत्सर्ग मे समाधि की अभिवृद्धि होती हो, वह कायोत्सर्ग ही हितावह हे । किन्तु जिस काय को करने से असमाधि की वृद्धि होती हो, आर्त्त और रौद्र ध्यान बढते हो, वह कायोत्सर्ग के नाम पर किया गया कायक्लेश हे । आचार्य भद्रबाहु ने तो यहाँ तक कहा हे कि एक साधक कायोत्सर्ग-मुद्रा मे लीन है और यदि किसी दूसरे साधक को साप आदि ने डस लिया तो ऐसी स्थिति मे वह साधक उसी समय कायोत्सर्ग छोड कर दशित साधक की सहायता करे । उस समय कायोत्सर्ग की अपेक्षा सहयोग देना ही श्रेयस्कर ह ।

कायोत्सर्ग का अर्थ केवल इतना ही नही हे कि शारीरिक चचलता का त्याग कर वृक्ष की भाति या पवत की तरह या सूखे काष्ठ की तरह साधक निस्पद खडा हो जाये । शरीर से सम्बन्धित निस्पन्दता तो एकेन्द्रिय आदि प्राणियो मे भी हो सकती है । पर्वत पर चाहे जितने भी प्रहार करो, वह कब चचल होता है ? वह किसी पर रोप भी नही करता । उसमे जो स्थैर्य है, वह अविकसित प्राणी का स्थैर्य है किन्तु कायोत्सर्ग मे होने वाला स्थैय भिन्न प्रकार का हे । आचाय जिनदासगणी महत्तर ने कायोत्सग के दो प्रकार बताये हे—१ द्रव्य-कायोत्सर्ग और भावकायोत्सर्ग ।[८२] द्रव्यकायोत्सर्ग मे पहले शरीर का निरोध किया जाता है । शारीरिक चचलता और ममता का परित्याग कर जिन-मुद्रा मे स्थिर होना, कायचेष्टा का निरुन्धन करना, यह काय-कायोत्सर्ग हे । इसे द्रव्यकायोत्सर्ग भी कहते ह । इसके पश्चात् साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे रमण करता हे । मन को पवित्र विचार और सकल्प से बाधता हे, जिससे उसको किसी भी प्रकार की शारीरिक वेदना का अनुभव नही होता । वह तन मे रहकर भी तन से अलग-थलग आत्मभाव मे रहता हे । यही भावकायोत्सर्ग का भाव है । इस प्रकार का कायोत्सर्ग ही सभी प्रकार के दु खो को नष्ट करने वाला है ।[८३]

द्रव्य और भाव के भेद को समभने के लिये आचार्यो ने कायोत्सग के चार प्रकार बतलाये ह—
१ उत्थित-उत्थित २ उत्थित-निविष्ट ३ उपविष्ट-उत्थित ४ उपविष्ट-निविष्ट ।

१ **उत्थित-उत्थित**—इस कायोत्सर्ग-मुद्रा मे जब साधक खडा होता हे तो उसके साथ ही उसके अन्तर्मानस मे चेतना भी खडी हो जाती हे । वह अशुभ ध्यान का परित्याग कर प्रशस्त ध्यान मे लीन हो जाता हे । वह प्रथम श्रेणी का साधक ह । उसका तन भी उत्थित हे और मन भी । वह द्रव्य और भाव दोनो ही दृष्टियो से उत्थित है ।

---

८२ सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति ।
दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाण ॥ —आवश्यकचूर्णि

८३ काउस्सग तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणो । —उत्तराध्ययन २६-४२

२ **उत्थित-निविष्ट**—कुछ साधक साधना की दृष्टि से आँख मूंदकर खडे हो जाते हैं। वे शारीरिक दृष्टि से तो खडे दिखाई देते हैं किन्तु मानसिक दृष्टि से उनमे कुछ भी जागृति नही होती। उनका मन संसार के विविध पदार्थो मे उलझा रहता है। आर्त्त और रौद्र ध्यान की धारा मे वह अवगाहन करता रहता है। तन से खडे होने पर भी उनका मन बैठा है। अत उत्थित होकर भी वह साधक निविष्ट है।

३ **उपविष्ट-उत्थित**—कभी-कभी शारीरिक अस्वस्थता अथवा वृद्धावस्था के कारण कायोत्सर्ग के लिये साधक खडा नही हो सकता। वह शारीरिक सुविधा की दृष्टि से पद्मासन आदि सुखासन से बैठकर कायोत्सर्ग करता है। तन की दृष्टि से वह बैठा हुआ है किन्तु मन मे तीव्र, शुभ-शुद्धभाव धारा प्रवाहित हो रही होती है, जिसके कारण बैठने पर भी वह मन से उत्थित है। शरीर भले ही बैठा है किन्तु साधक का मन उत्थित है।

४ **उपविष्ट-निविष्ट**—कोई साधक शारीरिक दृष्टि से समर्थ होने पर भी आलस्य के कारण खडा नही होता। बैठे-बैठे ही वह कायोत्सर्ग करता है। तन की दृष्टि से वह बैठा हुआ है और भाव की दृष्टि से भी उसमे जागृति नही है। उसका मन सासारिक विषय-वासना मे या रागद्वेष मे फसा हुआ है। उसका तन और मन दोनो ही बैठे हुए है। कायोत्सर्ग के इन चार प्रकारो मे प्रथम और तृतीय प्रकार का कायोत्सर्ग ही सही कायोत्सर्ग है। इन कायोत्सर्गो के द्वारा ही साधक साधना के महान् लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

शारीरिक अवस्थिति और मानसिक चिन्तनधारा की दृष्टि से आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति[८४] मे कायोत्सर्ग के नौ प्रकार बताये है—

	शारीरिक स्थिति		मानसिक विचारधारा
१	उत्सृत-उत्सृत	खडा	धर्म-शुक्लध्यान
२	उत्सृत	खडा	न धर्म-शुक्ल, न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
३	उत्सृत-निषण्ण	खडा	आर्त-रौद्र ध्यान
४	निषण्ण-उत्सृत	बैठा	धर्म-शुक्ल ध्यान
५	निषण्ण	बैठा	न धर्म-शुक्लध्यान, न आर्त-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
६	निषण्ण-निषण्ण	बैठा	आर्त-रौद्रध्यान
७	निषण्ण-उत्सृत	लेटा	धर्म-शुक्लध्यान
८	निषण्ण	लेटा	न धर्म-शुक्ल, न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
९	निषण्ण-निषण्ण	लेटा	आर्त्त-रौद्रध्यान

कायोत्सर्ग खडे होकर, बैठ कर और लेट कर तीनो अवस्थाओ मे किया जा सकता है। खडी मुद्रा मे कायोत्सर्ग करने की रीति इस प्रकार है—दोनो हाथो को घुटनो की ओर लटका ले, पैरो को सम रेखा मे रखे, एडिया मिली हो और दोनो पैरो के पजो मे चार अगुल का अन्तर हो। बैठी मुद्रा मे कायोत्सर्ग करने वाला पद्मासन या सुखासन से बैठे। हाथो को या तो घुटनो पर रखे या बायी हथेली पर दायी हथेली रखकर उन्हे अक मे रखे। लेटी हुई मुद्रा मे कायोत्सर्ग करने वाला सिर से लेकर पैर तक के अवयवो को पहले ताने फिर स्थिर करे। हाथ-पैर को सटाये हुए न रखे। इन सभी मे अगो का स्थिर और शिथिल होना आवश्यक है।[८५]

---

८४ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४५९-६०

८५ योगशास्त्र ३, पत्र २५०

खडे होकर कायोत्सग करने की एक विशेष परम्परा रही है। क्योकि तीर्थंकर प्राय इसी मुद्रा मे कायोत्सग करते हे। आचार्य अपराजित ने लिखा हे कि कायोत्सर्ग करने वाला साधक शरीर से निष्क्रिय होकर खम्भे की तरह खडा हो जाय। दोनो बाहुओ को घुटनो की ओर फैला दे। प्रशस्त ध्यान मे लीन हो जाये। शरीर को एकदम अकडा कर न खडा रखे और न एकदम झुकाकर ही। वह सममुद्रा मे खडा रहे। कायोत्सर्ग मे कष्टो और परीषहो को समभाव से सहन करे। कायोत्सग जिस स्थान पर किया जाए, वह स्थान एकान्त, शान्त और जीव-जन्तुओ से रहित हो।[८६]

द्रव्यकायोत्सग, भावकायोत्सर्ग की ओर बढने का एक उपक्रम हे। द्रव्य स्थूल है, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढा जाता है। द्रव्यकायोत्सर्ग मे बाह्य वस्तुओ का परित्याग किया जाता है, जैसे—उपधि का त्याग करना, भक्त-पान आदि का त्याग करना, पर भावकायोत्सर्ग मे तीन बाते आवश्यक ह—कषाय-व्युत्सर्ग, ससार-व्युत्सर्ग और कर्मव्युत्सर्ग।

कषायव्युत्सर्ग मे चारो प्रकार के कषायो का परिहार किया जाता है। क्षमा के द्वारा क्रोध को, विनय के द्वारा मान को, सरलता से माया को तथा सन्तोष से लोक को जीता जाता है।

ससारव्युत्सर्ग मे ससार का परित्याग किया जाता हे। ससार चार प्रकार का ह—द्रव्यससार, क्षेत्रससार, कालससार और भावससार।[८७] द्रव्यससार चार गति रूप है। क्षेत्रससार अध, ऊर्ध्व और मध्य लोक रूप है। कालससार एक समय से लेकर पुद्गलपरावर्तन काल तक है। भावससार जीव का विषयासक्ति रूप भाव हे, जो ससार-भ्रमण का मूल कारण हे। द्रव्य, क्षेत्र, काल समार का त्याग नही किया जा सकता है। आचाराग[८८] मे कहा है—जो इन्द्रियो के विषय ह—वे ही वस्तुत ससार हे और उनमे आसक्त हुआ आत्मा ससार मे परिभ्रमण करता है। आगम साहित्य मे यत्र-तत्र "ससारकतारे" शब्द का व्यवहार हुआ है। जिसका अथ है—ससार के चार गति रूप किनारे हे। ससार परिभ्रमण के जो मूल कारण हे, उन मूल कारणो का त्याग करना। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग का परित्याग करना ही ससारव्युत्सर्ग है।

अष्ट प्रकार के कर्मो को नष्ट करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसे कर्मव्युत्सग कहते है। कायोत्सर्ग के जो विविध प्रकार बताये गये हे, उनमे शारीरिक दृष्टि से और विचार की दृष्टि से भेद किये गये हे। प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो भेद किये गये है—चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सर्ग।[८९]

चेष्टाकायोत्सर्ग दोषविशुद्धि के लिये किया जाता है। जब श्रमण शौच, भिक्षा आदि कार्यो के लिये बाहर जाता हे तथा निद्रा आदि मे प्रवृत्ति होती हे, उसमे दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिये प्रस्तुत कायोत्सर्ग किया जाता है। अभिभवकायोत्सर्ग दो स्थितियो मे किया जाता हे—प्रथम दीघकाल तक आत्मचिन्तन के लिए

---

८६ तत्र शरीरनिस्पृह, स्थाणुरिवोर्ध्वकाय प्रलवितभुज प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमिता नतकाय परीषहानुपमर्गाश्च महमान तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे।

—मूलाराधना २-११३, विजयोदया पृ २७८-२७९

८७ चउव्विहे समारे पण्णत्ते, त जहा—
दव्वससारे, खेत्तससारे, कालससारे, भाव समारे। —स्थानाग ४, १२, ६१

८८ जे गुणे से आवट्टे। —आचाराग १।१।५

८९ सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुजणे बिइओ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४५२

थी आत्मशुद्धि के लिये मन को एकाग्र कर कायोत्सर्ग करना और दूसरा सकट आने पर। जैसे—विप्लव, अग्निकाड, दुर्भिक्ष आदि। चेष्टाकायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधारित है। यह कायोत्सर्ग विभिन्न स्थितियो मे ८, २५, २७, ३००, ५०० और १००८ उच्छ्वास तक किया जाता है। अभिभवकायोत्सर्ग का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक वर्ष का है। बाहुबलि ने एक वर्ष तक यह कायोत्सर्ग किया था।[९०] दोषविशुद्धि के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह कायोत्सर्ग दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सावत्सरिक रूप मे पाच प्रकार का है।

षडावश्यक मे जो कायोत्सर्ग है, उसमे चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान किया जाता है। चतुर्विंशतिस्तव मे सात श्लोक और अट्ठाईस चरण है।[९१] एक उच्छ्वास मे एक चरण का ध्यान किया जाता है। एक चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान पच्चीस उच्छ्वासो मे सम्पन्न होता है। प्रथम श्वास लेते समय मन मे 'लोगस्स उज्जोयगरे' कहा जायेगा और सास को छोडते समय 'धम्मतित्थयरे जिणे' कहा जायेगा। द्वितीय सास लेते समय 'अरिहते कित्तइस्स' और छोडते समय 'चउवीस पि केवली' कहा जायेगा। इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग होता है।

प्रवचनसारोद्धार[९२] मे और विजयोदयावृत्ति[९३] मे कायोत्सर्ग का ध्येय, परिमाण और कालमान इस प्रकार दिया गया है—

प्रवचनसारोद्धार

		चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
१	दैवसिक	४	२५	१००	१००
२	रात्रिक	२	१२½	५०	५०
३	पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
४	चातुर्मासिक	२०	१२५	५००	५००
५	सावत्सरिक	४०	२५२	१००८	१००८

९० (क) तत्रचेष्टाकायोत्सर्गोऽष्ट-पचविशति-सप्तविशति त्रिशशतपञ्चशतअष्टोत्तरसहस्रोच्छ्वासान् यावद् भवति। अभिभव-कायोत्सर्गस्तु मुहूर्तादारभ्य सवत्सर यावद् बाहुबलिरिव भवति। —योगशास्त्र ३, पत्र २५०
(ख) अन्तर्मुहूर्त कायोत्सर्गस्य जघन्य काल वर्षमुत्कृष्ट। —मूलाराधना २, ११६, विजयोदयावृत्ति

९१ योगशास्त्र, ३

९२ चत्तारि दो दुवालस, वीस चत्ता य हुति उज्जोया।
देवसिय राय पक्खिय, चाउम्मासे य वरिसे य ॥
पणवीस अद्धतेरस, सलोग पन्नतरी य बोद्धव्वा।
सयमेग पणवीस, बे बावण्णा य वरिसमि ॥
साय सय गोमद्ध तिन्नेव सया हवेति पक्खम्मि।
पच य चाउम्मासे, वरिसे अट्ठोत्तर सहस्सा ॥

९३ सायाह्ने उच्छ्वासशतक प्रत्यूषसि पचाशत, पक्षे त्रिशतानि।
चतुर्षु मासेसु चतु शतानि, पचशतानि सवत्सरे उच्छ्वासानाम् ॥
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ।

—मूलाराधना-विजयोदयावृत्ति १,११६

विजयोदया

		चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
१	दैवसिक	४	२५	१००	१००
२	रात्रिक	२	१२½	५०	५०
३	पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
४	चातुर्मासिक	१६	१००	४००	४००
५	सावत्सरिक	२०	१२५	५००	५००

प्रवचनसारोद्धार और विजयोदयावृत्ति मे जो उच्छ्वास सख्या कायोत्सर्ग की दी गई है, उसमे एक-रूपता नही हे। यह ऊपर की पक्तियो मे जो चार्ट दिया गया है, उससे सहज जाना जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य अमितगति[९४] ने यह विधान किया है—दैवसिक कायोत्सग मे १०८ और रात्रि के कायोत्सर्ग मे ५४ उच्छ्वासो का ध्यान करना चाहिये और अन्य कायोत्सग मे २७ उच्छ्वासो का ध्यान करना चाहिये। २७ उच्छ्वासो मे नमस्कार मन्त्र की नौ आवृत्तिया हो जाती है, क्योकि ३ उच्छ्वासो मे एक नमस्कार महामत्र पर ध्यान किया जाता हैं। 'नमो अरिहताण, नमो सिद्धाण' एक उच्छ्वास मे, 'नमो आयरियाण, नमो उवज्झायाण' दूसरे उच्छ्वास मे तथा 'नमो लोए सव्वसाहूण' तीसरे उच्छ्वास मे—इस प्रकार ३ उच्छ्वासो मे एक नमस्कार महामन्त्र का ध्यान पूर्ण होता हे। आचार्य अमितगति का अभिमत हे कि श्रमण को दिन और रात मे कुल अट्ठाईस वार कायोत्सर्ग करना चाहिये।[९५] स्वाध्यायकाल मे १२ वार, वन्दनकाल मे ६ वार, प्रतिक्रमणकाल मे ८ वार, योगभक्ति काल मे २ वार—इस प्रकार कुल अट्ठाईस वार कायोत्सर्ग करना चाहिये। आचार्य अपराजित का मन्तव्य हे कि पच महाव्रत सम्बन्धी अतिक्रमण होने पर १०८ उच्छ्वासो का कायोत्सर्ग करना चाहिये। कायोत्सर्ग करते समय मन की चचलता से या उच्छ्वासो की सख्या की परिगणना मे सदेह समुत्पन्न हो जाये तो आठ उच्छ्वासो का और अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिये।[९६]

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ के साहित्य के पयवेक्षण करने पर यह स्पष्ट है कि अतीत काल मे श्रमण साधको के लिये कायोत्सर्ग का विधान विशेष रूप से रहा है। उत्तराध्ययन[९७] के श्रमण समाचारी अध्ययन मे और दशवैकालिक चूलिका[९८] मे श्रमण को पुन -पुन कायोत्सर्ग करने वाला बताया हे। कायोत्सर्ग

---

९४ अष्टोत्तरशतोच्छ्वास कायोत्सर्ग प्रतिक्रमे।
माध्ये प्राभातिके वार्धमन्यस्तत् सप्तविंशति ॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासा समारोन्मूलनक्षमे।
सन्ति पचनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति॥ —अमितगति श्रावकाचार ८, ६८-६९

९५ अष्टविंशति सख्याना कायोत्सर्गा मता जिनै।
अहोरात्रगता सर्व षडावश्यककारिणाम् ॥
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञै वन्दनाया षडीरिता।
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तो द्वावुदाहृतो॥ —अमितगति श्रावकाचार ८, ६६-६७

९६ मूलाराधना २, ११६ विजयोदया वृत्ति

९७ उत्तराध्ययन २६, ३९-५१

९८ अभिक्खण काउस्सग्गकारी। —दशवैकालिक चूलिका २-७

मे मानसिक एकाग्रता सर्वप्रथम आवश्यक है। कायोत्सर्ग अनेक प्रयोजनो से किया जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ का उपशमन कायोत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन है।[99] अमगल, विघ्न और बाधा के परिहार के लिये भी कायोत्सर्ग का विधान प्राप्त होता है। किसी शुभ काय के प्रारम्भ मे, यात्रा मे, यदि किसी प्रकार का उपसर्ग, बाधा या अपशकुन हो जाये तो आठ श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिये। उस कायोत्सर्ग मे नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिये। द्वितीय बार पुन बाधा उपस्थित हो जाये तो सोलह श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर दो बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिये। यदि तृतीय बार भी बाधा उपस्थित हो तो ३२ श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर चार बार नमस्कार महामत्र का चिन्तन करना चाहिये। चतुर्थ बार भी यदि बाधा उपस्थित हो तो विघ्न अवश्य ही आने वाला है, ऐसा समझकर शुभ काय या विहार यात्रा को प्रारम्भ नही करना चाहिये।[100] कायोत्सर्ग की प्रक्रिया कष्टप्रद नही है। कायोत्सर्ग से शरीर को पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होती है और मन मे अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। इसीलिये कायोत्सर्ग लम्बे समय तक किया जा सकता है। कायोत्सर्ग मे मन को श्वास मे केन्द्रित किया जाता है एतदर्थ उसका कालमान श्वास गिनती से भी किया जाता है।

कायोत्सर्ग का प्रधान उद्देश्य है आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना और सहज गुण है मानसिक सन्तुलन बनाये रखना। मानसिक सन्तुलन बनाए रखने से बुद्धि निर्मल होती है और शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है। आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के अनेक फल बताए है—१ देहजाड्य-बुद्धि—श्लेष्म आदि के द्वारा देह मे जडता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि के दोष नष्ट हो जाते है। इसलिये उनसे उत्पन्न होने वाली जडता भी समाप्त हो जाती है।

२ मति-जाड्यबुद्धि—कायोत्सर्ग मे मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे चित्त एकाग्र होता है। बौद्धिक जडता समाप्त होकर उसमे तीक्ष्णता आती है।

३ सुख-दुःखतितिक्षा—कायोत्सर्ग से सुख-दुःख को सहन करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है।

४ अनुप्रेक्षा—कायोत्सर्ग मे अवस्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षा या भावना का स्थिरतापूर्वक अभ्यास करता है।

५ ध्यान—कायोत्सर्ग से शुभध्यान का सहज अभ्यास हो जाता है।[101]

कायोत्सर्ग मे शारीरिक चचलता के विसर्जन के साथ ही शारीरिक ममत्व का भी विसर्जन होता है, जिससे शरीर और मन मे तनाव उत्पन्न नही होता। शरीरशास्त्रियो का मानना है कि तनाव से अनेक शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ समुत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ शारीरिक प्रवृत्ति से—

---

९९ कायोत्सर्गशतक, गाथा ८

१०० सव्वेसु खलियादिसु झाएज्झा पच मगल।
दो सिलोगे व चिंतेज्जा एगग्गो वावि तक्खण॥
विइय पुण खलियादिसु, उस्सासा होंति तह य सोलस य।
तइयम्मि उ बत्तीसा, चउत्थम्मि न गच्छए अण्ण॥ —व्यवहारभाष्य पीठिका, गाथा ११८, ११९

१०१ (क) देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झाइय य सुह झाण, एगग्गो काउसग्गम्मि॥ —कायोत्सर्गशतक, गाथा १३

(ख) मणसो एगग्गत्त जणयइ, देहस्स हणइ जड्डत्त।
काउस्सग्गगुणा खलु, सुहदुहमज्झत्थया चेव॥ —व्यवहारभाष्य पीठिका, गा १२५

(ग) प्रयत्नविशेषत परमलाघवसभवात्। —वही, वृत्ति

१ स्नायु मे शर्करा कम हो जाती है।
२ लैक्टिक एसिड स्नायु मे एकत्रित होती हे।
३ लेक्टिक एसिड की अभिवृद्धि होने पर शरीर मे उष्णता बढ जाती हे।
४ स्नायुतन्त्र मे थकान का अनुभव होता है।
५ रक्त मे प्राणवायु की मात्रा न्यून हो जाती है। किन्तु कायोत्सर्ग से—
१ ऐसिड पुन शर्करा मे परिवर्तित हो जाता हे।
२ लैक्टिक एसिड का स्नायुओ मे जमाव न्यून हो जाता है।
३ लैक्टिक एसिड की न्यूनता से शारीरिक उष्णता न्यून होती है।
४ स्नायुतत्र मे अभिनव ताजगी आती हे।
५ रक्त मे प्राणवायु की मात्रा वढ जाती है।

इस प्रकार स्वास्थ्यदृष्टि से कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है। मन, मस्तिष्क और शरीर का परस्पर गहरा सम्बन्ध हे। जव इन तीनो मे सामजस्य नही होता तब स्नायविक तनाव समुत्पन्न होते हे। जब हम कोई काय करते ह तव तन और मन मे सन्तुलन रहना चाहिये। जव सन्तुलन नही रहता तब स्नायविक तनाव बट जाता है। तन अलग कार्य कर रहा हे और मन अलग स्थान पर भटक रहा है तो स्नायविक तनाव हो जाता हे। कायोत्सर्ग इस स्नायविक तनाव को दूर करने का एक सुन्दर उपाय है।

कायोत्सर्ग मे सर्वप्रथम शिथिलीकरण की आवश्यकता हे। यदि बैठे-बैठे ही साधक कायोत्सर्ग करना चाहता है तो वह सुखासन या पद्मासन से बैठे। फिर रीढ की हड्डी और गर्दन को सीधा करे, उसमे झुकाव और तनाव न हो। अगोपाग शिथिल और सीधे सरल रहे। उसके पश्चात् दीर्घ श्वास ले। विना कष्ट के जितना लम्बा श्वास ले सके उतना लम्बा करने का प्रयास करे। इससे शरीर और मन इन दोनो के शिथिलीकरण मे वहुत सहयोग मिलेगा। आठ-दस वार दीघ श्वास लेने के पश्चात् वह क्रम सहज हो जायेगा। स्थिर बैठने से अपने आप ही कुछ-कुछ शिथिलीकरण हो सकता है और उसके पश्चात् जिस अग को शिथिल करना हो उसमे मन को केन्द्रिन करे। जैसे सवप्रथम गदन, कन्धा, सीना, पेट, दाये वाये पृष्ठ भाग, भुजाए, हाथ, हथेली, अगुली, कटि, पैर आदि सभी की मासपेशियो को शिथिल किया जाता है।

इस प्रकार शारीरिक अवयव व मासपेशियो के शिथिल हो जाने से स्थूल शरीर से सम्बन्ध विच्छेद होकर सूक्ष्म शरीर से—तैजस और कार्मण से सम्वन्ध स्थापित किया जाता है। तैजस शरीर से दीप्ति प्राप्त होती है। कामण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास किया जाता है। इस तरह शरीर-आत्मैक्य की जो भ्रान्ति है, वह भेदविज्ञान से मिट जाती हे। शरीर एक वर्तन के सदृश है। उसमे श्वास, इन्द्रिय, मन और मस्तिष्क जैसी अनेक शक्तिया रही हुई हे। उन शक्तियो से परिचित होने का सरल माग कायोत्सर्ग है। कायोत्सग से श्वास सूक्ष्म होता हे। शरीर और मन के बीच मे श्वास है। श्वास के पाच प्रकार बताये गये ह—१ सहज श्वास, २ शान्त श्वास, ३ उखडी श्वास, ४ विक्षिप्त श्वास और ५ तेज श्वास।

साधक पहले अभ्यास मे गहरा और लम्बा श्वास लेता है। दूसरे अभ्यासक्रम मे लयवद्ध श्वास का अभ्याम किया जाता हे। तृतीय क्रम मे सूक्ष्म, शान्त और जमे हुए श्वास का अभ्यास किया जाता है। चतुर्थ अभ्यासक्रम मे सहज कुम्भक की स्थिति होती है। इस स्थिति का निर्माण प्राणायाम, प्रलम्ब जाप और ध्यान से किया जाता ह। प्राणायाम का सीधा प्रभाव शरीर पर गिरता है किन्तु मनोग्रन्थि पर चोट करने के लिये मन

का सकल्पबद्ध होना आवश्यक है। कितने ही जैनाचार्यों ने दीर्घ श्वास को उपयोगी माना है किन्तु तेज श्वास को नही। उनका मन्तव्य है कि तीव्र श्वास की चोट से शरीर और मन अत्यधिक थकान के कारण शिथिल हो जाते है, चेतना के प्रति सावधानता की स्थिति नही होती। उस अवस्था मे मूर्च्छा और थकान के कारण आने वाली तन्द्रा रूप शून्यता से अपने-आप को बचाना भी कठिन हो जाता है। इसलिये श्वास को उखाडना नही चाहिये। उसे लम्बा और गहरा करना चाहिये। जितना श्वास धीमा होता है, शरीर मे उतनी ही क्रियाशीलता न्यून हो जाती है। श्वास की सूक्ष्मता ही शान्ति है। प्रारम्भ मे ऊर्जा का विस्तार और नया उत्पादन नही होता। केवल ऊर्जा का सरक्षण होता है और कुछ दिनो के पश्चात् वह सचित ऊर्जा मन को एक दिशागामी बनाकर उसे ध्येय मे लगाती है। श्वास की मदता से शरीर भी निष्क्रिय हो जाता है, प्राण शान्त हो जाते है। मन निर्विचार हो जाता है और अन्तर्मानस मे तीव्रतम वैराग्य उद्बुद्ध हो जाता है। ज्यो-ज्यो श्वास चचल होता है, त्यो-त्यो मन भी चचल होता है। श्वास के स्थिर होने पर मन की चचलता भी नष्ट हो जाती है।[102] श्वास शरीर मे रहा हुआ यत्र है जिसके अधिक सक्रिय होने पर शरीरकेन्द्रो मे उथल-पुथल मच जाती है और सामान्य होते ही उसमे एक प्रकार की शान्ति व्याप्त हो जाती है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शान्ति और समाधि है। जब हमे क्रोध आता है उस समय हमारी सास की गति तीव्र हो जाती है पर ध्यान मे श्वासगति शान्त होने से उसमे मन की स्थिरता होती है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण के पश्चात् आती है। प्रतिक्रमण मे पापो की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल बन जाता है, जिससे धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे साधक एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। यदि साधक बिना चित्तशुद्धि किये ही कायोत्सर्ग करता है तो उसे उतनी सफलता प्राप्त नही होती। एतदर्थ ही षडावश्यक मे प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग का विधान किया है।

कायोत्सर्ग को सही रूप से सम्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि कायोत्सर्ग के दोषो से बचा जाये। प्रवचनसारोद्धार प्रभृति ग्रन्थो मे कायोत्सर्ग के १९ दोष वर्णित है—१ घोटक दोष २ लता दोष ३ स्तभकुड्य दोष ४ माल दोष ५ शबरी दोष ६ वधु दोष ७ निगड दोष ८ लम्बोत्तर दोष ९ स्तन दोष १० उर्द्धिका दोष ११ सयती दोष १२ खलीन दोष १३ वायस दोष १४ कपित्थ दोष १५ शीर्षोत्कम्पित दोष १६ मूक दोष १७ अगुलिका भ्रू दोष १८ वारुणी दोष और १९ प्रज्ञा दोष।

इन दोषो का मुख्य सम्बन्ध शरीर से तथा बैठने और खडे रहने के आसन आदि से है। अत साधक को इन दोषो से मुक्त होकर कायोत्सर्ग की साधना करनी चाहिये।

जैसे जैनधर्म मे कायोत्सर्ग का विधान है, उस पर अत्यधिक बल दिया है, वैसे ही न्यूनाधिक रूप मे वह अन्य धार्मिक परम्पराओ मे भी मान्य रहा है। बोधिचर्यावतार[103] ग्रन्थ मे आचार्य शान्तिरक्षित ने लिखा है—सभी देहधारियो को जिस प्रकार सुख हो, वैसे ही यह शरीर मैने न्यौछावर कर दिया है। वे चाहे इसकी हत्या करे, निन्दा करे या इस पर धूल फैंके, चाहे खेले, चाहे हँसे, चाहे विलास करे। मुझे इसकी क्या चिन्ता? क्योकि मैने शरीर उन्हे ही दे डाला है। इस प्रकार वे देह व्युत्सर्जन की बात करते है। कायोत्सर्ग ध्यानसाधना

---

१०२ चले वाते चल चित्त निश्चले निश्चल भवेत्।
निष्फल त विजानीयात् श्वासो यत्र लय गत ॥

१०३ बोधिचर्यावतार ३।१२-१३

१ स्नायु मे शर्करा कम हो जाती है।
२ लैक्टिक एसिड स्नायु मे एकत्रित होती है।
३ लेक्टिक एसिड की अभिवृद्धि होने पर शरीर मे उष्णता बढ जाती है।
४ स्नायुतन्त्र मे थकान का अनुभव होता है।
५ रक्त मे प्राणवायु की मात्रा न्यून हो जाती है। किन्तु कायोत्सर्ग से—
१ ऐसिड पुन शर्करा मे परिवर्तित हो जाता है।
२ लैक्टिक एसिड का स्नायुओ मे जमाव न्यून हो जाता है।
३ लैक्टिक एसिड की न्यूनता से शारीरिक उष्णता न्यून होती है।
४ स्नायुतत्र मे अभिनव ताजगी आती है।
५ रक्त मे प्राणवायु की मात्रा बढ जाती है।

इस प्रकार स्वास्थ्यदृष्टि से कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है। मन, मस्तिष्क और शरीर का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। जब इन तीनो मे सामजस्य नही होता तब स्नायविक तनाव समुत्पन्न होते है। जब हम कोई काय करते है तब तन और मन मे सन्तुलन रहना चाहिये। जब सन्तुलन नही रहता तब स्नायविक तनाव बढ जाता है। तन अलग कार्य कर रहा हे और मन अलग स्थान पर भटक रहा हे तो स्नायविक तनाव हो जाता है। कायोत्सर्ग इस स्नायविक तनाव को दूर करने का एक सुन्दर उपाय है।

कायोत्सर्ग मे सर्वप्रथम शिथिलीकरण की आवश्यकता है। यदि बैठे-बैठे ही साधक कायोत्सर्ग करना चाहता हे तो वह सुखासन या पद्मासन से बैठे। फिर रीढ की हड्डी और गर्दन को सीधा करे, उसमे झुकाव और तनाव न हो। अगोपाग शिथिल और सीधे सरल रहे। उसके पश्चात् दीर्घ श्वास ले। बिना कष्ट के जितना लम्बा श्वास ले सके उतना लम्बा करने का प्रयास करे। इससे शरीर और मन इन दोनो के शिथिलीकरण मे बहुत सहयोग मिलेगा। आठ-दस बार दीघ श्वास लेने के पश्चात् वह क्रम सहज हो जायेगा। स्थिर बैठने से अपने आप ही कुछ-कुछ शिथिलीकरण हो सकता हे और उसके पश्चात् जिस अग को शिथिल करना हो उसमे मन को केन्द्रित करे। जैसे सवप्रथम गर्दन, कन्धा, सीना, पेट, दाये बाये पृष्ठ भाग, भुजाए, हाथ, हथेली, अगुली, कटि, पैर आदि सभी की मासपेशियो को शिथिल किया जाता है।

इस प्रकार शारीरिक अवयव व मासपेशियो के शिथिल हो जाने से स्थूल शरीर से सम्बन्ध विच्छेद होकर सूक्ष्म शरीर से—तैजस और कार्मण से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। तैजस शरीर से दीप्ति प्राप्त होती है। कामण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास किया जाता है। इस तरह शरीर-आत्मैक्य की जो भ्रान्ति है, वह भेदविज्ञान से मिट जाती हे। शरीर एक वर्तन के सदृश है। उसमे श्वास, इन्द्रिय, मन और मस्तिष्क जैसी अनेक शक्तिया रही हुई है। उन शक्तियो से परिचित होने का सरल मार्ग कायोत्सर्ग है। कायोत्सग से श्वास सूक्ष्म होता हे। शरीर और मन के बीच मे श्वास है। श्वास के पाच प्रकार बताये गये हे—१ सहज श्वास, २ शान्त श्वास, ३ उखडी श्वास, ४ विक्षिप्त श्वास और ५ तेज श्वास।

साधक पहले अभ्यास मे गहरा और लम्बा श्वास लेता है। दूसरे अभ्यासक्रम मे लयबद्ध श्वास का अभ्यास किया जाता है। तृतीय क्रम मे सूक्ष्म, शान्त और जमे हुए श्वास का अभ्यास किया जाता है। चतुर्थ अभ्यासक्रम मे सहज कुम्भक की स्थिति होती है। इस स्थिति का निर्माण प्राणायाम, प्रलम्ब जाप और ध्यान से किया जाता है। प्राणायाम का सीधा प्रभाव शरीर पर गिरता है किन्तु मनोग्रन्थि पर चोट करने के लिये मन

का सकल्पबद्ध होना आवश्यक है। कितने ही जैनाचार्यों ने दीर्घ श्वास को उपयोगी माना है किन्तु तेज श्वास को नही। उनका मन्तव्य है कि तीव्र श्वास की चोट से शरीर और मन अत्यधिक थकान के कारण शिथिल हो जाते है, चेतना के प्रति सावधानता की स्थिति नही होती। उस अवस्था मे मूर्च्छा और थकान के कारण आने वाली तन्द्रा रूप शून्यता से अपने-आप को बचाना भी कठिन हो जाता है। इसलिये श्वास का उखाडना नही चाहिये। उसे लम्बा और गहरा करना चाहिये। जितना श्वास धीमा होता है, शरीर मे उतनी ही क्रियाशीलता न्यून हो जाती है। श्वास की सूक्ष्मता ही शान्ति है। प्रारम्भ मे ऊर्जा का विस्तार और नया उत्पादन नही होता। केवल ऊर्जा का सरक्षण होता है और कुछ दिनो के पश्चात् वह सचित ऊर्जा मन को एक दिशागामी बनाकर उसे ध्येय मे लगाती है। श्वास की मदता से शरीर भी निष्क्रिय हो जाता है, प्राण शान्त हो जाते है। मन निर्विचार हो जाता है और अन्तर्मानस मे तीव्रतम वैराग्य उद्‌बुद्ध हो जाता है। ज्यो-ज्यो श्वास चचल होता है, त्यो-त्यो मन भी चचल होता है। श्वास के स्थिर होने पर मन की चचलता भी नष्ट हो जाती है।[१०२] श्वास शरीर मे रहा हुआ यत्र है जिसके अधिक सक्रिय होने पर शरीरकेन्द्रो मे उथल-पुथल मच जाती है और सामान्य होते ही उसमे एक प्रकार की शान्ति व्याप्त हो जाती है। श्वास की निष्क्रियता ही मन की शान्ति और समाधि है। जब हमे क्रोध आता है उस समय हमारी सास की गति तीव्र हो जाती है पर ध्यान मे श्वासगति शान्त होने से उसमे मन की स्थिरता होती है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण के पश्चात् आती है। प्रतिक्रमण मे पापो की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल बन जाता है, जिससे धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे साधक एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। यदि साधक बिना चित्तशुद्धि किये ही कायोत्सर्ग करता है तो उसे उतनी सफलता प्राप्त नही होती। एतदर्थ ही षडावश्यक मे प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग का विधान किया है।

कायोत्सर्ग को सही रूप से सम्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि कायोत्सर्ग के दोषो से बचा जाये। प्रवचनसारोद्धार प्रभृति ग्रन्थो मे कायोत्सर्ग के १९ दोष वर्णित है—१ घोटक दोष २ लता दोष ३ स्तभकुड्य दोष ४ माल दोष ५ शबरी दोष ६ वधु दोष ७ निगड दोष ८ लम्बोत्तर दोष ९ स्तन दोष १० उर्द्धिका दोष ११ सयती दोष १२ खलीन दोष १३ वायस दोष १४ कपित्थ दोष १५ शीर्षोत्कम्पित दोष १६ मूक दोष १७ अगुलिका भ्रू दोष १८ वारुणी दोष और १९ प्रज्ञा दोष।

इन दोषो का मुख्य सम्बन्ध शरीर से तथा बैठने और खडे रहने के आसन आदि से है। अत साधक को इन दोषो से मुक्त होकर कायोत्सर्ग की साधना करनी चाहिये।

जैसे जैनधर्म मे कायोत्सर्ग का विधान है, उस पर अत्यधिक बल दिया है, वैसे ही न्यूनाधिक रूप मे वह अन्य धार्मिक परम्पराओ मे भी मान्य रहा है। बोधिचर्यावतार[१०३] ग्रन्थ मे आचार्य शान्तिरक्षित ने लिखा है—सभी देहधारियो को जिस प्रकार सुख हो, वैसे ही यह शरीर मैने न्योछावर कर दिया है। वे चाहे इसकी हत्या करे, निन्दा करे या इस पर धूल फैके, चाहे खेले, चाहे हँसे, चाहे विलास करे। मुझे इसकी क्या चिन्ता? क्योकि मैने शरीर उन्हे ही दे डाला है। इस प्रकार वे देह व्युत्सर्जन की बात करते है। कायोत्सर्ग ध्यानसाधना

---

१०२ चले वाते चल चित्त निश्चले निश्चल भवेत्।
निष्फल त विजानीयात् श्वासो यत्र लय गत ॥

१०३ बोधिचर्यावतार ३।१२-१३

का ही एक प्रकार है। तथागत बुद्ध ने ध्यानसाधना पर बल दिया। ध्यानसाधना बौद्ध परम्परा मे अतीत काल मे चली आ रही है। विपश्यना आदि मे भी देह के प्रति ममत्व हटाने का उपक्रम है।

प्रत्याख्यान

छठे आवश्यक का नाम प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का अर्थ है—त्याग करना।[१०४] प्रत्याख्यान शब्द की रचना प्रति = आ = आख्यान, इन तीनो शब्दो के सयोग से होती है। अविरति और असयम के प्रतिकूल रूप मे मर्यादा के साथ प्रतिज्ञा ग्रहण करना प्रत्याख्यान है।[१०५] दूसरे शब्दो मे कहे तो आत्मस्वरूप के प्रति अभिव्याप्त रूप से, जिससे अनाशसा गुण समुत्पन्न हो, इस प्रकार का आख्यान अर्थात् कथन करना प्रत्याख्यान है। और भी अधिक स्पष्ट शब्दो मे कहे तो भविष्यकाल के प्रति आ—मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग मे प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है।

इस विराट् विश्व मे इतने अधिक पदार्थ है, जिनकी परिगणना करना सम्भव नही। और उन सब वस्तुओ को एक ही व्यक्ति भोगे, यह भी कभी सम्भव नही। चाहे कितनी भी लम्बी उम्र क्यो न हो, तथापि एक मानव ससार की सभी वस्तुओ का उपभोग नही कर सकता। मानव की इच्छाए असीम है। वह सभी वस्तुओ को पाना चाहता है। चक्रवर्ती सम्राट् को सभी वस्तुए प्राप्त हो जाए तो भी उसकी इच्छाओ का अन्त नही आ सकता। इच्छाए दिन दूनी और रात चौगुनी बढती रहती है। इच्छाओ के कारण मानव के अन्तर्मानस मे सदा अशान्ति बनी रहती है। उस अशान्ति को नष्ट करने का एकमात्र उपाय प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान मे साधक अशान्ति का मूल कारण आसक्ति और तृष्णा को नष्ट करता है। जब तक आसक्ति बनी रहती है तब तक शान्ति उपलब्ध नही हो सकती। सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है किन्तु पुन आसक्ति रूपी तस्करराज अन्तर्मानस मे प्रविष्ट न हो, उसके लिये प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। एक बार वस्त्र को स्वच्छ बना दिया गया, वह पुन मलिन न हो, इसके लिये उस वस्त्र को कपाट मे रखते है, इसी तरह मन मे मलिनता न आये, इसलिये प्रत्याख्यान किया जाता है। अनुयोगद्वार मे प्रत्याख्यान का एक नाम 'गुणधारण' दिया गया है। गुणधारण से तात्पर्य है—व्रत रूपी गुणो को धारण करना। मन, वचन और काया के योगो को रोककर शुभ योगो मे प्रवृत्ति को केन्द्रित किया जाता है। शुभ योगो मे केन्द्रित करने से इच्छाओ का निरुन्धन होता है। तृष्णाए शान्त हो जाती है। अनेक सद्गुणो की उपलब्धि होती है। एतदर्थ ही आचार्य भद्रबाहु ने कहा—प्रत्याख्यान से सयम होता है। सयम से आश्रव का निरुन्धन होता है और आश्रव के निरुन्धन से तृष्णा का अन्त हो जाता है।[१०६] तृष्णा के अन्त से अनुपम उपशमभाव समुत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है।[१०७] उपशमभाव की विशुद्धि से चारित्रधर्म प्रकट होता है। चारित्र से कर्म निर्जीर्ण होते है। उससे

---

१०४ प्रवृत्तिप्रतिकूलतया आ-मर्यादया ख्यान—प्रत्याख्यानम्। —योगशास्त्रवृत्ति

१०५ अविरतिस्वरूपप्रभृति प्रतिकूलतया आ-मर्यादया आकारकरणस्वरूपया आख्यान—कथन प्रत्याख्यानम्। —प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

१०६ पच्चक्खाणमि कए, आसवदाराइ हुति पिहियाइ।
आसववुच्छेएण तण्हा-वुच्छेयण होइ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति १५९४

१०७ तण्हा-वोच्छेदेण उ, अउलोवसमो भवे मणुस्साण।
अउलोवसमेण पुणो, पच्चक्खाण हवइ सुद्ध॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, १५९५

होने से केवलज्ञान, केवलदर्शन का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है और शाश्वत मुक्ति रूपी सुख प्राप्त होता है।[108]

प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद है—१ मूलगुण-प्रत्याख्यान और २ उत्तरगुण-प्रत्याख्यान। मूलगुण-प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिये ग्रहण किया जाता है। मूलगुणप्रत्याख्यान के भी दो भेद है—१ सर्वमूलगुण-प्रत्याख्यान और २ देशमूलगुणप्रत्याख्यान। सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान मे श्रमण के पाच महाव्रत आते है और देशमूलगुणप्रत्याख्यान मे श्रमणोपासक के पाच अणुव्रत आते है। उत्तरगुणप्रत्याख्यान प्रतिदिन ग्रहण किया जाता है या कुछ दिनो के लिये। उत्तरगुणप्रत्याख्यान के भी देश उत्तरगुणप्रत्याख्यान और सर्व उत्तरगुणप्रत्याख्यान ये दो भेद है। गृहस्थो के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ये सात उत्तरगुणप्रत्याख्यान है। श्रमणो और श्रमणोपासक दोनो के लिये दस प्रकार के प्रत्याख्यान है। भगवतीसूत्र,[109] स्थानागवृत्ति,[110] आवश्यक-निर्युक्ति[111] और मूलाचार[112] मे दस प्रत्याख्यानो का वर्णन है। जिसका सक्षिप्त सार इस प्रकार है—

१ अनागत—पर्युषण आदि पर्व मे जो तप करना चाहिये, वह तप पहले कर लेना जिससे कि पर्व के समय वृद्ध, रुग्ण, तपस्वी, आदि की सेवा सहज रूप से की जा सके। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी ने लिखा है—चतुर्दशी को किया जाने वाला तप त्रयोदशी को करना।

२ अतिक्रान्त—जो तप पर्व के दिनो मे करना चाहिये, वह तप पव के दिनो मे सेवा आदि का प्रसग उपस्थित होने से न कर सके तो उसे बाद मे अपर्व के दिनो मे करना चाहिये। वसुनन्दी के अनुसार चतुदशी को किया जाने वाला उपवास प्रतिपदा को करना।

३ कोटि सहित—जो पूर्व तप चल रहा हो, उस तप को बिना पूण किये ही अगला तप प्रारम्भ कर देना। जैसे—उपवास का पारणा किये बिना ही अगला तप प्रारम्भ करना। आचाय अभयदेव ने भी स्थानाग-वृत्ति मे यही अर्थ किया है। आचाय वट्टकेर ने मूलाचार मे कोटि सहित प्रत्याख्यान का अर्थ लिखा है कि शक्ति की अपेक्षा उपवास आदि करने का सकल्प करना। वसुनन्दी के अनुसार यह सकल्प समन्वित प्रत्याख्यान है। जैसे—अगले दिन स्वाध्याय वेला पूर्ण होने पर यदि शक्ति रही तो मै उपवास करू गा, अन्यथा नही करू गा।

४ नियन्त्रित—जिस दिन प्रत्याख्यान करने का विचार हो उस दिन रोग आदि विशेष बाधाए उपस्थित हो जाये तो भी उन बाधाओ की परवाह किये बिना जो मन मे प्रत्याख्यान धारण किया है, वह प्रत्याख्यान कर लेना। मूलाचार मे इसका नाम विखण्डित है, पर दोनो मे अर्थभेद नही है। प्रस्तुत प्रत्याख्यान चतुर्दश पूर्वधारी जिनकल्पी श्रमण, दश पूर्वधारी श्रमण के लिये है, क्योकि उनका सकल्पबल इतना सुदृढ होता है कि किसी भी प्रकार की कोई भी बाधा उनको निश्चय से विचलित नही कर सकती। जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् जिनकल्प का विच्छेद हो गया है, इसलिये यह प्रत्याख्यान भी वर्तमान मे नही है।

---

१०८ तत्तो चरित्तधम्मो, कम्मविवेगो तओ अपुव्व तु।
तत्तो केवलनाण, तओ य मुक्खो सयासुक्खो॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, १५९६

१०९ भगवतीसूत्र ७।२

११० स्थानागवृत्ति पत्र ४७२-४७३

१११ आवश्यकनिर्युक्ति, अध्ययन ६

११२ मूलाचार, षट्आवश्यक अधिकार, गाथा १४०-१४१

५ साकार—प्रत्याख्यान करते समय साधक मन में विशेष आकार की कल्पना करता है—यदि इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होगी तो मै इसका त्याग करता हूँ। दूसरे शब्दो मे यूँ कहा जा सकता है कि मन मे अपवाद की कल्पना करके जो त्याग किया जाता है, वह साकार प्रत्याख्यान है।

६ निराकार—यह प्रत्याख्यान किसी प्रकार का अपवाद रखे बिना किया जाता है। इस प्रत्याख्यान मे दृढ मनोबल की अपेक्षा होती है। आचार्य अभयदेव ने पाचवे, छठे प्रत्याख्यान के सम्बन्ध मे लिखा है कि साकार प्रत्याख्यान मे सभी प्रकार के अपवाद व्यवहार मे लाये जा सकते है—पर अनाकार प्रत्याख्यान मे महत्तर की आज्ञा आदि अपवाद भी व्यवहार मे नही लाये जा सकते, तथापि अनाभोग और सहसाकार की छूट इनमे भी रहती है। वसुनन्दी ने आकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अमुक नक्षत्र मे अमुक तपस्या करनी है। नक्षत्र आदि के भेद के आधार पर लम्बे समय की तपस्या करना साकार प्रत्याख्यान है। नक्षत्र आदि का विचार किये बिना स्वेच्छा से उपवास आदि करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

७ परिमाणव्रत—श्रमण भिक्षा के लिये जाते समय या आहार ग्रहण करते समय यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि मै आज इतना ही ग्रास ग्रहण करूगा। अथवा भोजन लेने के लिये गृहस्थ के यहाँ जाते समय मन मे यह विचार करना कि अमुक प्रकार का आहार प्राप्त होगा तो ही मै ग्रहण करूगा, अन्यथा नही। जैसे भिक्षुप्रतिमाधारी श्रमण दत्ति आदि का परिमाण करके ही आहार लेते है। मूलाचार मे परिमाणकृत के स्थान पर परिमाणगत शब्द आया है।

८ नीरवशेष—अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चारो प्रकार के आहार का पूर्ण रूप से परित्याग करना। वसुनन्दी श्रमण का यह अभिमत है कि यह प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिये होता है। पर श्वेताम्बर आगम साहित्य मे इस प्रकार का कोई वर्णन नही है।

९ साकेतिक—जो प्रत्याख्यान सकेतपूर्वक किया जाये, वह साकेतिक प्रत्याख्यान है। जैसे मुट्ठी बाधकर या किसी वस्त्र मे गाठ लगाकर—जब तक मै मुट्ठी या गाठ नही खोलूगा तब तक कोई भी वस्तु मुख मे नही डालूगा। जिस प्रत्याख्यान मे साधक अपनी सुविधा के अनुसार प्रत्याख्यान करता है, वह साकेतिक प्रत्याख्यान कहलाता है। मूलाचार मे इसका नाम अद्धानगत है। वसुनन्दी श्रमण ने अद्धानगत प्रत्याख्यान का अर्थ मार्गविषयक प्रत्याख्यान किया है। यह अटवी, नदी आदि को पार करते समय उपवास करने की पद्धति का सूचक है। सहेतुक प्रत्याख्यान का अर्थ है—उपसर्ग आदि आने पर किया जाने वाला उपवास।

१० अद्धा—समय विशेष की मर्यादा निश्चित करके प्रत्याख्यान करना। इस प्रत्याख्यान के अन्तर्गत (नमोक्कार सहित) नवकारसी, पोरसी, पूर्वार्द्ध, एकाशन, एकस्थान, आचाम्ल, उपवास, दिवसचरिम, अभिग्रह, निर्विकृतिक, ये दस प्रत्याख्यान आते है। अद्धा का अर्थ काल है। आचार्य अभयदेव ने अद्धा का अर्थ पोरसी आदि कालमान के आधार पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान किया है।

प्रत्याख्यान मे आत्मा मन, वचन और काया की दुष्ट प्रवृत्तियो को रोककर शुभ प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त होता है। आश्रव का निरुन्धन होने से साधक पूर्ण निस्पृह हो जाता है, जिससे उसे शान्ति उपलब्ध होती है। प्रत्याख्यान मे साधक जिन पदार्थो को ग्रहण करने की छूट रखता है, उन पदार्थो को भी ग्रहण करते समय आसक्त नही होता। प्रत्याख्यान से साधक के जीवन मे अनासक्ति की विशेष जागृति होती है।

साधना के क्षेत्र मे प्रत्याख्यान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। प्रत्याख्यान मे किसी भी प्रकार का दोष न

लगे, इसके लिये साधक को सतत जागरूक रहना चाहिये। इसीलिये आवश्यक मे छह प्रकार की विशुद्धि का उल्लेख है। ये विशुद्धियाँ निम्नानुसार है—

१ श्रद्धानविशुद्धि—पच महाव्रत, बारह व्रत आदि रूप जो प्रत्याख्यान है, उसका श्रद्धा के साथ पालन करना।

२ ज्ञानविशुद्धि—जिनकल्प, स्थविरकल्प, मूलगुण, उत्तरगुण आदि जिस प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप है, उस स्वरूप को समीचीन रूप से जानना।

३ विनयविशुद्धि—मन, वचन और काया सहित प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान मे जितनी वन्दनाओ का विधान है, उतनी वन्दना अवश्य करनी चाहिये।

४ अनुभाषणाशुद्धि—प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय सद्‌गुरु के सम्मुख विनय मुद्रा मे खडे रहकर शुद्ध पाठ का उच्चारण करे।

५ अनुपालनाशुद्धि—भयकर वन मे या दुर्भिक्ष आदि मे या रुग्ण अवस्था मे व्रत का उत्साह के साथ सम्यक् प्रकार से पालन करे।

६ भावविशुद्धि—राग-द्वेष रहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान का पाठ करना।

आवश्यकनिर्युक्ति मे आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है कि प्रत्याख्यान मे तीन प्रकार के दोष लगने की सम्भावना रहती है। अत साधक को उन दोषो से बचना चाहिये। वे दोष इस प्रकार है—

१ अमुक व्यक्ति ने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, जिसके कारण उसका समाज मे आदर हो रहा है। मै भी इसी प्रकार का प्रत्याख्यान करू, जिससे मेरा आदर हो। ऐसी राग भावना को लेकर प्रत्याख्यान करना।

२ मै ऐसा प्रत्याख्यान करूँ जिसके कारण जिन्होने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, उनकी कीर्ति-कौमुदी धुंधली हो जाये। इस प्रकार दूसरो के प्रति दुर्भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इस प्रकार के प्रत्याख्यान मे तीव्र द्वेष प्रकट होता है।

३ इस लोक मे मुझे यश प्राप्त होगा और परलोक मे भी मेरे जीवन मे सुख और शान्ति की वशी बजेगी, इस भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इसमे यश की अभिलाषा, वैभवप्राप्ति की कामना आदि रही हुई है।

शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—गुरुदेव! किस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है और किस साधक का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है?

भगवान् ने समाधान दिया—जिस साधक को जीव-अजीव का परिज्ञान है, प्रत्याख्यान किस उद्देश्य से किया जा रहा है, इसकी पूर्ण जानकारी है, उस साधक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। जिस साधक को जीव-अजीव का परिज्ञान नही है, जो अज्ञान की प्रधानता के कारण प्रत्याख्यान करता हुआ भी प्रत्याख्यान के मर्म को नही जानता, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। अत ऐसा प्रत्याख्यान करने वाला असयत है, अविरत है और एकान्त बाल है।[११३]

---

११३ एव खलु से दुप्पच्चक्खाई सव्वपाणेहि जाव सव्वसत्तेहि पच्चक्खायमिति वदमाणो नो सच्च भास भासइ, मोस भास भासइ । —भगवती ८।२

प्रवचनसारोद्धार,[114] योगशास्त्र[115] आदि ग्रन्थो मे प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले साधक और ग्रहण कराने वाले साधक की योग्यता और अयोग्यता को लक्ष्य मे रखकर चतुर्भंगी का प्रतिपादन किया है—

१ प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी विवेकी हो और प्रत्याख्यानप्रदाता गुरु भी गीतार्थ हो तो वह पूर्ण शुद्ध प्रत्याख्यान है।

२ प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के रहस्य को नही जानता पर प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को जानता है और वह प्रत्याख्यान करने वाले शिष्य को प्रत्याख्यान का मर्म सम्यक् प्रकार से समझा देता हे तो शिष्य का प्रत्याख्यान सही प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि वह उसके मम को नही समझता है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

३ प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को नही जानता है किन्तु जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रहा है वह प्रत्याख्यान के रहस्य को जानता है, तो वह प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है। यदि प्रत्याख्यान-ज्ञाता गुरु विद्यमान हों, उनकी उपस्थिति मे भी परम्परा आदि की दृष्टि से अगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण करना अनुचित हे।

४ प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के मर्म को नही जानता और जिससे प्रत्याख्यान ग्रहण करना है, वह भी प्रत्याख्यान के रहस्य से अनभिज्ञ है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

षडावश्यक मे प्रत्याख्यान सुमेरु के स्थान पर है। प्रत्याख्यान से भविष्य मे आने वाली अव्रत की सभी क्रियाएँ रुक जाती है और साधक नियमो-उपनियमो का सम्यक् पालन करता है। उत्तराध्ययन मे प्रत्याख्यान के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए निम्न प्रकार बताये है—

१ सभोग-प्रत्याख्यान[116]—श्रमणो द्वारा लाये हुए आहार को एक स्थान पर मण्डलीबद्ध बैठकर खाने का परित्याग करना। इससे जीव स्वावलम्बी होता है और अपने द्वारा प्राप्त लाभ से ही सन्तुष्ट रहता है।

२ उपधि-प्रत्याख्यान[117]—वस्त्र आदि उपकरणो का त्याग करना। इससे स्वाध्याय आदि करने मे विघ्न उपस्थित नही होता। आकाक्षा रहित होने से वस्त्र आदि मागने की और उनकी रक्षा करने की उसे इच्छा नही होती तथा मन मे सक्लेश भी नही होता।

३ आहार-प्रत्याख्यान[118]—आहार का परित्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नही रहता। निर्ममत्व होने से आहार के अभाव मे भी उसे किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नही होती।

४ योग-प्रत्याख्यान[119]—मन, वचन और काय सम्बन्धी प्रवृत्ति को रोकना योग-प्रत्याख्यान है। यह

---

११४ जाणगो जाणगसगासे, अजाणगो जाणगसगासे, जाणगो अजाणगसगासे, अजाणगो अजाणगसगासे।
—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

११५ योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति

११६ उत्तराध्ययन २९।३३

११७ उत्तराध्ययन २९।३४

११८ उत्तराध्यन २९।३५

११९ उत्तराध्ययन २९।३७

चौदहवे गुणस्थान मे प्राप्त होता है। ऐसा साधक नूतन कर्मो का बन्ध नही करता वरन् पूवसचित कर्मो को क्षय करता है।

५ सद्भाव-प्रत्याख्यान[120]—सभी प्रकार की प्रवृत्तियो का परित्याग कर वीतराग अवस्था को प्राप्त करना। इससे जीव सभी प्रकार के कर्मो से मुक्त हो जाता है।

६ शरीर-प्रत्याख्यान[121]—इससे अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

७ सहाय-प्रत्याख्यान[122]—अपने कार्य मे किसी का भी सहयोग न लेना। इससे जीव एकत्वभाव को प्राप्त करता है। एकत्वभाव प्राप्त होने से वह शब्दविहीन, कलहविहीन, सयमबहुल तथा समाधिबहुल हो जाता है।

८ कषाय-प्रत्याख्यान[123]—सामान्य रूप से कषाय को सयमी साधक जीतता ही है, जिससे साधक कर्मो का बन्ध नही करता। कषायो पर विजय प्राप्त करने से उसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयो के प्रति ममत्व या द्वेष नही होता। इस प्रकार उत्तराध्ययन मे प्रत्याख्यानो के प्रकार व उसके फल निरूपित किये है। प्रत्याख्यान से भविष्य मे होने वाले पापकृत्य रुक जाते है और साधक का जीवन सयम के सुहावने आलोक से जगमगाने लगता है।

इस प्रकार षडावश्यक साधक के लिये अवश्य करणीय है। साधक चाहे श्रावक हो अथवा श्रमण, वह इन क्रियाओ को करता ही है। हाँ, इन दोनो की गहराई और अनुभूति मे तीव्रता, मदता हो सकती है और होती है। श्रावक की अपेक्षा श्रमण इन क्रियाओ को अधिक तल्लीनता के साथ कर सकता है क्योकि वह ससार-त्यागी है, आरम्भ-समारम्भ से सवथा विरत है। इसी कारण उसकी साधना मे श्रावक की अपेक्षा अधिक तेजस्विता होती है। षडावश्यको का साधक के जीवन मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आवश्यक से जहाँ आध्यात्मिक शुद्धि होती है, वहाँ लौकिक जीवन मे भी समता, नम्रता, क्षमाभाव आदि सद्गुणो की वृद्धि होने से आनन्द के निर्मल निर्झर बहने लगते है।

व्याख्यासाहित्य

आवश्यकसूत्र एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि उस पर सबसे अधिक व्याख्याएँ लिखी गयी है। इसके मुख्य व्याख्याग्रन्थ ये है—

निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, स्तबक (टब्बा) और हिन्दी विवेचन।

आगमो पर दस निर्युक्तिया प्राप्त है। उन दस निर्युक्तियो मे प्रथम निर्युक्ति का नाम आवश्यकनिर्युक्ति है। आवश्यकनिर्युक्ति मे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो पर विस्तार से चर्चा की गई है। उसके पश्चात् की निर्युक्तियो मे उन विषयो की चर्चाए न कर आवश्यकनिर्युक्ति को देखने का सकेत किया गया है। अन्य निर्युक्तियो को समझने के लिये आवश्यकनिर्युक्ति को समझना आवश्यक है। इसमे सवप्रथम उपोद्घात है, जो भूमिका के रूप मे है। उसमे ८८० गाथाए है। प्रथम पाँच ज्ञानो का विस्तार से निरूपण है।

---

१२० उत्तराध्ययन २९।४१

१२१ उत्तराध्ययन २९।३८

१२२ उत्तराध्ययन २९।३९

१२३ उत्तराध्ययन २९।३६

प्रवचनसारोद्धार,[114] योगशास्त्र[115] आदि ग्रन्थो मे प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले साधक और ग्रहण कराने वाले साधक की योग्यता और अयोग्यता को लक्ष्य मे रखकर चतुर्भंगी का प्रतिपादन किया है—

१ प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी विवेकी हो और प्रत्याख्यानप्रदाता गुरु भी गीतार्थ हो तो वह पूर्ण शुद्ध प्रत्याख्यान है।

२ प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के रहस्य को नही जानता पर प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को जानता है और वह प्रत्याख्यान करने वाले शिष्य को प्रत्याख्यान का मर्म सम्यक् प्रकार से समझा देता है तो शिष्य का प्रत्याख्यान सही प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि वह उसके मर्म को नही समझता है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

३ प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को नही जानता है किन्तु जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रहा है वह प्रत्याख्यान के रहस्य को जानता है, तो वह प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है। यदि प्रत्याख्यान-ज्ञाता गुरु विद्यमान हो, उनकी उपस्थिति मे भी परम्परा आदि की दृष्टि से अगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण करना अनुचित है।

४ प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के मर्म को नही जानता और जिससे प्रत्याख्यान ग्रहण करना है, वह भी प्रत्याख्यान के रहस्य से अनभिज्ञ है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

षडावश्यक में प्रत्याख्यान सुमेरु के स्थान पर है। प्रत्याख्यान से भविष्य मे आने वाली अव्रत की सभी क्रियाएँ रुक जाती है और साधक नियमो-उपनियमो का सम्यक् पालन करता है। उत्तराध्ययन मे प्रत्याख्यान के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए निम्न प्रकार बताये है—

१ सभोग-प्रत्याख्यान[116]—श्रमणो द्वारा लाये हुए आहार को एक स्थान पर मण्डलीबद्ध बैठकर खाने का परित्याग करना। इससे जीव स्वावलम्बी होता है और अपने द्वारा प्राप्त लाभ से ही सन्तुष्ट रहता है।

२ उपधि-प्रत्याख्यान[117]—वस्त्र आदि उपकरणो का त्याग करना। इससे स्वाध्याय आदि करने मे विघ्न उपस्थित नही होता। आकाक्षा रहित होने से वस्त्र आदि मागने की और उनकी रक्षा करने की उसे इच्छा नही होती तथा मन मे सक्लेश भी नही होता।

३ आहार-प्रत्याख्यान[118]—आहार का परित्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नही रहता। निर्ममत्व होने से आहार के अभाव मे भी उसे किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नही होती।

४ योग-प्रत्याख्यान[119]—मन, वचन और काय सम्बन्धी प्रवृत्ति को रोकना योग-प्रत्याख्यान है। यह

---

११४ जाणगो जाणगसगासे, अजाणगो जाणगसगासे, जाणगो अजाणगसगासे, अजाणगो अजाणगसगासे।
—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

११५ योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति

११६ उत्तराध्ययन २९।३३

११७ उत्तराध्ययन २९।३४

११८ उत्तराध्यन २९।३५

११९ उत्तराध्ययन २९।३७

चौदहवे गुणस्थान मे प्राप्त होता है। ऐसा साधक नूतन कर्मो का बन्ध नही करता वरन् पूवसचित कर्मो को क्षय करता है।

५ सद्भाव-प्रत्याख्यान[120]—सभी प्रकार की प्रवृत्तियो का परित्याग कर वीतराग अवस्था को प्राप्त करना। इसमे जीव सभी प्रकार के कर्मो से मुक्त हो जाता है।

६ शरीर-प्रत्याख्यान[121]—इससे अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त होनी है।

७ सहाय-प्रत्याख्यान[122]—अपने कार्य मे किसी का भी सहयोग न लेना। इनसे जीव एकत्वभाव को प्राप्त करता है। एकत्वभाव प्राप्त होने से वह शब्दविहीन, कलहविहीन, सयमबहुल तथा समाधिबहुल हो जाता है।

८ कषाय-प्रत्याख्यान[123]—सामान्य रूप से कषाय को सयमी साधक जीतता ही है, जिससे साधक कर्मो का बन्ध नही करता। कषायो पर विजय प्राप्त करने से उसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयो के प्रति ममत्व या द्वेष नही होता। इस प्रकार उत्तराध्ययन मे प्रत्याख्यानो के प्रकार व उसके फल निरूपित किये है। प्रत्याख्यान से भविष्य मे होने वाले पापकृत्य रुक जाते है और साधक का जीवन सयम के सुहावने आलोक से जगमगाने लगता है।

इस प्रकार षडावश्यक साधक के लिये अवश्य करणीय है। साधक चाहे श्रावक हो अथवा श्रमण, वह इन क्रियाओ को करता ही है। हाँ, इन दोनो की गहराई और अनुभूति मे तीव्रता, मदता हो सकती है और होती है। श्रावक की अपेक्षा श्रमण इन क्रियाओ को अधिक तल्लीनता के साथ कर सकता है क्योकि वह ससार-त्यागी है, आरम्भ-समारम्भ से सवथा विरत है। इसी कारण उसकी साधना मे श्रावक की अपेक्षा अधिक तेजस्विता होती है। षडावश्यको का साधक के जीवन मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आवश्यक से जहाँ आध्यात्मिक शुद्धि होती है, वहाँ लौकिक जीवन मे भी समता, नम्रता, क्षमाभाव आदि सद्गुणो की वृद्धि होने से आनन्द के निर्मल निर्झर बहने लगते है।

व्याख्यासाहित्य

आवश्यकसूत्र एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि उस पर सबसे अधिक व्याख्याएँ लिखी गयी है। इसके मुख्य व्याख्याग्रन्थ ये है—

निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, स्तवक (टब्बा) और हिन्दी विवेचन।

आगमो पर दस निर्युक्तिया प्राप्त है। उन दस निर्युक्तियो मे प्रथम निर्युक्ति का नाम आवश्यकनिर्युक्ति है। आवश्यकनिर्युक्ति मे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो पर विस्तार से चर्चा की गई है। उसके पश्चात् की निर्युक्तियो मे उन विषयो की चर्चाए न कर आवश्यकनिर्युक्ति को देखने का सकेत किया गया है। अन्य निर्युक्तियो को समझने के लिये आवश्यकनिर्युक्ति को समझना आवश्यक है। इसमे सवप्रथम उपोद्घात है, जो भूमिका के रूप मे है। उसमे ८८० गाथाए है। प्रथम पाँच ज्ञानो का विस्तार से निरूपण है।

१२० उत्तराध्ययन २९।४१
१२१ उत्तराध्ययन २९।३८
१२२ उत्तराध्ययन २९।३९
१२३ उत्तराध्ययन २९।३६

प्रवचनसारोद्धार,[114] योगशास्त्र[115] आदि ग्रन्थो मे प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले साधक और ग्रहण कराने वाले साधक की योग्यता और अयोग्यता को लक्ष्य मे रखकर चतुर्भंगी का प्रतिपादन किया है—

१ प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी विवेकी हो और प्रत्याख्यानप्रदाता गुरु भी गीतार्थ हो तो वह पूर्ण शुद्ध प्रत्याख्यान है।

२ प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के रहस्य को नही जानता पर प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को जानता है और वह प्रत्याख्यान करने वाले शिष्य को प्रत्याख्यान का मर्म सम्यक् प्रकार से समझा देता है तो शिष्य का प्रत्याख्यान सही प्रत्याख्यान हो जाता है। यदि वह उसके मर्म को नही समझता है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

३ प्रत्याख्यान प्रदान करने वाला गुरु प्रत्याख्यान के मर्म को नही जानता है किन्तु जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रहा है वह प्रत्याख्यान के रहस्य को जानता है, तो वह प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है। यदि प्रत्याख्यान-ज्ञाता गुरु विद्यमान हो, उनकी उपस्थिति मे भी परम्परा आदि की दृष्टि से अगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण करना अनुचित है।

४ प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला प्रत्याख्यान के मर्म को नही जानता और जिससे प्रत्याख्यान ग्रहण करना है, वह भी प्रत्याख्यान के रहस्य से अनभिज्ञ है तो उसका प्रत्याख्यान अशुद्ध प्रत्याख्यान है।

षडावश्यक मे प्रत्याख्यान सुमेरु के स्थान पर है। प्रत्याख्यान से भविष्य मे आने वाली अव्रत की सभी क्रियाएँ रुक जाती है और साधक नियमो-उपनियमो का सम्यक् पालन करता है। उत्तराध्ययन मे प्रत्याख्यान के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए निम्न प्रकार बताये है—

१ सभोग-प्रत्याख्यान[116]—श्रमणो द्वारा लाये हुए आहार को एक स्थान पर मण्डलीबद्ध बैठकर खाने का परित्याग करना। इससे जीव स्वावलम्बी होता है और अपने द्वारा प्राप्त लाभ से ही सन्तुष्ट रहता है।

२ उपधि-प्रत्याख्यान[117]—वस्त्र आदि उपकरणो का त्याग करना। इससे स्वाध्याय आदि करने मे विघ्न उपस्थित नही होता। आकाक्षा रहित होने से वस्त्र आदि मागने की और उनकी रक्षा करने की उसे इच्छा नही होती तथा मन मे सक्लेश भी नही होता।

३ आहार-प्रत्याख्यान[118]—आहार का परित्याग करने से जीवन के प्रति ममत्व नही रहता। निर्ममत्व होने से आहार के अभाव मे भी उसे किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नही होती।

४ योग-प्रत्याख्यान[119]—मन, वचन और काय सम्बन्धी प्रवृत्ति को रोकना योग-प्रत्याख्यान है। यह

---

११४ जाणगो जाणगसगासे, अजाणगो जाणगसगासे, जाणगो अजाणगसगासे, अजाणगो अजाणगसगासे।
—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

११५ योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति

११६ उत्तराध्ययन २९।३३

११७ उत्तराध्ययन २९।३४

११८ उत्तराध्यन २९।३५

११९ उत्तराध्ययन २९।३७

चौदहवे गुणस्थान मे प्राप्त होता है। ऐसा साधक नूतन कर्मो का बन्ध नही करता वरन् पूर्वसचित कर्मो को क्षय करता है।

५ सद्भाव-प्रत्याख्यान[120]—सभी प्रकार की प्रवृत्तियो का परित्याग कर वीतराग अवस्था को प्राप्त करना। इससे जीव सभी प्रकार के कर्मो से मुक्त हो जाता है।

६ शरीर-प्रत्याख्यान[121]—इससे अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

७ सहाय-प्रत्याख्यान[122]—अपने कार्य मे किसी का भी सहयोग न लेना। इससे जीव एकत्वभाव को प्राप्त करता है। एकत्वभाव प्राप्त होने से वह शब्दविहीन, कलहविहीन, सयमबहुल तथा समाधिबहुल हो जाता है।

८ कषाय-प्रत्याख्यान[123]—सामान्य रूप से कषाय को सयमी साधक जीतता ही है, जिससे साधक कर्मो का बन्ध नही करता। कषायो पर विजय प्राप्त करने से उसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयो के प्रति ममत्व या द्वेष नही होता। इस प्रकार उत्तराध्ययन मे प्रत्याख्यानो के प्रकार व उसके फल निरूपित किये है। प्रत्याख्यान से भविष्य मे होने वाले पापकृत्य रुक जाते है और साधक का जीवन सयम के सुहावने आलोक से जगमगाने लगता है।

इस प्रकार षडावश्यक साधक के लिये अवश्य करणीय है। साधक चाहे श्रावक हो अथवा श्रमण, वह इन क्रियाओ को करता ही है। हाँ, इन दोनो की गहराई और अनुभूति मे तीव्रता, मदता हो सकती है और होती है। श्रावक की अपेक्षा श्रमण इन क्रियाओ को अधिक तल्लीनता के साथ कर सकता है क्योकि वह ससार-त्यागी है, आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा विरत है। इसी कारण उसकी साधना मे श्रावक की अपेक्षा अधिक तेजस्विता होती है। षडावश्यको का साधक के जीवन मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आवश्यक से जहाँ आध्यात्मिक शुद्धि होती है, वहाँ लौकिक जीवन मे भी समता, नम्रता, क्षमाभाव आदि सद्गुणो की वृद्धि होने से आनन्द के निर्मल निर्झर बहने लगते है।

व्याख्यासाहित्य

आवश्यकसूत्र एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि उस पर सबसे अधिक व्याख्याएँ लिखी गयी है। इसके मुख्य व्याख्याग्रन्थ ये है—

निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, स्तवक (टब्बा) और हिन्दी विवेचन।

आगमो पर दस निर्युक्तिया प्राप्त है। उन दस निर्युक्तियो मे प्रथम निर्युक्ति का नाम आवश्यकनिर्युक्ति है। आवश्यकनिर्युक्ति मे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो पर विस्तार से चर्चा की गई है। उसके पश्चात् की निर्युक्तियो मे उन विषयो की चर्चाए न कर आवश्यकनिर्युक्ति को देखने का सकेत किया गया है। अन्य निर्युक्तियो को समझने के लिये आवश्यकनिर्युक्ति को समझना आवश्यक है। इसमे सर्वप्रथम उपोद्घात है, जो भूमिका के रूप मे है। उसमे ८८० गाथाए है। प्रथम पाँच ज्ञानो का विस्तार से निरूपण है।

---

१२० उत्तराध्ययन २९।४१

१२१ उत्तराध्ययन २९।३८

१२२ उत्तराध्ययन २९।३९

१२३ उत्तराध्ययन २९।३६

ज्ञान के वर्णन के पश्चात् नियु क्ति मे षडावश्यक का निरूपण है। उसमे सर्वप्रथम सामायिक है। चारित्र का प्रारम्भ ही सामायिक से होता है। मुक्ति के लिये ज्ञान और चारित्र ये दोनो आवश्यक है। सामायिक का अधिकारी श्रुतज्ञानी होता है। वह क्षय, उपशम, क्षयोपशम कर केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करता है। सामायिकश्रुत का अधिकारी ही तीर्थंकर जैसे गौरवशाली पद को प्राप्त करता है। तीर्थंकर केवलज्ञान होने के पश्चात् जिस श्रुत का उपदेश करते है—वही जिनप्रवचन है। उस पर विस्तार से चिन्तन करने के पश्चात् सामायिक पर उद्देश्य, निर्देश, निर्गम आदि २६ बातो के द्वारा विवेचन किया गया है। मिथ्यात्व का निर्गमन किस प्रकार किया जाता है, इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए निर्युक्तिकार ने महावीर के पूर्व भवो का वर्णन, उसमे कुलकरो की चर्या, भगवान् ऋषभदेव का जीवन-परिचय आदि विस्तृत रूप से दिया है। निह्नवो का भी निरूपण है।

नय दृष्टि से सामायिक पर चिन्तन करने के पश्चात् सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र—ये तीन सामायिक के भेद किये गये है। जिसकी आत्मा सयम, नियम और तप मे रमण करती है, जिसके अन्तर्मानस मे प्राणिमात्र के प्रति समभाव का समुद्र ठाठे मारता है—वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। सामायिकसूत्र के प्रारम्भ मे नमस्कार महामन्त्र आता है। इसलिये नमस्कार मत्र की उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल—इन ग्यारह दृष्टियो से नमस्कार महामत्र पर चिन्तन किया गया है जो साधक के लिये बहुत ही उपयोगी है। (सर्वविरति) सामायिक मे तीन करण और तीन योग से सावद्य प्रवृत्ति का त्याग होता है।

दूसरा अध्ययन चतुर्विशतिस्तव का है। इसमे नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह निक्षेपो की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्ययन वन्दना का है। चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म, ये वन्दना के पर्यायवाची है। वन्दना किसे करनी चाहिये ? किसके द्वारा होनी चाहिये ? कब होनी चाहिये ? कितनी बार होनी चाहिये ? कितनी बार सिर झुकना चाहिये ? कितने आवश्यको से शुद्धि होनी चाहिये ? कितने दोषो से मुक्ति होनी चाहिये ? वन्दना किसलिये करनी चाहिये ? प्रभृति नो बातो पर विचार किया गया है। वही श्रमण वन्दनीय है जिसका आचार उत्कृष्ट है और विचार निर्मल है। जिस समय वह प्रशान्त, आश्वस्त और उपशान्त हो, उसी समय वन्दना करनी चाहिये।

चतुर्थ अध्ययन का नाम प्रतिक्रमण है। प्रमाद के कारण आत्मभाव से जो आत्मा मिथ्यात्व आदि परस्थान मे जाता है, उसका पुन अपने स्थान मे आना प्रतिक्रमण है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि—ये प्रतिक्रमण के पर्यायवाची है। इनके अर्थ को समझाने के लिये निर्युक्ति मे अनेक दृष्टान्त दिये गये है। नागदत्त आदि की कथाएँ दी गई है। इसके पश्चात् आलोचना, निरपलाप, आपत्ति, दृढधर्मता आदि ३२ योगो का सग्रह किया गया है और उन्हे समझाने के लिये महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त वारत्तक, वैद्य धनवन्तरि, करकण्डु, आर्य पुष्पभूति आदि के उदाहरण भी दिये गये है। साथ ही स्वाध्याय-अस्वाध्याय के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है।

पाँचवे अध्ययन मे कायोत्सर्ग का निरूपण है। कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग ये एकार्थवाची है। कुछ दोष आलोचना से ठीक होते है तो कुछ दोष प्रतिक्रमण से और कुछ दोष कायोत्सर्ग से ठीक होते है। कायोत्सर्ग से देह और बुद्धि की जडता मिटती है। सुख-दु ख को सहन करने की क्षमता समुत्पन्न होती है। उसमे अनित्य,

अशरण आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन होता है। मन की चचलता नष्ट होकर शुभ ध्यान का अभ्यास निरन्तर बढता है। निर्युक्तिकार ने शुभ ध्यान पर चिन्तन करते हुए कहा है कि अन्तमुहूर्त तक जो चित्त की एकाग्रता हे, वही ध्यान है। उस ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल—ये चार प्रकार बताय है। प्रथम दो ध्यान ससार-अभिवृद्धि के हेतु होने से उन्हे अपध्यान कहा हे और अन्तिम दो ध्यान मोक्ष का कारण होन से प्रशस्त हे। ध्यान और कायोत्सर्ग के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की जानकारी दी गई है जो ज्ञानवद्धक है। श्रमण को अपने सामथ्य के अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिये। शक्ति से अधिक समय तक कायोत्सग करने स अनेक प्रकार के दोष समुत्पन्न हो सकते हे। कायोत्सग के समय कपटपूवक निद्रा लेना, सूत्र और अथ की प्रतिपृच्छा करना, काटा निकालना, लघुशका आदि करने के लिये चले जाना उचित नही है। इससे उस कार्य के प्रति उपेक्षा प्रकट होती है। कायोत्सर्ग के घोटक आदि १९ दोष भी बताए हैं। जो देहबुद्धि से परे ह, वही व्यक्ति कायोत्सग का सच्चा अधिकारी है।

छट्ठे अध्ययन प्रत्याख्यान का प्रत्याख्यान, प्रत्याख्याता, प्रत्याख्येय, पषद, कथनविधि और फल, इन छह दष्टियो से विवेचन किया गया हे। प्रत्याख्यान के नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा, प्रतिषेध और भाव, ये छह प्रकार ह। प्रत्याख्यान की विशुद्धि श्रद्धा, ज्ञान, विनय, अनुभाषणा, अनुपालन और भाव—इन छह प्रकार से होती हे। प्रत्याख्यान से आश्रव का निरुन्धन होता हे। ममता की सरिता मे अवगाहन किया जाता है। चारित्र की आराधना करने से कर्मो की निर्जरा होती है। अपूर्वकरण कर क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर केवल-ज्ञान प्राप्त होता है और अन्त मे मोक्ष का अव्याबाध सुख मिलता है। प्रत्याख्यान का अधिकारी वही साधक है जो विक्षिप्त और अविनीत न हो।

आवश्यकनिर्युक्ति मे श्रमण जीवन को तेजस्वी-वर्चस्वी बनाने वाले जितने भी नियमोपनियम ह, उन सबकी चर्चा विस्तार से की गई हे। प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यो का प्रतिपादन भी इस निर्युक्ति मे हुआ ह। प्रस्तुत निर्युक्ति के रचयिता आचाय भद्रबाहु ह। इतिहासविज्ञो का अभिमत ह कि जैन इतिहास मे भद्रबाहु नामक अनेक आचाय हुए हे, उनमे एक चतुर्दश पूर्वधारी आचाय भद्रबाहु नेपाल मे महाप्राणायाम नामक योग की साधना करने गए थे, वे श्वेताम्बर परम्परा की दष्टि से छेदसूत्रकार थे। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वे भद्रबाहु नेपाल न जाकर दक्षिण मे गए थे। पर हमारी दष्टि से ये दोनो भद्रबाहु एक न होकर पृथक्-पृथक् रहे होगे। क्योकि जो नेपाल गये थे वे दक्षिण मे नही गए ह और जो दक्षिण मे गए थे वे नेपाल नही गए थे। निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर भ्राता थे। उनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है। आगमप्रभाकर पुण्यविजयजी का मन्तव्य हे कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तिया प्रारम्भ की और द्वितीय भद्रबाहु तक उन निर्युक्तियो मे विकास होता रहा। इस प्रकार निर्युक्तियो मे कुछ गाथाए बहुत ही प्राचीन ह तो कुछ अर्वाचीन ह। वतमान मे जो निर्युक्तिया हे, वे चतुदश पूर्वधर भद्रबाहु के द्वारा पूण रूप से रचित नही है। क्योकि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया हे। हमारे अभिमतानुसार समवायाग, स्थानाग एव नन्दी मे जहाँ पर द्वादशागी का परिचय प्रदान किया गया ह, वहाँ पर 'सखेज्जाओ निज्जुत्तीओ' यह पाठ प्राप्त होता हे। इससे यह स्पष्ट हे कि निर्युक्तियो की परम्परा आगम काल मे भी थी। प्रत्येक आचार्य या उपाध्याय अपने शिष्यो को आगम का रहस्य हृदयगम कराने के लिये अपनी-अपनी दष्टि से निर्युक्तियो की रचना करते रहे होगे। जैसे वतमान प्रोफेसर विद्यार्थियो को नोट्स लिखवाते ह, वैसे ही निर्युक्तिया रही होगी। उन्ही को मूल आधार बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियो को अन्तिम रूप दिया होगा।

निर्युक्तियो के पश्चात् भाष्य साहित्य लिखा गया । निर्युक्तियो की व्याख्याशैली बहुत ही गूढ और सक्षिप्त थी । उनमे विषय विस्तार का अभाव था । उसका मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करना था । निर्युक्तियो के गम्भीर रहस्यो को प्रकट करने के लिये विस्तार से प्राकृत भाषा मे जो पद्यात्मक व्याख्याए लिखी गई, वे भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है । निर्युक्तियो के शब्दो मे छिपे हुए अर्थबाहुल्य को अभिव्यक्त करने का श्रेय भाष्यकारो को हे । भाष्य मे अनेक स्थलो पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग दृष्टिगोचर होते है । मुख्य छन्द आर्या है । भाष्य साहित्य मे अनेक प्राचीन अनुश्रुतियो, लौकिक कथाओ और परम्परागत श्रमणो के आचार-विचार की विधियो का प्रतिपादन हे ।

भाष्य

भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का नाम जैन इतिहास मे गौरव के साथ उट्टकित हे । आवश्यकसूत्र पर उन्होने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की । आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए है—१ मूलभाष्य २ भाष्य और ३ विशेषावश्यकभाष्य । पहले के दो भाष्य बहुत ही सक्षेप मे लिखे गये है । उनकी बहुत सी गाथाए विशेषावश्यकभाष्य मे मिल गई हे । इसलिये विशेषावश्यकभाष्य दोनो भाष्यो का भी प्रतिनिधित्व करता हे । यह भाष्य केवल प्रथम अध्ययन सामायिक पर हे । इसमे ३६०३ गाथाए है ।

प्रस्तुत भाष्य मे जैनागमसाहित्य मे वर्णित जितने भी महत्त्वपूण विषय है, प्राय उन सभी पर चिन्तन किया है । ज्ञानवाद, प्रमाणवाद, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद पर विशद सामग्री का आकलन-सकलन हे । इसकी सबसे बडी विशेषता यह हे कि जैन दार्शनिक सिद्धान्तो की तुलना अन्य दार्शनिक सिद्धान्तो के साथ की गई हे । इसमे जैन आगमसाहित्य की मान्यताओ का तार्किक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है । आगम के गहन रहस्यो को समझने के लिए यह भाष्य बहुत ही उपयोगी है और इसी भाष्य का अनुसरण परवर्ती विज्ञो ने किया हे । सर्वप्रथम प्रवचन को नमस्कार किया है, उसके पश्चात् लिखा है कि ज्ञान और क्रिया दोनो से मोक्ष प्राप्त होता हे । आवश्यक स्वय ज्ञान-क्रियामय हे । उसी से सिद्धि सम्प्राप्त होती है । जैसे कुशल वैद्य बालक के लिये योग्य आहार की अनुमति देता है, वैसे ही भगवान् ने साधको के लिये आवश्यक की अनुमति प्रदान की हे । श्रेष्ठ कार्य मे विविध प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हे । उनकी शान्ति के लिये मगल का विधान है । ग्रन्थ मे मगल तीन स्थानो पर होता हे । मगल शब्द पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया हे । ज्ञान भावमगल हे । अत ज्ञान के पाचो भेदो का बहुत विस्तार के साथ निरूपण हे ।

आवश्यक पर नाम आदि निक्षेपो से चिन्तन किया गया है । द्रव्य-आवश्यक, आगम और नो-आगम रूप दो प्रकार का है । अधिकाक्षर पाठ के लिये राजपुत्र कुणाल का उदाहरण दिया हे । हीनाक्षर पाठ के लिये विद्याधर का उदाहरण दिया है । उभय के लिये बाल का उदाहरण दिया है और आतुर के लिये अतिमात्रा मे भोजन और भेषज विपर्यय के उदाहरण दिये हे । लोकोत्तर नोआगम रूप द्रव्यावश्यक के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये साध्वाभास का दृष्टान्त देकर समझाया है । भाव-आवश्यक भी आगम रूप ओर नोआगम रूप दो प्रकार का है । आवश्यक के अर्थ का जो उपयोग रूप परिणाम है वह आगम रूप भाव-आवश्यक हे । ज्ञान-क्रिया उभय रूप जो परिणाम है, वह नोआगम रूप भाव-आवश्यक है । षडावश्यक के पर्याय और उसके अर्थाधिकार पर विचार किया गया है ।

सामायिक पर चिन्तन करते हुए कहा है—समभाव ही सामायिक का लक्षण हे । सभी द्रव्यो का आधार आकाश है, वैसे ही सभी सद्गुणो का आधार सामायिक हे । सामायिक के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन भेद

है। किसी महानगर मे प्रवेश करने के लिये अनेक द्वार होते है, वैसे ही सामायिक अध्ययन के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय—ये चार द्वार है। इन चारो द्वारो का विस्तार से निरूपण किया गया है। सामायिकश्रुत का सार सामायिक है। चारित्र ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। ज्ञान से वस्तु का यथार्थ परिज्ञान होने से चारित्र की विशुद्धि होती है। केवलज्ञान होने पर भी जीव मुक्त नही होता। जब तक उसे सर्व सवर का लाभ न हो जाये। सामायिक का लाभ जीव को कब उपलब्ध होता है? इस पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि आठो कर्म प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितियो के रहते हुए जीव को सामायिक का लाभ नही हो सकता। नाम, गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटा-कोटि सागरोपम है। मोहनीय की सत्तर कोटा-कोटि सागरोपम है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की तीस कोटा-कोटि सागरोपम है। आयुकर्म की तेतीस सागरोपम है। मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बधती है, किन्तु आयुकर्म की स्थिति के लिये निश्चित नियम नही है। वह उत्कृष्ट और मध्यम और जघन्य तीनो प्रकार की स्थिति बन्ध सकती है। मोहनीय के अतिरिक्त ज्ञानावरण आदि किसी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर मोहनीय या अन्य कर्म की उत्कृष्ट या मध्यम स्थिति का बन्ध होता है किन्तु आयुकर्म की स्थिति जघन्य भी बध सकती है। सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत और सर्वव्रत-इन चार सामायिको मे से जिसने उत्कृष्ट कर्म-स्थिति का बन्ध किया है, वह एक भी सामायिक को प्राप्त नही कर सकता। किन्तु उसे पूर्वप्रतिपन्न विकल्प से होती भी है और नही भी होती। जैसे अनुत्तरविमानवासी देव मे पूर्वप्रतिपन्न सम्यक्त्व, श्रुत होते है, शेष मे नही। जिनकी ज्ञानावरण आदि की जघन्य स्थिति है, उनको भी इन चार सामायिको मे से एक का भी लाभ नही होता, क्योकि उसे पहले ही प्राप्त हो गई है। अत पुन प्राप्त करने का प्रश्न ही समुपस्थित नही होता। आयुकर्म की जघन्य स्थिति वाले को न यह पहले प्राप्त होती है और न वह प्राप्त ही कर सकता है।

इसके पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्ति के कारणो पर चिन्तन करते हुए ग्रन्थि-भेद का स्वरूप स्पष्ट किया है। आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की स्थिति, देशन्यून कोटा-कोटि सागरोपम की अवशेष रहती है तब आत्मा सम्यक्त्व के अभिमुख होता है। उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उसमे से पल्योपम पृथक्त्व का क्षय होने पर देशविरति—श्रावकत्व की प्राप्ति होती है। उसमे से भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर सर्वविरति चारित्र की उपलब्धि होती है। उसमे से सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर उपशमश्रेणी प्राप्त होती है। उसमे से भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर क्षपकश्रेणी प्राप्त होती है।

कषाय के उदय के कारण दर्शन आदि सामायिक प्राप्त नही हो सकती। यदि कदाचित् प्राप्त भी हो गई तो वह पुन नष्ट हो जाती है। जिससे कर्मों का लाभ हो वह कषाय है। अनन्तानुबन्धी-चतुष्क, अप्रत्याख्यानी-चतुष्क, प्रत्याख्यानी-चतुष्क इन बारह प्रकार के कषायो का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से चारित्र की प्राप्ति होती है। सामायिक मे सावद्य योग का त्याग होता है। वह इत्वर और यावत्कथिक के रूप मे दो प्रकार की है। इत्वर सामायिक अल्पकालीन होती है और यावत्कथिक जीवनपर्यन्त के लिये। भाष्यकार ने सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र का विस्तार से विवेचन किया है।

सामायिक चारित्र का उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविध, कस्य, कुत्र, केषु, कथम्, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन् और निरुक्ति, इन छब्बीस द्वारो से वर्णन किया है। सामायिक सम्बन्धी जितनी भी महत्त्वपूर्ण बाते है, वे सभी इन द्वारो मे समाविष्ट हो गई है। तृतीय निर्गम द्वार मे सामायिक की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए आचार्य ने भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो की चर्चा की है। सामायिक के ग्यारहवे द्वार समवतार पर विवेचन करते

निर्युक्तियो के पश्चात् भाष्य साहित्य लिखा गया । निर्युक्तियो की व्याख्याशैली वहुत ही गूढ और सक्षिप्त थी । उनमे विषय विस्तार का अभाव था । उसका मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करना था । निर्युक्तियो के गम्भीर रहस्यो को प्रकट करने के लिये विस्तार से प्राकृत भाषा मे जो पद्यात्मक व्याख्याए लिखी गई, वे भाष्य के नाम से प्रसिद्ध ह । नियुक्तियो के शब्दो मे छिपे हुए अर्थवाहुल्य को अभिव्यक्त करने का श्रेय भाष्यकारो को है । भाष्य मे अनेक स्थलो पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग दृष्टिगोचर होते ह । मुख्य छन्द आर्या है । भाष्य साहित्य मे अनेक प्राचीन अनुश्रुतियो, लौकिक कथाओ और परम्परागत श्रमणो के आचार-विचार की विधियो का प्रतिपादन हे ।

भाष्य

भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का नाम जैन इतिहास मे गौरव के साथ उट्टंकित है । आवश्यकसूत्र पर उन्होने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की । आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं—१ मूलभाष्य २ भाष्य और ३ विशेषावश्यकभाष्य । पहले के दो भाष्य बहुत ही सक्षेप मे लिखे गये है । उनकी बहुत सी गाथाए विशेषावश्यकभाष्य मे मिल गई हे । इसलिये विशेषावश्यकभाष्य दोनो भाष्यो का भी प्रतिनिधित्व करता हे । यह भाष्य केवल प्रथम अध्ययन सामायिक पर है । इसमे ३६०३ गाथाए ह ।

प्रस्तुत भाष्य मे जैनागमसाहित्य मे वर्णित जितने भी महत्त्वपूर्ण विषय ह, प्राय उन सभी पर चिन्तन किया है । ज्ञानवाद, प्रमाणवाद, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद पर विशद सामग्री का आकलन-सकलन है । इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि जैन दार्शनिक सिद्धान्तो की तुलना अन्य दार्शनिक सिद्धान्तो के साथ की गई है । इसमे जैन आगमसाहित्य की मान्यताओ का तार्किक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है । आगम के गहन रहस्यो को समझने के लिए यह भाष्य बहुत ही उपयोगी है और इसी भाष्य का अनुसरण परवर्ती विज्ञो ने किया है । सर्वप्रथम प्रवचन को नमस्कार किया है, उसके पश्चात् लिखा है कि ज्ञान और क्रिया दोनो से मोक्ष प्राप्त होता है । आवश्यक स्वय ज्ञान-क्रियामय है । उसी से सिद्धि सम्प्राप्त होती है । जैसे कुशल वैद्य वालक के लिये योग्य आहार की अनुमति देता है, वैसे ही भगवान् ने साधको के लिये आवश्यक की अनुमति प्रदान की है । श्रेष्ठ कार्य मे विविध प्रकार के विघ्न उपस्थित होते ह । उनकी शान्ति के लिये मगल का विधान है । ग्रन्थ मे मगल तीन स्थानो पर होता हे । मगल शब्द पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है । ज्ञान भावमगल हे । अत ज्ञान के पाचो भेदो का बहुत विस्तार के साथ निरूपण हे ।

आवश्यक पर नाम आदि निक्षेपो से चिन्तन किया गया है । द्रव्य-आवश्यक, आगम और नो-आगम रूप दो प्रकार का हे । अधिकाक्षर पाठ के लिये राजपुत्र कुणाल का उदाहरण दिया हे । हीनाक्षर पाठ के लिये विद्याधर का उदाहरण दिया हे । उभय के लिये वाल का उदाहरण दिया है और आतुर के लिये अतिमात्रा मे भोजन और भेषज विपर्यय के उदाहरण दिये ह । लोकोत्तर नोआगम रूप द्रव्यावश्यक के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये साध्वाभास का दृष्टान्त देकर समझाया है । भाव-आवश्यक भी आगम रूप और नोआगम रूप दो प्रकार का है । आवश्यक के अर्थ का जो उपयोग रूप परिणाम है वह आगम रूप भाव-आवश्यक है । ज्ञान-क्रिया उभय रूप जो परिणाम ह, वह नोआगम रूप भाव-आवश्यक है । षडावश्यक के पर्याय और उसके अर्थाधिकार पर विचार किया गया है ।

सामायिक पर चिन्तन करते हुए कहा ह—समभाव ही सामायिक का लक्षण हे । सभी द्रव्यो का आधार आकाश हे, वैसे ही सभी सद्गुणो का आधार सामायिक हे । सामायिक के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन भेद

है। किसी महानगर मे प्रवेश करने के लिये अनेक द्वार होते ह, वैसे ही सामायिक अध्ययन के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय—ये चार द्वार हैं। इन चारो द्वारो का विस्तार से निरूपण किया गया है। सामायिकश्रुत का सार सामायिक है। चारित्र ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। ज्ञान से वस्तु का यथार्थ परिज्ञान होने से चारित्र की विशुद्धि होती है। केवलज्ञान होने पर भी जीव मुक्त नही होता। जब तक उसे सर्व सवर का लाभ न हो जाये। सामायिक का लाभ जीव को कब उपलब्ध होता है? इस पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि आठो कम प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितियो के रहते हुए जीव को सामायिक का लाभ नही हो सकता। नाम, गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटा-कोटि सागरोपम है। मोहनीय की सत्तर कोटा-कोटि सागरोपम है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की तीस कोटा-कोटि सागरोपम है। आयुकर्म की तेतीस सागरोपम है। मोहनीयकम की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय कम की उत्कृष्ट स्थिति बधती है, किन्तु आयुकर्म की स्थिति के लिये निश्चित नियम नही है। वह उत्कृष्ट और मध्यम और जघन्य तीनो प्रकार की स्थिति बन्ध सकती है। मोहनीय के अतिरिक्त ज्ञानावरण आदि किसी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर मोहनीय या अन्य कर्म की उत्कृष्ट या मध्यम स्थिति का बन्ध होता है किन्तु आयुकर्म की स्थिति जघन्य भी बध सकती है। सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत और सर्वव्रत-इन चार सामायिको मे से जिसने उत्कृष्ट कर्म-स्थिति का बन्ध किया है, वह एक भी सामायिक को प्राप्त नही कर सकता। किन्तु उसे पूर्वप्रतिपन्न विकल्प से होती भी है और नही भी होती। जैसे अनुत्तरविमानवासी देव मे पूवप्रतिपन्न सम्यक्त्व, श्रुत होते ह, शेष मे नही। जिनकी ज्ञानावरण आदि की जघन्य स्थिति है, उनको भी इन चार सामायिको मे से एक का भी लाभ नही होता, क्योकि उसे पहले ही प्राप्त हो गई है। अत पुन प्राप्त करने का प्रश्न ही समुपस्थित नही होता। आयुकर्म की जघन्य स्थिति वाले को न यह पहले प्राप्त होती है और न वह प्राप्त ही कर सकता है।

इसके पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्ति के कारणो पर चिन्तन करते हुए ग्रन्थि-भेद का स्वरूप स्पष्ट किया है। आयुकम को छोडकर शेष सात कर्मो की स्थिति, देशन्यून कोटा-कोटि सागरोपम की अवशेष रहती है तब आत्मा सम्यक्त्व के अभिमुख होता है। उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उसमे से पल्योपम पृथक्त्व का क्षय होने पर देशविरति—श्रावकत्व की प्राप्ति होती है। उसमे से भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर सवविरति चारित्र की उपलब्धि होती है। उसमे से सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर उपशमश्रेणी प्राप्त होती है। उसमे से भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर क्षपकश्रेणी प्राप्त होती हैं।

कपाय के उदय के कारण दर्शन आदि सामायिक प्राप्त नही हो सकती। यदि कदाचित् प्राप्त भी हो गई तो वह पुन नष्ट हो जाती है। जिससे कर्मो का लाभ हो वह कपाय है। अनन्तानुबन्धी-चतुष्क, अप्रत्याख्यानी-चतुष्क, प्रत्याख्यानी-चतुष्क इन बारह प्रकार के कषायो का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से चारित्र की प्राप्ति होती है। सामायिक मे सावद्य योग का त्याग होता है। वह इत्वर और यावत्कथिक के रूप मे दो प्रकार की है। इत्वर सामायिक अल्पकालीन होती है और यावत्कथिक जीवनपर्यन्त के लिये। भाष्यकार ने सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र का विस्तार से विवेचन किया है।

सामायिक चारित्र का उद्देश, निर्देश, निगम, क्षेत्र, काल, पुरुष, कारण, प्रत्यय, लक्षण, नय, समवतार, अनुमत, किम्, कतिविध, कस्य, कुत्र, केषु, कथम्, कियच्चिर, कति, सान्तर, अविरहित, भव, आकर्ष, स्पर्शन् और निरुक्ति, इन छब्बीस द्वारो से वर्णन किया है। सामायिक सम्बन्धी जितनी भी महत्त्वपूर्ण बाते है, वे सभी इन द्वारो मे समाविष्ट हो गई है। तृतीय निर्गम द्वार मे सामायिक की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए आचार्य ने भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो की चर्चा की है। सामायिक के ग्यारहवे द्वार समवतार पर विवेचन करते

नमस्कार एवं उसके प्रयोजन पर प्रकाश डाला है। उसके बाद सामायिक के पाठ 'करेमि भन्ते' की व्याख्या करके छह प्रकार के कर्म का विस्तृत निरूपण किया गया है।

चतुर्विंशतिस्तव मे स्तव, लोक, उद्योत, धर्म-तीर्थकर आदि पदो पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। तृतीय वन्दना अध्ययन मे वन्दन के योग्य श्रमण के स्वरूप का प्रतिपादन किया है और चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजा, कर्म, विनयकर्म को दृष्टान्त देकर समझाया गया है। अवन्द्य को वन्दन करने का निषेध किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन मे प्रतिक्रमण की परिभाषा प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण, प्रतिक्रान्तव्य इन तीन दृष्टियो से की गई है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना पर विवेचना करते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किये है। कायिक, वाचिक, मानसिक, अतिचार, ईर्यापथिकी विराधना, प्रकाम शय्या, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि मे लगने वाले अतिचार, चार विकथा, चार ध्यान, पाच क्रिया, पाच कामगुण, पाच महाव्रत, पाच समिति आदि का प्रतिपादन किया है। शिक्षा के ग्रहण और आसेवन ये दो भेद किए है। अभयकुमार का विस्तार से जीवन-परिचय दिया है। साथ ही सम्राट श्रेणिक, चेल्लणा, सुरमा, कोणिक, चेटक, उदायी, महापद्मनद, शकडाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि ऐतिहासिक व्यक्तियो के चरित्र भी दिये गये है। व्रत की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—प्रज्ज्वलित अग्नि मे प्रवेश करना श्रेयस्कर है, किन्तु व्रत का भग करना अनुचित है। विशुद्ध कार्य करते हुए मरना श्रेष्ठ है, किन्तु शील से स्खलित हो कर जीवित रहना अनुचित है।

पञ्चम अध्ययन मे कायोत्सर्ग का वर्णन है। कायोत्सग एक प्रकार से आध्यात्मिक व्रणचिकित्सा है। कायोत्सर्ग मे काय और उत्सर्ग ये दो पद है। काय का नाम, स्थापना आदि बारह प्रकार के निक्षेपो से वर्णन किया है और उत्सर्ग का छह निक्षेपो से। कायोत्सर्ग के चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सग ये दो भेद है। गमन आदि मे जो दोष लगा हो उसके पाप से निवृत्त होने के लिये चेष्टाकायोत्सर्ग किया जाता है। हूण आदि से पराजित होकर जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह अभिभवकायोत्सर्ग है। कायोत्सग के प्रशस्त एव अप्रशस्त ये दो भेद है और फिर उच्छ्रित आदि नौ भेद है। श्रुत, सिद्ध की स्तुति पर प्रकाश डालकर क्षामणा की विधि पर विचार किया है। अन्त मे कायोत्सर्ग के दोष, फल आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

षष्ठ अध्ययन मे प्रत्याख्यान का विवेचन है। इसमे सम्यक्त्व के अतिचार, श्रावक के बारह व्रतो के अतिचार, दस प्रत्याख्यान, छह प्रकार की विशुद्धि, प्रत्याख्यान के गुण, आगार आदि पर अनेक दृष्टान्तो के साथ विवेचन किया है।

इस प्रकार आवश्यकचूर्णि जिनदासगणी महत्तर की एक महनीय कृति है। आवश्यकनिर्युक्ति मे आये हुए सभी विषयो पर चूर्णि मे विस्तार के साथ स्पष्टता की गई है। इसमे अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक महापुरुषो के जीवन उट्टङ्कित किये गये है, जिनका ऐतिहासिक और सास्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

टीकासाहित्य

मूल आगम, निर्युक्ति और भाष्यसाहित्य प्राकृत भाषा मे निर्मित है। चूर्णिसाहित्य मे प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का और गौण रूप से सस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् सस्कृतटीका का युग आया। जैन साहित्य मे टीका का युग स्वर्णिम युग है। निर्युक्ति मे आगमो के शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या है। भाष्यसाहित्य मे विस्तार से आगमो के गम्भीर भावो का विवेचन है। चूर्णिसाहित्य मे निगूढ भावो को लोक-कथाओ के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीकासाहित्य मे आगमो का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है। टीकाकारो ने प्राचीन

निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्यो का तो अपनी टीकाओ मे प्रयोग किया ही है साथ ही नये-नये हेतुओ द्वारा विषय को और अधिक पुष्ट बनाया है। टीकाओ के अध्ययन और परिशीलन से उस युग की सामाजिक, सास्कृतिक, राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियो का भी सम्यक् परिज्ञान हो जाता है। टीकाकारो मे सर्वप्रथम टीकाकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण है। उन्होने अपने विशेषावश्यकभाष्य पर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी पर यह वृत्ति वे अपने जीवनकाल मे पूर्ण नही कर सके। वे छठे गणधर व्यक्त तक ही टीका लिख सके। उनकी शैली सरल, सरस और प्रसादगुण युक्त थी। उनकी प्रस्तुत टीका उनके पश्चात् कोटचाचार्य ने पूण की। इसका सकेत कोटचाचार्य ने छठे गणधरवाद के अन्त मे दिया है।

सस्कृत टीकाकारो मे आचाय हरिभद्र का नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है। वे सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका सत्ता-समय विक्रम सवत् ७५७ से ८२७ का है। उन्होने आवश्यकनियुक्ति पर भी वृत्ति लिखी किन्तु आवश्यकचूर्णि के पदो का उसमे अनुसरण न करके स्वतन्त्र रूप से विषय का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत वृत्ति को देखकर विज्ञो ने यह अनुमान किया है कि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकसूत्र पर दो वृत्तिया लिखी थी। वतमान मे जो टीका उपलब्ध नही है, वह टीका उपलब्ध टीका से बडी थी। क्योकि आचाय ने स्वय लिखा है—'व्यासाथस्तु विशेषविवरणादवगन्तव्य इति।' अन्वेषणा करने पर भी यह टीका अभी तक उपलब्ध नही हो सकी है। वृत्ति मे ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आभिनिबोधिक ज्ञान का छह दृष्टियो से विवेचन किया है। श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवलज्ञान का भी भेद आदि की दृष्टि से विवेचन किया है।

सामायिक आदि के तेवीस द्वारो का विवेचन निर्युक्ति के अनुसार किया गया है। सामायिक के निगम द्वार मे कुलकरो के प्रति और उनके पूर्व भवो के सम्बन्ध मे सूचन किया है। निर्युक्ति और चूर्णि मे जिन विषयो का सक्षेप मे सकेत किया गया है उन्ही का इसमे विस्तार किया गया है। ध्यान के प्रसग मे ध्यानशतक की समस्त गाथाओ पर भी विवेचन किया है। परिस्थापनाविधि पर प्रकाश डालते हुए सम्पूर्ण परिस्थापना सम्बन्धी निर्युक्ति के पाठ को उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत वृत्ति मे प्राकृत भाषा मे दृष्टान्त भी विषय को स्पष्ट करने के लिये दिये गये है। इस वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। इसका ग्रन्थमान २२००० श्लोकप्रमाण है। लेखक ने अन्त मे अपना सक्षेप मे परिचय भी दिया है।

कोटचाचार्य ने आचाय जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अपूर्ण स्वोपज्ञ भाष्य को पूण किया और विशेषावश्यक-भाष्य पर भी एक नवीन वृत्ति लिखी। पर लेखक ने उस वृत्ति मे आचार्य हरिभद्र का कही पर भी उल्लेख नही किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि वे हरिभद्र के समकालीन या पूववर्ती होगे। कोटचाचार्य ने जिन-भद्रगणी क्षमाश्रमण का श्रद्धास्निग्ध स्मरण किया है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति मे कोटचाचार्य का प्राचीन टीकाकार के रूप मे उल्लेख किया है। प्रभावक चरित्रकार ने आचार्य शीलाङ्क को और कोटचाचार्य को एक माना है। परन्तु शीलाङ्क और कोटचाचार्य दोनो के समय एक नही है। कोटचाचार्य का समय विक्रम की आठवी शती है तो शीलाङ्क का समय विक्रम की नौवी दशमी शती है। अत वे दोनो पृथक्-पृथक् है। कोटचाचाय का प्रस्तुत विशेषावश्यकभाष्य पर जो विवरण है वह न तो अतिसक्षिप्त है और न अतिविस्तृत ही है। विवरण मे जो कथाए उट्टकित की गई है, वे प्राकृत भाषा मे है। विवरण का ग्रन्थमान १३७०० श्लोक प्रमाण है।

आचार्य मलयगिरि उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी मूर्धन्य मनीषी थे। उन्होने आगमग्रन्थो पर बहुत ही महत्त्व-पूर्ण टीकाए लिखी है। उन टीकाओ मे उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य स्पष्ट रूप स झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्राजलता, शैली का लालित्य एव विश्लेषण की स्पष्टता उनकी विशेषताएँ है। वे आगमसाहित्य के

गम्भीर ज्ञाता थे तो गणितशास्त्र, दर्शनशास्त्र और कर्मसिद्धान्त मे भी निष्णात थे। उन्होने अनेक आगमो पर टीकाए लिखी। आवश्यकसूत्र पर भी उन्होने आवश्यकविवरण नामक वृत्ति लिखी है। यह विवरण मूल सूत्र पर न होकर आवश्यकनिर्युक्ति पर है। यह विवरण अपूर्ण ही प्राप्त हुआ है। इसमे मगल आदि पर विस्तार से विवेचन और उसकी उपयोगिता पर चिन्तन किया गया है। निर्युक्ति की गाथाओ पर सरल और सुबोध शैली मे विवेचन किया है। विवेचन की विशिष्टता यह है—आचार्य ने विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओ पर स्वतन्त्र विवेचन न कर उनका सार अपनी वृत्ति मे उट्टंकित कर दिया है। वृत्ति मे जितनी भी गाथाए आई है, वे वृत्ति के वक्तव्य को पुष्ट करती है। वृत्ति मे विशेषावश्यकभाष्य की स्वपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख हुआ है साथ ही प्रज्ञाकरगुप्त, आवश्यक चूर्णिकार, आवश्यक मूल टीकाकार, आवश्यक मूल भाष्यकार, लघीयस्त्रयालकार, अकलङ्क-न्यायावतार वृत्तिकार प्रभृति का भी उल्लेख हुआ है। यत्र-तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए कथाए भी उद्धृत की गई है। कथाओ की भाषा प्राकृत है। वर्तमान मे जो विवरण उपलब्ध है उसमे चतुर्विशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन के 'थूभ रयणविचित्त कुथु सुमिणम्मि तेण कुथुजिणो' के विवेचन तक प्राप्त होता है। उसके पश्चात् भगवान् अरनाथ के उल्लेख के बाद का विवरण नही मिलता है। यह जो विवरण है वह चतुर्विशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन तक है और वह भी अपूर्ण है। जो विवरण उपलब्ध है उसका ग्रन्थमान १८००० श्लोक प्रमाण है।

मलधारी आचार्य हेमचन्द्र महान् प्रतिभासम्पन्न और आगमो के ज्ञाता थे। वे प्रवचनपटु और वाग्मी थे। उन्होने अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया। आवश्यकवृत्ति प्रदेशव्याख्या आचार्य हरिभद्र की वृत्ति पर लिखी गई है, इसलिए उसका अपर नाम हारिभद्रीयावश्यक वृत्तिटिप्पणक है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य ने प्रदेश-व्याख्याटिप्पण भी लिखा है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की विशेषावश्यकभाष्य पर दूसरी वृत्ति शिष्यहिता है। यह बृहत्तम कृति है। आचार्य ने भाष्य मे जितने भी विषय आये है, उन सभी विषयो को बहुत ही सरल और सुगम दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। दार्शनिक चर्चाओ का प्राधान्य होने पर भी शैली मे काठिन्य नही है। यह इसकी महान् विशेषता है। सस्कृत कथानको से विषय मे सरसता व सरलता आ गई है। यदि यह कह दिया जाये कि प्रस्तुत टीका के कारण विशेषावश्यकभाष्य के पठन-पाठन मे सरलता हो गई तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

अन्य अनेक मनीषियो ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्तिया लिखी है। सक्षेप मे उनका विवरण इस प्रकार है—जिनभट्ट, माणिक्यशेखर, कुलप्रभ, राजवल्लभ आदि ने आवश्यकसूत्र पर वृत्तियो का निर्माण किया है। इनके अतिरिक्त विक्रम सवत् ११२२ मे नमि साधु ने, सवत् १२२२ मे श्री चन्द्रसूरि ने, सवत् १४४० मे श्री ज्ञानसागर ने, सवत् १५०० मे धीर सुन्दर ने, सवत् १५४० मे शुभवर्द्धनगिरि ने, सवत् १६९७ मे हितरुचि ने तथा सन् १९५८ मे पूज्य घासीलालजी महाराज ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्ति का निर्माण कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। टीका युग समाप्त होने के पश्चात् जनसाधारण के लिये आगमो के शब्दार्थ करने वाली सक्षिप्त टीकाए बनाई गई जो स्तवक या टब्बा के नाम से विश्रुत है। और वे लोकभाषाओ मे सरल और सुबोध शैली मे लिखी गई। धर्मसिंह मुनि ने १८ वी शताब्दी मे २७ आगमो पर बालावबोध टब्बे लिखे थे। उनके टब्बे मूलस्पर्शी अर्थ को स्पष्ट करने वाले है। उन्होने आवश्यक पर भी टब्बा लिखा था। टब्बो के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। मुख्य रूप से आगम साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओ मे उपलब्ध है—अग्रेजी, गुजराती और हिन्दी। आवश्यकसूत्र का अग्रेजी अनुवाद नही हुआ है, गुजराती और हिन्दी मे ही अनुवाद हुआ है। शोध प्रधान युग मे आवश्यकसूत्र पर पडित सुखलालजी सिंघवी तथा उपाध्याय अमरमुनिजी प्रभृति विज्ञो ने विषय का विश्लेषण करने के लिये हिन्दी मे शोध निबन्ध भी प्रकाशित किये है।

आधुनिक युग मुद्रण का युग है। इस युग मे विराट् साहित्य मुद्रित होकर जनता-जनार्दन के कर-कमलो मे पहुँचा है। आगमो के प्रकाशन का कार्य विभिन्न सस्थाओ द्वारा समय-समय पर हुआ है। आवश्यकसूत्र और उसका व्याख्यासाहित्य इस प्रकार प्रकाशित हुआ है—

सन् १९२८ मे आगमोदय समिति बम्बई ने आवश्यकसूत्र भद्रबाहुनिर्युक्ति और मलयगिरि वृत्ति के साथ प्रथम भाग प्रकाशित किया। उसका द्वितीय भाग सन् १९३२ मे तथा तृतीय भाग सन् १९३६ मे देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सूरत से प्रकाशित हुए।

सन् १९१६-१७ मे आवश्यक भद्रबाहुनिर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्ति के साथ आगमोदय समिति बम्बई से प्रकाशित हुई।

सन् १९२० मे आवश्यकसूत्र मलधारी हेमचन्द्र विहित प्रदेशव्याख्या के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई ने प्रकाशित किया।

सन् १९३९ और १९४१ मे भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्ति की माणिक्यशेखर विरचित दीपिका विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत से प्रकाशित हुई।

सन् १९२८ और सन् १९२९ मे आवश्यकचूर्णि जिनदासरचित क्रमश पूर्व भाग और उत्तर भाग प्रकाशित हुआ है। वीर सवत् २४२७ से २४४१ मे विशेषावश्यकभाष्य शिष्यहिताख्य वृहद्वृत्ति, मलधारी आचार्य हेमचन्द्र की टीका सहित, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस से प्रकाशित हुआ। सन् १९२३ मे 'विशेषावश्यक-गाथानामकारादिक्रम तथा विशेषावश्यकविषयाणामनुक्रम आगमोदय समिति बम्बई से प्रकाशित हुए।

सन् १९६६ मे विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति सहित लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर से तीन भागो मे प्रकाशित हुआ है।

सन् १९३६ और १९३७ मे कोटचाचार्य कृत विशेषावश्यकभाष्य विवरण का प्रकाशन ऋषभदेवजी केसरीमलजी प्रचारक सस्था रतलाम से हुआ। सन् १९३६ मे ही आवश्यक नमिसार वृत्ति विजयदान सूरीश्वर ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुई।

सन् १९५८ मे पूज्य घासीलालजी महाराजकृत आवश्यकसूत्र सस्कृत व्याख्या हिन्दी व गुजराती अनुवाद से साथ जैनशास्त्रोद्धार समिति राजकोट ने प्रकाशित किया।

सन् १९०६ मे आवश्यकसूत्र गुजराती अनुवाद के साथ भीमसी माणेक बम्बई ने और सन् १९२४ से २७ तक आगमोदय समिति बम्बई ने गुजराती अनुवाद प्रकाशित कर अपनी साहित्यिक रुचि का परिचय दिया। वीर सवत् २४४६ मे आचार्य अमोलकऋषिजी ने ३२ आगमो का जो हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया, उस लडी की कडी मे आवश्यकसूत्र भी प्रकाशित हुआ।

आवश्यकसूत्र का मूल पाठ भी अनेक स्थलो से प्रकाशित हुआ है। गुडगाव छावनी से सन् १९५४ मे मुनि फूलचन्दजी 'पुप्फभिक्खु' ने सुत्तागमे का प्रकाशन करवाया, उस मे तथा सैलाना से सन् १९८४ मे प्रकाशित 'अगपविट्ठसुत्ताणि' मे मूल पाठ प्रकाशित हुआ है। आगमप्रभावक मुनि पुण्यविजयजी महाराज ने जैन आगम ग्रन्थमाला के अन्तगत इस्वी सन १९७७ मे श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई से 'दसवेयालियसुत्त उत्तरज्झयणाइ आवस्सयसुत्त' शीपक से प्रकाशित हुआ है। यह अनेक ग्रन्थो के टिप्पण, सूत्रानुक्रम, शब्दानुक्रम, विशेपनामानुक्रम आदि अनेक परिशिष्टो के साथ प्रकाशित है। शोधार्थियो के लिये वहुत ही उपयोगी है।

सवत् २००७ मे सन्मति ज्ञानपीठ आगरा से सामायिकसूत्र और श्रमणसूत्र हिन्दी विवेचन सहित प्रकाशित हुआ है।

प्रस्तुत सस्करण और सम्पादन

समय-समय पर आवश्यकसूत्र पर बहुत लिखा गया है और विभिन्न स्थानो से उसका प्रकाशन भी हुआ है। उसी प्रकाशन की धवल परम्परा मे प्रस्तुत प्रकाशन भी है। श्रमण सघ के युवाचार्य स्वर्गीय पण्डितप्रवर मधुकर मिश्रीमलजी महाराज की यह हार्दिक इच्छा थी कि आगमबत्तीसी का प्रकाशन हो। उनके सयोजकत्व और प्रधान सम्पादकत्व मे आगम प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हुआ। स्वल्प समय मे ही अनेक आगमो के शानदार प्रकाशन हुए। पर परिताप है कि युवाचार्यश्री की कमनीय कल्पना उनके जीवनकाल मे पूर्ण नही हो सकी। सन् १९८३ मे उनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गवास से एक महामनीषी सन्तरत्न की क्षति हुई। उनकी हार्दिक इच्छा को मूर्त्त रूप देने का उत्तरदायित्व सम्पादक मण्डल और प्रकाशन समिति का था। प्रसन्नता है सम्पादक मण्डल और प्रकाशन समिति ने अपना उत्तरदायित्व निष्ठा के साथ निभाया है और अनेक मूर्धन्य मनीषियो के सहयोग से इस कार्य को सम्पन्न करने का सकल्प किया है। आवश्यकसूत्र के सम्पादन का श्रेय परम विदुषी साध्वीरत्न उमरावकुँवरजी 'अर्चना' की सुशिष्या विदुषी महासती श्री सुप्रभाजी एम ए, साहित्यरत्न, सिद्धान्ताचार्य को है। इसमे शुद्ध मूल पाठ, विशिष्ट शब्दो का अर्थ, भावार्थ और साथ ही आवश्यक विवेचन दिया गया है, अतएव यह सस्करण सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। उन्होने बहुत ही लगन के साथ इस ग्रन्थ-रत्न का सम्पादन किया है। साध्वी सुप्रभाजी उदीयमान लेखिका तथा विविध विषयो की ज्ञाता है। महामनीषी, आगमप्रकाशन माला के प्राण पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने अपनी कलम के स्पर्श से सम्पादन को निखारा है। भारिल्ल जी की पैनी दृष्टि से सम्पादन मे चार-चाद लग गये है। आशा है अन्य आगमो की भाति यह आगम भी जनमानस मे समादृत होगा।

आवश्यकसूत्र पर बहुत ही विस्तार से प्रस्तावना लिखने का मेरा विचार था पर अन्यान्य ग्रन्थो के लेखन मे व्यस्त होने से सक्षेप मे ही कुछ लिख गया हू, उसका सारा श्रेय महामहिम विश्वसन्त अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज की महती कृपा-दृष्टि को है। उनकी महान् कृपा से ही मै लेखन के क्षेत्र मे कुछ कार्य कर सका हूँ। आवश्यकसूत्र के रहस्य को समझने के लिये यह प्रस्तावना कुछ उपयोगी होगी तो मै अपना श्रम सार्थक समझूगा। आज भौतिकवाद की आँधी मे मानव बहिर्मुखी होता चला जा रहा है। वह अपने-आप को भूलकर पर-पदार्थो को प्राप्त करने के लिये ललक रहा है और उसके लिये अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचार को अपना रहा है, जिससे वह स्वय अशात है, परिवार, समाज और राष्ट्र मे सर्वत्र अशाति की ज्वाला धधक रही है। उससे मानव व्यथित है, समाज परेशान है और राष्ट्र चिन्तित है। यह प्रगति नही, उसके नाम पर पनपने वाला भ्रम है। आज आवश्यकता है, जो अतिक्रमण हुआ है उससे पुन स्वभाव की ओर लौटने की। आवश्यकसूत्र साधक को परभाव से हटाकर निजभाव मे लाने का सन्देश प्रदान करता है। उस सन्देश को हम जीवन मे उतार कर अपने को पावन बनाए, यही आन्तरिक कामना।

जैन स्थानक
वीरनगर, दिल्ली-७
१८-७-८५

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

श्री आगम समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

१	श्रीमान् सेठ कवरलालजी वैताला	अध्यक्ष	गोहाटी
२	श्रीमान् सेठ रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३	श्रीमान् सेठ खीवराजजी चोरडिया	उपाध्यक्ष	मद्रास
४	श्रीमान् हुक्मीचन्दजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
५	श्रीमान् धनराजजी विनायकिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
६	श्रीमान् दुलीचन्दजी चोरडिया	उपाध्यक्ष	मद्रास
७	श्रीमान् जतनराजजी मेहता	महामन्त्री	मेडतासिटी
८	श्रीमान् चाँदमलजी विनायकिया	मन्त्री	ब्यावर
९	श्रीमान् ज्ञानराजजी मूथा	मन्त्री	पाली
१०	श्रीमान् चाँदमलजी चौपडा	सहमन्त्री	ब्यावर
१	श्रीमान् जौहरीलालजी शीशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१२	श्रीमान् गुमानमलजी चोरडिया	कोषाध्यक्ष	मद्रास
१३	श्रीमान् पारसमलजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
१४	श्रीमान् मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
१५	श्रीमान् जी सायरमलजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
१६	श्रीमान् जेठमलजी चोरडिया	सदस्य	बैंगलौर
१७	श्रीमान् मोहनसिंहजी लोढा	सदस्य	ब्यावर
१८	श्रीमान् बादलचन्दजी मेहता	सदस्य	इन्दौर
१९	श्रीमान् मागीलालजी सुराणा	सदस्य	सिकन्दराबाद
२०	श्रीमान् भवरलालजी गोठी	सदस्य	मद्रास
२१	श्रीमान् भवरलालजी श्रीश्रीमाल	सदस्य	दुग
२२	श्रीमान् किशनचन्दजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
२३	श्रीमान् प्रसन्नचन्दजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
२४	श्रीमान् प्रकाशचन्दजी जैन	सदस्य	नागौर
२५	श्रीमान् भवरलालजी मूथा	सदस्य	जयपुर
२६	श्रीमान् जालमसिंहजी मेडतवाल	परामर्शदाता	ब्यावर

आवश्यकसूत्रम् : विषयानुक्रमणिका

०

पचम अध्ययन कायोत्सर्ग

षष्ठाध्ययन - प्रत्याख्यान

परिशिष्ट

आवस्सयसुत्तं

आवश्यकसूत्रम्

आवश्यकसूत्रम्

गुरुवन्दन-सूत्र

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि ।

भावार्थ—हे गुरु महाराज ! मैं अञ्जलिपुट को तीन बार दाहिने हाथ की ओर से प्रारंभ करके फिर दाहिने हाथ की ओर तक घुमाकर अपने ललाटप्रदेश पर रखता हुआ प्रदक्षिणापूर्वक स्तुति करता हूँ, पांच अंग झुकाकर वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, (वस्त्र, अन्न आदि से) सम्मान करता हूँ, आप कल्याण-रूप हैं, मंगल-स्वरूप हैं, आप देवतास्वरूप हैं, चैत्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं ।

अतः हे गुरुदेव ! मैं मन, वचन और शरीर से आपकी पर्युपासना—सेवाभक्ति करता हूँ तथा विनय-पूर्वक मस्तक झुकाकर आपके चरण-कमलों में वन्दना करता हूँ ।

विवेचन—भारतीय संस्कृति में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यदि जीवन में सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त न हो तो प्रभु-दर्शन भी कठिन हो जाता है । प्रत्येक मंगलकार्य के प्रारंभ में भक्ति एवं श्रद्धा के साथ गुरु को वन्दन किया जाता है ।

एक दृष्टि से भगवान् से भी सद्गुरु का महत्त्व अधिक है । एक वैदिक ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है—भगवान् यदि रुष्ट हो जाय तो सद्गुरु बचा सकता है पर सद्गुरु रुष्ट हो जाय तो भगवान की शक्ति नहीं, जो उसे उबार सके ।

हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न वै शिवः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, गुरुमेव प्रसादयेत् ।।

वस्तुतः सद्गुरु का महत्त्व अपरम्पार है । दीपक को प्रकाशित करने के लिये जैसे तेल की आवश्यकता है, घड़ी को चलाने के लिए चाबी की जरूरत है, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है । सद्गुरु ही जीवन के सच्चे कलाकार हैं । अतः गुरुदेव ही भव-सिन्धु में नौका स्वरूप हैं, जो भव्य प्राणियों को किनारे लगाते हैं । अज्ञानरूप अन्धकार में भटकते हुए प्राणी के लिए गुरु प्रदीप के समान प्रकाशदाता हैं । विश्व में गुरु से बढ़कर अन्य कोई भी उपकारी नहीं है । अनेक भक्तों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि—"गुरु न तजूं हरि को तज डालूं ।" क्योंकि हिताहित का बोध कराने वाले गुरु ही होते हैं । ऐसे परम उपकारी गुरुदेव की चरण-वन्दना, सेवा, अर्चना आदि शिष्य समर्पण भाव से करे तब ही वह जीवन और जगत् का रहस्य समझ सकता है ।

विशिष्ट शब्दो का अर्थ

तिक्खुत्तो—त्रिकृत्व —तीन बार।

आयाहिण—दाहिनी ओर से। इसका 'आदक्षिण' सस्कृत रूप बनता है।

पयाहिण—का सस्कृत रूप 'प्रदक्षिणम्' होता है। अर्थात् दाहिनी ओर से प्रदक्षिणापूर्वक।

वदामि—वन्दन करता हूँ। वन्दन का अर्थ है स्तुति करना।

नमसामि—नमस्कार करता हूँ। इसका सस्कृत रूप **'नमस्यामि'** है। वन्दना और नमस्कार मे अन्तर है। वन्दना अर्थात् मुख से गुणगान करना, स्तुति करना और नमस्कार अर्थात् काया से नम्रीभूत होना, प्रणमन करना।

कल्लाण—कल्याण-कल्य अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाले या शाति प्रदान करने वाले।

मगल—शुभ, क्षेम, प्रशस्त एव शिव।

आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा की टीका मे लिखा है—

"मग्यते—अधिगम्यते हितमनेन इति मगलम्" अर्थात् जिसके द्वारा साधक को हित की प्राप्ति हो वह मगल है।

"मा गालयति भवादिति मगलम्-ससारादपनयति" जो मुझे (आत्मा को) ससार के बन्धन से अलग करता है, छुडाता है, वह मगल है। विशेषावश्यकभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीहेमचन्द्राचार्य कहते है—"मङ्क्यते-अलक्रियते आत्मा येनेति मगलम्" जिसके द्वारा आत्मा शोभायमान हो वह मगल है। अथवा जिसके द्वारा स्वर्ग एव मोक्ष प्राप्त किया जाता है या पाप का विनाश किया जाता है, उसे मगल कहते है।

नमस्कारसूत्र

नमो अरिहताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण।
नमो उवज्झायाण, नमो लोए सव्वसाहूण॥

भावार्थ—अरिहतो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यो को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो, मानव-लोक मे विद्यमान समस्त साधुओ को नमस्कार हो।

एसो पच नमोक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि, पढम हवइ मगल॥

भावार्थ—उपर्युक्त पाच परमेष्ठी—महान् आत्माओ को किया हुआ यह नमस्कार सब प्रकार के पापो को पूर्णतया नाश करने वाला है और विश्व के सब मगलो मे प्रथम मगल है।

विवेचन—भारतीय-सस्कृति मे जैनसस्कृति का और जैनसस्कृति मे भी जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन परम्परा मे नमस्कारमत्र या नवकारमत्र से बढकर दूसरा कोई मत्र नही है। जैनधर्म अध्यात्म-प्रधान धर्म है। अत उसका मत्र भी अध्यात्मभावना से ओतप्रोत है।

नवकार मंत्र के संबंध में जैन परम्परा की मान्यता है कि यह सम्पूर्ण जैन वाङ्मय अथवा चौदह पूर्वो का सार है, निचोड है। जैन साहित्य का सर्वश्रेष्ठ मंत्र नवकार मंत्र है। वह दिव्य समभाव का प्रमुख प्रतीक है। इसमें बिना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के, बिना किसी देश, जाति अथवा धर्म की विशेषता के केवल गुण-पूजा का महत्त्व बताया गया है। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में नवकार-मंत्र का दूसरा नाम परमेष्ठी-मंत्र भी है। जो महान् आत्माएँ परम पद में अर्थात् उच्च स्वरूप में स्थित है, वे परमेष्ठी कहलाती है।

नवकार मंत्र के नमस्कारमंत्र, परमेष्ठीमंत्र आदि अनेक नाम है। परन्तु सबसे प्रसिद्ध नाम नवकार मंत्र ही है। नवकारमंत्र में नौ पद है, अत इसे नवकारमंत्र कहते है। पाच पद मूल पदो के है और शेष चार पद चूलिका के है। अरिहन्त आदि पाच पद साधक तथा सिद्ध की भूमिका के है और अन्तिम चार पद महामंत्र की महिमा के निदर्शक है।

मुमुक्षु मानवो ने नमस्कार को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। नमस्कार, नम्रता एव गुणग्राहकता का विशुद्ध प्रतीक है। अपने से श्रेष्ठ एव ज्येष्ठ आत्माओ को नमस्कार करने की परपरा अनादि-काल से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। अरिहन्तो के बारह, सिद्धो के आठ, आचार्यो के छत्तीस, उपाध्यायो के पच्चीस एव साधुओ के सत्ताईस गुण है। इन गुणो से युक्त इन पाचो पदो के वाच्य महान् आत्माओ को किया गया नमस्कार इस नश्वर ससार से सदा के लिये छुटकारा दिलाकर शाश्वत शिव-सुख का प्रदाता है।

प्रथम पद अरिहत का है। अरिहत मे दो शब्द है—'अरि' और 'हन्त'। अरि का अर्थ है—राग-द्वेष आदि अन्दर के शत्रु और हन्त का अर्थ है—नाश करने वाला।

अरिहन्त पद का दूसरा अर्थ इस प्रकार है—जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घनघातिक कर्मो का नाश करके केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया है, वह जीवन्मुक्त परमात्मा अरिहन्त है।

अरिहन्त पद के आचार्यो ने अनेक पाठान्तरो का उल्लेख किया है, यथा—अरहन्त, अर्हन्त, अरुहन्त, अरोहन्त आदि। जिनके लिये जगत् मे कोई रहस्य नही रह गया है, जिनके केवलज्ञान-दर्शन से कुछ छिपा नही है, वे अरहन्त है। जो अशोकवृक्ष आदि प्रतिहार्यो से पूजित है, वे अर्हन्त है। जिन्हे फिर कभी जन्म नही लेना है अर्थात् जो जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा पा चुके है, उन्हे 'अरुहन्त' या 'अरोहन्त' कहते है।

दूसरा पद 'नमो सिद्धाण' है। सिद्ध का अर्थ है—पूर्ण अर्थात् जिनकी साधना पूरी हो चुकी है। जो महान् आत्मा कर्म-मल से सर्वथा मुक्त होकर जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा पाकर अजर, अमर, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर चुके है, वे सिद्ध पद से सम्बोधित होते है। सिद्धो का सिद्धत्व बौद्ध मान्यता के अनुसार दीपक बुझ जाने की तरह अभावस्वरूप नही है और न किसी विराट् सत्ता मे विलीन हो जाना है, अपितु सद्भाव स्वरूप है। सिद्धो के सुख अपार है। चक्रवर्ती आदि मनुष्यो को तथा समस्त देवो को भी जो सुख प्राप्त नही है वह अनुपम, अनन्त एव अनिर्वचनीय आध्यात्मिक सुख सिद्धो को सदैव प्राप्त रहता है। विस्तार से उस सुख का वर्णन जानने के लिये औपपातिक सूत्र (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर पृ १८०-१८१) देखना चाहिये।

विशिष्ट शब्दो का अर्थ

तिक्खुत्तो—त्रिकृत्व —तीन बार।

आयाहिण—दाहिनी ओर से। इसका 'आदक्षिण' सस्कृत रूप बनता है।

पयाहिण—का सस्कृत रूप 'प्रदक्षिणम्' होता है। अर्थात् दाहिनी ओर से प्रदक्षिणापूर्वक।

वदामि—वन्दन करता हूँ। वन्दन का अर्थ है स्तुति करना।

नमसामि—नमस्कार करता हूँ। इसका सस्कृत रूप **'नमस्यामि'** है। वन्दना और नमस्कार मे अन्तर है। वन्दना अर्थात् मुख से गुणगान करना, स्तुति करना और नमस्कार अर्थात् काया से नम्रीभूत होना, प्रणमन करना।

कल्लाण—कल्याण-कल्य अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाले या शाति प्रदान करने वाले।

मगल—शुभ, क्षेम, प्रशस्त एव शिव।

आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा की टीका मे लिखा है—

"मग्यते—अधिगम्यते हितमनेन इति मगलम्" अर्थात् जिसके द्वारा साधक को हित की प्राप्ति हो वह मगल है।

"मा गालयति भवादिति मगलम्-ससारादपनयति" जो मुझे (आत्मा को) ससार के बन्धन से अलग करता है, छुडाता है, वह मगल है। विशेषावश्यकभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीहेमचन्द्राचार्य कहते है—"मड्क्यते-अलक्रियते आत्मा येनेति मगलम्" जिसके द्वारा आत्मा शोभायमान हो वह मगल है। अथवा जिसके द्वारा स्वर्ग एव मोक्ष प्राप्त किया जाता है या पाप का विनाश किया जाता है, उसे मगल कहते है।

नमस्कारसूत्र

नमो अरिहताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण।
नमो उवज्झायाण, नमो लोए सव्वसाहूण॥

भावार्थ—अरिहतो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यो को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो, मानव-लोक मे विद्यमान समस्त साधुओ को नमस्कार हो।

एसो पच नमोक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि, पढम हवइ मगल॥

भावार्थ—उपर्युक्त पाच परमेष्ठी—महान् आत्माओ को किया हुआ यह नमस्कार सब प्रकार के पापो को पूर्णतया नाश करने वाला है और विश्व के सब मगलो मे प्रथम मगल है।

विवेचन—भारतीय-सस्कृति मे जैनसस्कृति का और जैनसस्कृति मे भी जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन परम्परा मे नमस्कारमत्र या नवकारमत्र से बढकर दूसरा कोई मत्र नही है। जैनधर्म अध्यात्म-प्रधान धर्म है। अत उसका मत्र भी अध्यात्मभावना से ओतप्रोत है।

नवकार मत्र के सबध मे जैन परम्परा की मान्यता है कि यह सम्पूर्ण जैन वाड्मय अथवा चौदह पूर्वो का सार है, निचोड है। जैन साहित्य का सर्वश्रेष्ठ मत्र नवकार मत्र है। वह दिव्य समभाव का प्रमुख प्रतीक है। इसमे विना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के, विना किसी देश, जाति अथवा धर्म की विशेषता के केवल गुण-पूजा का महत्त्व बताया गया है। प्राचीन धर्म-ग्रन्थो मे नवकार-मत्र का दूसरा नाम परमेष्ठी-मत्र भी है। जो महान् आत्माएँ परम पद मे अर्थात् उच्च स्वरूप मे स्थित है, वे परमेष्ठी कहलाती है।

नवकार मत्र के नमस्कारमत्र, परमेष्ठीमत्र आदि अनेक नाम है। परन्तु सबसे प्रसिद्ध नाम नवकार मत्र ही है। नवकारमत्र मे नौ पद है, अत इसे नवकारमत्र कहते है। पाच पद मूल पदो के है और शेष चार पद चूलिका के है। अरिहन्त आदि पाच पद साधक तथा सिद्ध की भूमिका के है और अन्तिम चार पद महामत्र की महिमा के निदर्शक है।

मुमुक्षु मानवो ने नमस्कार को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। नमस्कार, नम्रता एव गुणग्राहकता का विशुद्ध प्रतीक है। अपने से श्रेष्ठ एव ज्येष्ठ आत्माओ को नमस्कार करने की परपरा अनादि-काल से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। अरिहन्तो के बारह, सिद्धो के आठ, आचार्यो के छत्तीस, उपाध्यायो के पच्चीस एव साधुओ के सत्ताईस गुण है। इन गुणो से युक्त इन पाचो पदो के वाच्य महान् आत्माओ को किया गया नमस्कार इस नश्वर ससार से सदा के लिये छुटकारा दिलाकर शाश्वत शिव-सुख का प्रदाता है।

प्रथम पद अरिहत का है। अरिहत मे दो शब्द है—'अरि' और 'हन्त'। अरि का अर्थ है—राग-द्वेष आदि अन्दर के शत्रु और हन्त का अर्थ है—नाश करने वाला।

अरिहन्त पद का दूसरा अर्थ इस प्रकार है—जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घनघातिक कर्मो का नाश करके केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया है, वह जीवन्मुक्त परमात्मा अरिहन्त है।

अरिहन्त पद के आचार्यो ने अनेक पाठान्तरो का उल्लेख किया है, यथा—अरहन्त, अर्हन्त, अरुहन्त, अरोहन्त आदि। जिनके लिये जगत् मे कोई रहस्य नही रह गया है, जिनके केवलज्ञान-दर्शन मे कुछ छिपा नही है, वे अरहन्त है। जो अशोकवृक्ष आदि प्रतिहार्यो से पूजित है, वे अर्हन्त है। जिन्हे फिर कभी जन्म नही लेना है अर्थात् जो जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा पा चुके है, उन्हे 'अरुहन्त' या 'अरोहन्त' कहते है।

दूसरा पद 'नमो सिद्धाण' है। सिद्ध का अर्थ है—पूर्ण अर्थात् जिनकी साधना पूरी हो चुकी है। जो महान् आत्मा कर्म-मल से सर्वथा मुक्त होकर जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा पाकर अजर, अमर, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर चुके है, वे सिद्ध पद मे सम्बोधित होते है। सिद्धो का सिद्धत्व बौद्ध मान्यता के अनुसार दीपक बुझ जाने की तरह अभावस्वरूप नही है और न किसी विराट् सत्ता मे विलीन हो जाना है, अपितु सद्भाव स्वरूप है। सिद्धो के सुख अपार है। चक्रवर्ती आदि मनुष्यो को तथा समस्त देवो को भी जो सुख प्राप्त नही है वह अनुपम, अनन्त एव अनिर्वचनीय आध्यात्मिक सुख सिद्धो को सदैव प्राप्त रहता है। विस्तार से उस सुख का वर्णन जानने के लिये औपपातिक सूत्र (आगम प्रकाशन समिति व्यावर पृ १८०-१८१) देखना चाहिये।

तीसरा पद 'नमो आयरियाण' है। आचार्य भारतीय सस्कृति का सच्चा सरक्षक है, पथप्रदर्शक है तथा आलोक-स्तभ है। आचार्य कोई साधारण साधक न होकर एक विशिष्ट साधक है। आचार्य को धर्म-प्रधान श्रमण-सघ का पिता कहा है। "आचार्य परम पिता।" तीर्थकर तो नही पर तीर्थकर सदृश है। वह ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि पाच आचारो का स्वय दृढता से पालन करता है तथा अन्य साधको को दिशा-दर्शन देता है। दीपक की तरह स्वय जलकर दूसरे आत्म-दीपो को प्रदीप्त करता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—यह चतुर्विध सघ है, इसकी आध्यात्मिक-साधना के नेतृत्व का भार आचार्य पर ही होता है। "नमो आयरियाण" इस पद के द्वारा अनन्त-अनन्त भूत, वर्तमान एव अनागत आचार्यों को नमस्कार किया जाता है।

चतुर्थ पद मे उपाध्यायो को नमस्कार किया गया है। यह पद भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। साधक-जीवन मे विवेक-विज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। भेद-विज्ञान के द्वारा जड और चेतन के, धर्म और अधर्म के, उत्थान एव पतन के, ससार और मोक्ष के पृथक्करण का भान होने पर ही साधक अपना उच्च एव आदर्श जीवन बना सकता है और साधना के सर्वोत्तुग शिखर पर पहुच सकता है। अत आध्यात्मिक विद्या के शिक्षण का कर्तृत्व उपाध्याय पर है।

"उप-समीपेऽधीयते यस्मात् इति उपाध्याय।" उपाध्याय मानव-जीवन की अन्तर्ग्रन्थियो को सूक्ष्म पद्धति से सुलझाते है और पापाचार के प्रति विरक्ति की तथा सदाचार के प्रति अनुरक्ति की शिक्षा देने वाले है। "नमो उवज्झायाण" इस पद द्वारा अनन्तानन्त भूत, वर्तमान एव आगामी काल के उपाध्यायो को वन्दना की जाती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त तथा सूत्र पढाने के कारण उपकारी होने से उपाध्याय नमस्कार के योग्य है।

पाचवे पद मे साधुओ को नमस्कार किया गया है। निर्वाण-साधक को अर्थात् सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नो और इनके द्वारा मोक्ष को साधने वाले अथवा सब प्राणियो पर समभाव रखने वाले, मोक्षाभिलाषी भव्यो के सहायक तथा अढाई द्वीप रूप लोक मे रहे हुए सभी सर्वज्ञ आज्ञानुवर्ती साधुओ को नमस्कार हो। "साधयति मोक्षमार्गमिति साधु" अर्थात् जो सम्यग्ज्ञान-दर्शन एव चारित्र रूप रत्नत्रय की, मोक्षमार्ग की साधना करते है, वे साधु है। □□

[१]

प्रथम अध्ययन : सामायिक

प्रतिज्ञासूत्र

करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं— मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ—भगवन् ! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ। अतः सावद्य-पाप कर्म वाले व्यापारों का त्याग करता हूँ।

जीवन पर्यन्त मन, वचन और शरीर— इन तीनों योगों से पाप कर्म न मैं स्वयं करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा और न करने वालों का अनुमोदन ही करूंगा।

भन्ते ! पूर्वकृत पापों से निवृत्त होता हूँ, अपने मन से पापों को बुरा मानता हूँ, आपकी साक्षी से उनकी गर्हा—निन्दा करता हूँ, अतीत में कृत पापों का पूर्ण रूप से परित्याग करता हूँ।

विवेचन—जब मोक्षाभिलाषी साधक, गृहस्थ जीवन से सर्वविरति-साधुता की ओर अग्रसर होता है, तब यह सामायिकसूत्र बोला जाता है। विश्व-हितकर संत के पद पर पहुँचने के लिये इस सामायिक सूत्र का आलम्बन लेना जैन परम्परा के अनुसार अनिवार्य है।

सामायिक का उद्देश्य समभाव की साधना है। प्राणिमात्र पर समभाव रखना महान् उच्च आदर्श है। शास्त्रकार कहते हैं—

> "जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
> तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं।" —अनुयोगद्वार

केवली भगवान् ने कहा है—जो (साधक) समस्त त्रस और स्थावर जीवों के प्रति समभाव धारण करता है, उसी को सामायिक की प्राप्ति होती है।

जैनधर्म समताप्रधान धर्म है, समता की साधना को ही सामायिक कहते हैं। सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'समस्य आयः समायः, स प्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्' अर्थात् वह अनुष्ठान जिसका प्रयोजन जीवन में समता लाना है। गृहस्थ श्रावक सामायिक स्वीकार करते समय दो करण और तीन योग से साधारणतया एक मुहूर्त्त अर्थात् ४८ मिनिट के लिये सावद्ययोग का त्याग करता है। जैनधर्म में जो भी प्रत्याख्यान अथवा नियम किया जाता है उसमें करण और योग का होना आवश्यक है। करण का अर्थ है—प्रवृत्ति। उसके तीन रूप हैं—(१) स्वयं करना, (२) दूसरे से कराना, और (३) अनुमोदन करना। योग का अर्थ है मन, वचन और शरीर।

तीसरा पद 'नमो आयरियाण' है। आचार्य भारतीय सस्कृति का सच्चा सरक्षक है, पथप्रदर्शक है तथा आलोक-स्तभ है। आचार्य कोई साधारण साधक न होकर एक विशिष्ट साधक है। आचार्य को धर्म-प्रधान श्रमण-सघ का पिता कहा है। "आचार्य परम पिता।" तीर्थंकर तो नही पर तीर्थंकर सदृश है। वह ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि पाच आचारो का स्वय दृढता से पालन करता हे तथा अन्य साधको को दिशा-दर्शन देता है। दीपक की तरह स्वय जलकर दूसरे आत्म-दीपो को प्रदीप्त करता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—यह चतुर्विध सघ है, इसकी आध्यात्मिक-साधना के नेतृत्व का भार आचार्य पर ही होता है। "नमो आयरियाण" इस पद के द्वारा अनन्त-अनन्त भूत, वर्तमान एव अनागत आचार्यो को नमस्कार किया जाता है।

चतुर्थ पद मे उपाध्यायो को नमस्कार किया गया है। यह पद भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। साधक-जीवन मे विवेक-विज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। भेद-विज्ञान के द्वारा जड और चेतन के, धर्म और अधर्म के, उत्थान एव पतन के, ससार और मोक्ष के पृथक्करण का भान होने पर ही साधक अपना उच्च एव आदर्श जीवन बना सकता है और साधना के सर्वोत्तुग शिखर पर पहुच सकता है। अत आध्यात्मिक विद्या के शिक्षण का कर्तृत्व उपाध्याय पर है।

"उप-समीपेऽधीयते यस्मात् इति उपाध्याय ।" उपाध्याय मानव-जीवन की अन्तर्ग्रन्थियो को सूक्ष्म पद्धति से सुलझाते है और पापाचार के प्रति विरक्ति की तथा सदाचार के प्रति अनुरक्ति की शिक्षा देने वाले है। "नमो उवज्झायाण" इस पद द्वारा अनन्तानन्त भूत, वर्तमान एव आगामी काल के उपाध्यायो को वन्दना की जाती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त तथा सूत्र पढाने के कारण उपकारी होने मे उपाध्याय नमस्कार के योग्य है।

पाचवे पद मे साधुओ को नमस्कार किया गया है। निर्वाण-साधक को अर्थात् सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नो और इनके द्वारा मोक्ष को साधने वाले अथवा सब प्राणियो पर समभाव रखने वाले, मोक्षाभिलाषी भव्यो के सहायक तथा अढाई द्वीप रूप लोक मे रहे हुए सभी सर्वज्ञ आज्ञानुवर्ती साधुओ को नमस्कार हो। "साधयति मोक्षमार्गमिति साधु" अर्थात् जो सम्यग्ज्ञान-दर्शन एव चारित्र रूप रत्नत्रय की, मोक्षमार्ग की साधना करते हे, वे साधु है। □□

[१]

प्रथम अध्ययन : सामायिक

प्रतिज्ञासूत्र

करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं—मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ—भगवन् ! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ। अतः सावद्य-पाप कर्म वाले व्यापारों का त्याग करता हूँ।

जीवन पर्यन्त मन, वचन और शरीर— इन तीनों योगों से पाप कर्म न मैं स्वयं करूँगा न दूसरों से कराऊँगा और न करने वालों का अनुमोदन ही करूँगा।

भन्ते ! पूर्वकृत पापों से निवृत्त होता हूँ, अपने मन में पापों को बुरा मानता हूँ, आपकी साक्षी से उनकी गर्हा—निन्दा करता हूँ, अतीत में कृत पापों का पूर्ण रूप से परित्याग करता हूँ।

विवेचन—जब मोक्षाभिलाषी साधक, गृहस्थ जीवन से सर्वविरति-साधुता की ओर अग्रसर होता है, तब यह सामायिकसूत्र बोला जाता है। विश्व-हितकर संत के पद पर पहुँचने के लिये इस सामायिक सूत्र का आलम्बन लेना जैन परम्परा के अनुसार अनिवार्य है।

सामायिक का उद्देश्य समभाव की साधना है। प्राणिमात्र पर समभाव रखना महान् उच्च आदर्श है। शास्त्रकार कहते हैं—

"जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं।" —अनुयोगद्वार

केवली भगवान् ने कहा है—जो (साधक) समस्त त्रस और स्थावर जीवों के प्रति समभाव धारण करता है, उसी को सामायिक की प्राप्ति होती है।

जैनधर्म समताप्रधान धर्म है, समता की साधना को ही सामायिक कहते हैं। सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'समस्य आयः समायः, स प्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्' अर्थात् वह अनुष्ठान जिसका प्रयोजन जीवन में समता लाना है। गृहस्थ श्रावक सामायिक स्वीकार करते समय दो करण और तीन योग से साधारणतया एक मुहूर्त्त अर्थात् ४८ मिनिट के लिये सावद्ययोग का त्याग करता है। जैनधर्म में जो भी प्रत्याख्यान अथवा नियम किया जाता है उसमें करण और योग का होना आवश्यक है। करण का अर्थ है—प्रवृत्ति। उसके तीन रूप हैं—(१) स्वयं करना, (२) दूसरे से कराना, और (३) अनुमोदन करना। योग का अर्थ है मन, वचन और शरीर।

सर्वश्रेष्ठ त्याग तीनो करणो और तीनो योगो से होता है। मुनि की सामायिक तीन करण तीन योग से होती है, अत सर्वोत्कृष्ट त्याग मुनि का माना गया हे। गृहस्थ की सामायिक दो करण तीन योग से होती हे। सामायिक पाठ का उच्चारण करते समय यदि कोई गृहस्थ श्रावक स्वय सामायिक व्रत ग्रहण कर रहा है अथवा साधु उसे व्रत ग्रहण करवा रहा है तो 'दुविह तिविहेण' पाठ वोला जाएगा और 'जावज्जीवाए' के स्थान पर 'जावनियम' कहा जाएगा।

जेनधर्म मे पतन के दो कारण माने गये है—योग और कपाय। योग का अर्थ है—मन, वचन और काया की हलचल। कपाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारो आत्मा की वेपम्यपूर्ण अवस्थाएँ है। क्रोध उस अवस्था का नाम है जब हम दूसरे को घृणा या द्वेप की दृष्टि मे देखते हे और हानि पहुँचाना चाहते है। मान की अवस्था मे द्वेप भावना न्यून होने पर भी उस रूप मे भेदबुद्धि रहती हे, हम स्वय को ऊचा मानते है और दूसरे को नीचा, स्वय को बडा और दूसरे को छोटा, अपने को धर्मात्मा एव दूसरे को पापी, अधम मानते है। माया का अर्थ है स्वार्थ को प्रच्छन्न-रूप से या कपट के द्वारा पूर्ण करने की भावना। लोभ अर्थात् अधिक लाभ की इच्छा। लोभावस्था मे स्वय के स्वार्थ को जितना महत्त्व दिया जाता है, उतना दूसरे के स्वार्थ को नही। सामायिक इन्ही अशुभ योगो और कपायो से ऊपर उठने की साधना हे।

सामायिक पूर्ण करते समय गृहस्थ सभावित भूलो का चिन्तन करता है, जिन्हे जैन परिभापा मे 'अतिचार' कहते है। वे अतिचार पाच प्रकार के है—१ मनोदुष्प्रणिधान, २ वचोदुष्प्रणिधान, ३ कायदुष्प्रणिधान, ४ स्मृत्यन्तर्धान, ५ अनवस्थितता। प्रणिधान का अर्थ है—विनियोग, जिसे अग्रेजी मे Investment कहा जाता है। दुष्प्रणिधान का अर्थ है—गलत विनियोग (Wrong Investment)। मन, वचन और काया प्रत्येक साधक की बहुमूल्य सम्पत्ति है। स्मृत्यन्तर्धान का अर्थ हे—इस वात को भूल जाना कि मै सामायिक मे हूँ और व्यर्थ की वातो मे लगना। साधक को सदा जागरूक रहना चाहिये। अनवस्थितता का अर्थ है—चचलता अथवा अन्यमनस्कता। जितने समय के लिये व्रत लिया है, उसे स्थिरता के साथ पूरा करना चाहिये।

मगलसूत्र

चत्तारि मगल

अरिहता मगल,

सिद्धा मगल,

साहू मगल,

केवलि-पण्णत्तो धम्मो मगल।

भावार्थ—ससार मे चार मगल है—

(१) अरिहन्त भगवान् मगल है।
(२) सिद्ध भगवान् मगल हे।
(३) साधु-महाराज मगल है।
(४) सर्वज्ञप्ररूपित धर्म मगल है।

विवेचन—मगल दो प्रकार के हे—लौकिक मगल और लोकोत्तर मगल। दधि, अक्षत, पुष्पमाला

आदि लौकिक मगल माने गए है। सूत्रोक्त अरिहन्त आदि लोकोत्तर मगल है। लौकिक मगल एकान्त और आत्यन्तिक मगल नही होते। अत अध्यात्मनिष्ठ आत्मार्थी महापुरुषो ने लौकिक मगल से पृथक् अलौकिक मगल की शोध की है। अलौकिक मगल कभी अमगल नही होता है। सासारिक उलझनो से भरे लौकिक मगल से आज दिन तक न, तो किसी ने स्थायी शान्ति प्राप्त की है और न भविष्य मे ही कोई कर पाएगा। स्थायी आनन्द जब तक न मिले, तब तक वह मगल कैसा ? अत अलौकिक मगल ही वास्तविक मगल है।

प्रस्तुत चार मगलो मे प्रथम दो मगल आदर्श रूप है। हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमश अरिहत और अन्त मे सिद्ध पद की प्राप्ति करना ही है। अरिहन्त और सिद्ध पूर्ण आत्मविशुद्धि अर्थात् सिद्धता के आदर्श होने से आदर्श मगल है, जबकि साधु साधकता के आदर्श मगल है। साधु पद मे आचार्य और उपाध्याय भी समाहित हो जाते है।

सबसे अन्त मे धर्म-मगल आता है। इसी के प्रभाव से या धर्म के फलस्वरूप ही पूर्ववर्ती अन्य पदो की प्रतिष्ठा है। धर्म की शक्ति सर्वोपरि है।

उत्तम-चतुष्टय

चत्तारि लोगुत्तमा,
अरिहता लोगुत्तमा,
सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा,
केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

भावार्थ—ससार मे चार उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है—

१ अरिहत भगवान् लोक मे उत्तम है।
२ सिद्ध भगवान् लोक मे उत्तम है।
३ साधु महाराज लोक मे उत्तम है।
४ सर्वज्ञप्ररूपित धर्म लोक मे उत्तम है।

विवेचन—आगमकारो ने कहा है कि उत्तम चार है। अनत काल से भटकती हुई भव्य आत्माओ को उत्थान के पथ पर ले जाने वाले अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म ये चार ही उत्तम है तथा जो उत्तम होता है, वही मगल होता है। यह बात विश्व-विख्यात है कि आज ससार का प्रत्येक प्रबुद्ध प्राणी उत्तम की शोध मे लगा हुआ है, चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, राजनैतिक क्षेत्र हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र हो। चार उत्तमो मे अरिहत और सिद्ध परमात्मा के रूप मे उत्तम है। कर्ममल के दूर हो जाने के बाद आत्मा का शुद्ध ज्योति रूप हो जाना ही परमात्मत्व है। साधु पद मे आचार्य, उपाध्याय और मुनि, महात्मा के रूप मे उत्तम है। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने के लिये धर्म ही एक मात्र उत्तम एव उत्कृष्ट साधन है। कहा भी है—'धारणाद् धर्म' अर्थात् दुर्गति मे गिरती हुई आत्माओ को जो धारण करता है, बचाता है, वही उत्तम धर्म है।

आगमकार ने इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है कि धर्म सब मगलो का मूल है। यदि

सर्वश्रेष्ठ त्याग तीनो करणो और तीनो योगो मे होता है। मुनि की सामायिक तीन करण तीन योग से होती हे, अत सर्वोत्कृष्ट त्याग मुनि का माना गया हे। गृहस्थ की सामायिक दो करण तीन योग से होती है। सामायिक पाठ का उच्चारण करते समय यदि कोई गृहस्थ श्रावक स्वय सामायिक व्रत ग्रहण कर रहा है अथवा साधु उसे व्रत ग्रहण करवा रहा है तो 'दुविह तिविहेण' पाठ वोला जाएगा और 'जावज्जोवाए' के स्थान पर 'जावनियम' कहा जाएगा।

जैनधर्म मे पतन के दो कारण माने गये है—योग और कपाय। योग का अर्थ है—मन, वचन और काया की हलचल। कपाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारो आत्मा की वेपम्यपूर्ण अवस्थाएँ है। क्रोध उस अवस्था का नाम है जब हम दूसरे को घृणा या द्वेष की दृष्टि से देखते है और हानि पहुँचाना चाहते है। मान की अवस्था मे द्वेप भावना न्यून होने पर भी उस रूप मे भेदबुद्धि रहती है, हम स्वय को ऊचा मानते है और दूसरे को नीचा, स्वय को बडा और दूसरे को छोटा, अपने को धर्मात्मा एव दूसरे को पापी, अधम मानते है। माया का अर्थ है स्वार्थ को प्रच्छन्न-रूप से या कपट के द्वारा पूर्ण करने की भावना। लोभ अर्थात् अधिक लाभ की इच्छा। लोभावस्था मे स्वय के स्वार्थ को जितना महत्त्व दिया जाता है, उतना दूसरे के स्वार्थ को नही। सामायिक इन्ही अशुभ योगो और कपायो मे ऊपर उठने की साधना हे।

सामायिक पूर्ण करते समय गृहस्थ सभावित भूलो का चिन्तन करता है, जिन्हे जैन परिभाषा मे 'अतिचार' कहते है। वे अतिचार पाच प्रकार के है—१ मनोदुष्प्रणिधान, २ वचोदुष्प्रणिधान, ३ कायदुष्प्रणिधान, ४ स्मृत्यन्तर्धान, ५ अनवस्थितता। प्रणिधान का अर्थ है—विनियोग, जिसे अग्रेजी मे Investment कहा जाता है। दुष्प्रणिधान का अर्थ है—गलत विनियोग (Wrong Investment)। मन, वचन और काया प्रत्येक साधक की बहुमूल्य सम्पत्ति है। स्मृत्यन्तर्धान का अर्थ है—इस वात को भूल जाना कि मै सामायिक मे हूँ और व्यर्थ की वातो मे लगना। साधक को सदा जागरूक रहना चाहिये। अनवस्थितता का अर्थ है—चचलता अथवा अन्यमनस्कता। जितने समय के लिये व्रत लिया है, उसे स्थिरता के साथ पूरा करना चाहिये।

मगलसूत्र

चत्तारि मगल

अरिहता मगल,

सिद्धा मगल,

साहू मगल,

केवलि-पण्णत्तो धम्मो मगल।

भावार्थ—ससार मे चार मगल है—

(१) अरिहन्त भगवान् मगल है।
(२) सिद्ध भगवान् मगल है।
(३) साधु-महाराज मगल है।
(४) सर्वज्ञप्ररूपित धर्म मगल है।

विवेचन—मगल दो प्रकार के हे—लौकिक मगल और लोकोत्तर मगल। दधि, अक्षत, पुष्पमाला

आदि लौकिक मगल माने गए है। सूत्रोक्त अरिहन्त आदि लोकोत्तर मगल है। लौकिक मगल एकान्त और आत्यन्तिक मगल नही होते। अत अध्यात्मनिष्ठ आत्मार्थी महापुरुषो ने लौकिक मगल से पृथक् अलौकिक मगल की शोध की है। अलौकिक मगल कभी अमगल नही होता है। सासारिक उलझनो से भरे लौकिक मगल से आज दिन तक न तो किसी ने स्थायी शान्ति प्राप्त की है और न भविष्य मे ही कोई कर पाएगा। स्थायी आनन्द जब तक न मिले, तब तक वह मगल कैसा ? अत अलौकिक मगल ही वास्तविक मगल है।

प्रस्तुत चार मगलो मे प्रथम दो मगल आदर्श रूप है। हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमश अरिहत और अन्त मे सिद्ध पद की प्राप्ति करना ही है। अरिहन्त और सिद्ध पूर्ण आत्मविशुद्धि अर्थात् सिद्धता के आदर्श होने से आदर्श मगल है, जबकि साधु साधकता के आदर्श मगल है। साधु पद मे आचार्य और उपाध्याय भी समाहित हो जाते है।

सबसे अन्त मे धर्म-मगल आता है। इसी के प्रभाव से या धर्म के फलस्वरूप ही पूर्ववर्ती अन्य पदो की प्रतिष्ठा है। धर्म की शक्ति सर्वोपरि है।

उत्तम-चतुष्टय

चत्तारि लोगुत्तमा,
अरिहता लोगुत्तमा,
सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा,
केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

भावार्थ—ससार मे चार उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है—

१ अरिहत भगवान् लोक मे उत्तम है।
२ सिद्ध भगवान् लोक मे उत्तम है।
३ साधु महाराज लोक मे उत्तम है।
४ सर्वज्ञप्ररूपित धर्म लोक मे उत्तम है।

विवेचन—आगमकारो ने कहा है कि उत्तम चार है। अनत काल से भटकती हुई भव्य आत्माओ को उत्थान के पथ पर ले जाने वाले अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म ये चार ही उत्तम है तथा जो उत्तम होता है, वही मगल होता है। यह बात विश्व-विख्यात है कि आज ससार का प्रत्येक प्रबुद्ध प्राणी उत्तम की शोध मे लगा हुआ है, चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, राजनैतिक क्षेत्र हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र हो। चार उत्तमो मे अरिहत और सिद्ध परमात्मा के रूप मे उत्तम है। कर्ममल के दूर हो जाने के बाद आत्मा का शुद्ध ज्योति रूप हो जाना ही परमात्मत्व है। साधु पद मे आचार्य, उपाध्याय और मुनि, महात्मा के रूप मे उत्तम है। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने के लिये धर्म ही एक मात्र उत्तम एव उत्कृष्ट साधन है। कहा भी है—'धारणाद् धर्म' अर्थात् दुर्गति मे गिरती हुई आत्माओ को जो धारण करता है, बचाता है, वही उत्तम धर्म है।

आगमकार ने इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है कि धर्म सब मगलो का मूल है। यदि

पुष्प मे सुगन्ध न हो, अग्नि मे उष्णता न हो, जल मे शीतलता न हो, अथवा मिसरी मे मिठास न हो तो उनका क्या स्वरूप रहेगा ? कुछ भी नही । ठीक यही दशा धर्महीन मानव की है । कहा भी है—"धर्मेण हीना पशुभि समाना" अर्थात् धर्महीन मानव और पशु मे कोई अन्तर नहीं—दोनो समान है । धर्म की साधना शुभ की साधना है । साधना दो प्रकार की है—१ नीति की साधना, और २ धर्म की साधना । नीति की साधना, पुण्य की साधना है । यह साधना केवल नैतिकता तक ले जा सकती है और धर्म-प्रासाद की नीव का काम करती है । धर्म की साधना मुक्ति तक ले जाती है ।

शरण-सूत्र

चत्तारि सरण पवज्जामि,
अरिहते सरण पवज्जामि,
सिद्धे सरण पवज्जामि,
साहू सरण पवज्जामि,
केवलि-पण्णत्त धम्म सरण पवज्जामि ।

भावार्थ—मै चार की शरण स्वीकार करता हूँ —

१ अरिहतो की शरण स्वीकार करता हूँ ।
२ सिद्धो की शरण स्वीकार करता हूँ ।
३ साधुओ की शरण स्वीकार करता हूँ ।
४ सर्वज्ञप्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ ।

विवेचन—विश्व का कोई भी भौतिक पदार्थ मानव को वास्तविक रूप मे शरण नही दे सकता है । चाहे माता हो, पिता हो, पुत्र हो, पत्नी हो, धन वैभव हो अथवा अन्य कोई स्वजन-परिजन हो । किन्तु इस तथ्य को न जानकर अज्ञानी मानव दुनिया के नश्वर पदार्थो को ही शरण समझता है ।

वास्तविकता यह है कि विश्व मेसिवाय अरिहत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञप्ररूपित धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई शरणदाता नही है । जितने भी अतीत एव वर्तमान मे दुष्ट जन शिष्ट बने है, वे चार शरण स्वीकार करने पर ही बने है । मनुष्य धर्म की शरण मे आना चाहता है । धर्म मे शरण देने की क्षमता है । "धम्मो दीवो पइट्ठा ण" अर्थात् धर्म एक दीप है—प्रकाशपुज है, एक प्रतिष्ठा है—एक आधार है, एक गति है । शरण देने वाले और भी अनेक हो सकते है किन्तु वही उत्तम शरण है जो हमे त्राण देता है । सकटो से उबारता है, भय से विमुक्त करके निर्भय बनाता हे । ससार का कौन-सा पदार्थ है जो हमे सदा के लिए मृत्यु के भय से बचा सके ? पाप-कर्मो के अनिष्ट विपाक से हमारी रक्षा कर सके ? यह शक्ति सूत्रोक्त चार की शरण ग्रहण मे ही है । अतएव यही चार पारमार्थिक दृष्टि से शरण-भूत है ।

प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि ठामि काउस्सग जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ, वाइओ, माणसिओ,

उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ अणायारो, अणिच्छियव्वो, असमणपाउग्गो, नाणे तह दंसणे चरित्ते सुए सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पचण्हं महव्वयाणं, छण्हं जीवनिकायाणं, सत्तण्हं पिंडेसणाणं, अट्ठण्हं पवयणमाऊणं, नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं, दसविहे समणधम्मे, समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

भावार्थ—हे भदन्त ! मैं चित्त की स्थिरता के साथ, एक स्थान पर स्थिर रहकर, ध्यान-मौन के सिवाय अन्य सभी व्यापारो का परित्याग रूप कायोत्सर्ग करता हूं । [परन्तु इसके पहले शिष्य अपने दोषो की आलोचना करता है—] ज्ञान मे, दर्शन मे, चारित्र मे तथा विशेष रूप से श्रुतधर्म मे, सम्यक्त्व रूप तथा चारित्र रूप सामायिक मे 'जो मे देवसिओ' अर्थात् मेरे द्वारा प्रमादवश दिवस सम्बन्धी (तथा रात्रि सम्बन्धी) संयम मर्यादा का उल्लङ्घन रूप जो अतिचार किया गया हो, चाहे वह कायिक, वाचिक अथवा मानसिक अतिचार हो, उस अतिचार का पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

वह अतिचार सूत्र के विरुद्ध है, मार्ग अर्थात् परम्परा से विरुद्ध है, अकल्प्य—आचार से विरुद्ध है, नही करने योग्य है, दुर्ध्यान-आर्त्तध्यान रूप है, दुर्विचिन्तित—रौद्रध्यान रूप है, नही आचरने योग्य है, नही चाहने योग्य है, सक्षेप मे साधुवृत्ति के सर्वथा विपरीत है—साधु को नही करने योग्य है ।

योग-निरोधात्मक तीन गुप्ति, चार कषायो की निवृत्ति, पाच महाव्रत, छह पृथिवीकाय, जलकाय आदि जीवनिकायो की रक्षा, सात पिण्डैषणा—(१ असंसृष्टा, २ संसृष्टा, ३ उद्धृता, ४ अल्पलेपा, ५ अवगृहीता, ६ प्रगृहीता, तथा ७ उज्झितधर्मिका), आठ प्रवचन माता (पाच समिति, तीन गुप्ति), नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति, दशविध श्रमणधर्म (श्रमण-सम्बन्धी कर्तव्य) यदि खण्डित हुए हो, अथवा विराधित हुए हो, तो वह सब पाप मेरे लिए निष्फल हो ।

विवेचन—मानव, देव एव दानव के बीच की कडी है । वह अपनी सद्वृत्तियो के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर सकता है और असद्वृत्तियो के द्वारा दानव जैसी निम्न कोटि मे भी पहुँच सकता है । मनुष्य के पास तीन महान् शक्तियाँ है—मन, वचन एव काय । इन शक्तियो के बल पर वह प्रशस्त-अप्रशस्त चाहे जैसा जीवन बना सकता है । सन्तो-मुनिजनो को तो कदम-कदम पर मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ चेष्टाओ का ध्यान रखना ही चाहिये । इस विषय मे जरा भी असावधानी भयकर पतन का कारण बन सकती है । प्रस्तुत प्रतिक्रमण-सूत्र के पाठ द्वारा इन्ही तीन शक्तियो—योगो से रात-दिन मे होने वाली भूलो का परिमार्जन किया जाता है और भविष्य मे सावधान रहने की सुदृढ धारणा बनाई जाती है । यह प्रतिक्रमण का प्रारम्भिक सूत्र है । इसमे आचार-विचार सम्बन्धी भूलो का सपेक्ष मे प्रतिक्रमण किया गया है ।

कुछ पारिभाषिक शब्दो का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'उस्सुत्तो'—उस्सुत्तो का सस्कृत रूप 'उत्सूत्र' होता है । उत्सूत्र का अर्थ है—सूत्र अर्थात् आगम से विरुद्ध आचरण ।

पुष्प मे सुगन्ध न हो, अग्नि मे उष्णता न हो, जल मे शीतलता न हो, अथवा मिसरी मे मिठास न हो तो उनका क्या स्वरूप रहेगा ? कुछ भी नही। ठीक यही दशा धर्महीन मानव की है। कहा भी है—"धर्मेण हीना पशुभि समाना" अर्थात् धर्महीन मानव और पशु मे कोई अन्तर नही—दोनो समान है। धर्म की साधना शुभ की साधना है। साधना दो प्रकार की है—१ नीति की साधना, और २ धर्म की साधना। नीति की साधना, पुण्य की साधना है। यह साधना केवल नैतिकता तक ले जा सकती है और धर्म-प्रासाद की नीव का काम करती है। धर्म की साधना मुक्ति तक ले जाती है।

शरण-सूत्र

चत्तारि सरण पवज्जामि,

अरिहते सरण पवज्जामि,

सिद्धे सरण पवज्जामि,

साहू सरण पवज्जामि,

केवलि-पण्णत्त धम्म सरण पवज्जामि।

भावार्थ—मै चार की शरण स्वीकार करता हूँ —

१ अरिहतो की शरण स्वीकार करता हूँ।
२ सिद्धो की शरण स्वीकार करता हूँ।
३ साधुओ की शरण स्वीकार करता हूँ।
४ सर्वज्ञप्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

विवेचन—विश्व का कोई भी भौतिक पदार्थ मानव को वास्तविक रूप मे शरण नही दे सकता है। चाहे माता हो, पिता हो, पुत्र हो, पत्नी हो, धन वैभव हो अथवा अन्य कोई स्वजन-परिजन हो। किन्तु इस तथ्य को न जानकर अज्ञानी मानव दुनिया के नश्वर पदार्थो को ही शरण समझता है।

वास्तविकता यह है कि विश्व मेसिवाय अरिहत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञप्ररूपित धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई शरणदाता नही है। जितने भी अतीत एव वर्तमान मे दुष्ट जन शिष्ट बने है, वे चार शरण स्वीकार करने पर ही बने है। मनुष्य धर्म की शरण मे आना चाहता है। धर्म मे शरण देने की क्षमता है। "धम्मो दीवो पइट्ठा ण" अर्थात् धर्म एक दीप है—प्रकाशपुज है, एक प्रतिष्ठा है—एक आधार है, एक गति है। शरण देने वाले और भी अनेक हो सकते है किन्तु वही उत्तम शरण हे जो हमे त्राण देता है। सकटो से उबारता हे, भय से विमुक्त करके निर्भय बनाता हे। ससार का कौन-सा पदार्थ है जो हमे सदा के लिए मृत्यु के भय से बचा सके ? पाप-कर्मो के अनिष्ट विपाक से हमारी रक्षा कर सके ? यह शक्ति सूत्रोक्त चार की शरण ग्रहण मे ही है। अतएव यही चार पारमार्थिक दृष्टि से शरण-भूत है।

प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि ठामि काउस्सग जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ, वाइओ, माणसिओ,

उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ अणायारो, अणिच्छियव्वो, असमणपाउग्गो, नाणे तह दंसणे चरित्ते सुए सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, छण्हं जीवनिकायाणं, सत्तण्हं पिंडेसणाणं, अट्ठण्हं पवयणमाऊणं, नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं, दसविहे समणधम्मे, समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

भावार्थ—हे भदन्त ! मै चित्त की स्थिरता के साथ, एक स्थान पर स्थिर रहकर, ध्यान-मौन के सिवाय अन्य सभी व्यापारो का परित्याग रूप कायोत्सर्ग करता हूं। [परन्तु इसके पहले शिष्य अपने दोषो की आलोचना करता है—] ज्ञान मे, दर्शन मे, चारित्र मे तथा विशेष रूप मे श्रुतधर्म मे, सम्यक्त्व रूप तथा चारित्र रूप सामायिक मे 'जो मे देवसिओ' अर्थात् मेरे द्वारा प्रमादवश दिवस सम्बन्धी (तथा रात्रि सम्बन्धी) सयम मर्यादा का उल्लङ्घन रूप जो अतिचार किया गया हो, चाहे वह कायिक, वाचिक अथवा मानसिक अतिचार हो, उस अतिचार का पाप मेरे लिए निष्फल हो।

वह अतिचार सूत्र के विरुद्ध है, मार्ग अर्थात् परम्परा से विरुद्ध है, अकल्प्य - आचार से विरुद्ध है, नही करने योग्य है, दुर्ध्यान-आर्त्तध्यान रूप है, दुर्विचिन्तित—रौद्रध्यान रूप है, नही आचरने योग्य है, नही चाहने योग्य है, सक्षेप मे साधुवृत्ति के सर्वथा विपरीत है—साधु को नही करने योग्य है।

योग-निरोधात्मक तीन गुप्ति, चार कषायो की निवृत्ति, पाच महाव्रत, छह पृथिवीकाय, जलकाय आदि जीवनिकायो की रक्षा, सात पिण्डैषणा—(१ असंसृष्टा, २ संसृष्टा, ३ उद्धृता, ४ अल्पलेपा, ५ अवगृहीता, ६ प्रगृहीता, तथा ७ उज्झितधर्मिका), आठ प्रवचन माता (पाच समिति, तीन गुप्ति), नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति, दशविध श्रमणधर्म (श्रमण-सम्बन्धी कर्तव्य) यदि खण्डित हुए हो, अथवा विराधित हुए हो, तो वह सब पाप मेरे लिए निष्फल हो।

विवेचन—मानव, देव एव दानव के बीच की कडी है। वह अपनी सद्वृत्तियो के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर सकता है और असद्वृत्तियो के द्वारा दानव जैसी निम्न कोटि मे भी पहुँच सकता है। मनुष्य के पास तीन महान् शक्तियाँ है—मन, वचन एव काय। इन शक्तियो के बल पर वह प्रशस्त-अप्रशस्त चाहे जैसा जीवन बना सकता है। सन्तो-मुनिजनो को तो कदम-कदम पर मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ चेष्टाओ का ध्यान रखना ही चाहिये। इस विषय मे जरा भी असावधानी भयकर पतन का कारण बन सकती है। प्रस्तुत प्रतिक्रमण-सूत्र के पाठ द्वारा इन्ही तीन शक्तियो—योगो से रात-दिन मे होने वाली भूलो का परिमार्जन किया जाता है और भविष्य मे सावधान रहने की सुदृढ धारणा बनाई जाती है। यह प्रतिक्रमण का प्रारम्भिक सूत्र है। इसमे आचार-विचार सम्बन्धी भूलो का सपेक्ष मे प्रतिक्रमण किया गया है।

कुछ पारिभाषिक शब्दो का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'उस्सुत्तो'—उस्सुत्तो का संस्कृत रूप 'उत्सूत्र' होता है। उत्सूत्र का अर्थ है—सूत्र अर्थात् आगम से विरुद्ध आचरण।

'उम्मग्गो'—उन्मार्ग रूप अर्थात् क्षायोपशमिक भाव का उल्लङ्घन करके औदयिक भाव मे सक्रमण करना उन्मार्ग है। चारित्रावरण कर्म का जब क्षयोपशम होता है, तब चारित्र का आविर्भाव होता है और जब चारित्रावरण कर्म का उदय होता है तब चारित्र का घात होता हे। अत साधक को प्रतिपल उदय भाव से क्षायोपशमिक भाव मे सचरण करते रहना चाहिये। मार्ग का अर्थ परम्परा भी है।

'अकप्पो'—चरण एव करण रूप धर्मव्यापार कल्प अर्थात् आचार कहलाता है। चरण-करण के विरुद्ध आचरण करना अकल्प है।

'सुए'—सुए अर्थात् श्रुत का अर्थ है श्रुतज्ञान। वीतराग तीर्थकर भगवान् के श्रीमुख से सुना हुआ होने से आगम-साहित्य को श्रुत कहा जाता है। लिपिबद्ध होने से पूर्व आगम श्रुतिपरम्परा से ही ग्रहण किए जाते थे, अर्थात् गुरु अपने शिष्य को और शिष्य अपने शिष्य को मौखिक रूप मे आगम प्रदान करता था। इस कारण भी आगम 'श्रुत' कहलाता है। श्रुत-सम्बन्धी अतिचार का आशय है—श्रुत की विपरीत श्रद्धा एव प्ररूपणा।

'सत्तण्ह पिडेसणाण'—दोष रहित शुद्ध प्रासुक आहार-पानी ग्रहण करना एषणा है। पिण्डैषणा के सात प्रकार है—

१ अससृष्टा—देय भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।

२ ससृष्टा—देय भोजन से सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।

३ उद्धृता—वर्तन से थाली आदि मे गृहस्थ ने अपने लिए जो भोजन निकाल रखा हो, वह लेना।

४ अल्पलेपा—जिनमे चिकनाहट न हो, अतएव लेप न लग सके, इस प्रकार के भुने हुए चने आदि ग्रहण करना।

५ अवगृहीता—भोजनकाल के समय भोजनकर्त्ता ने भोजनार्थ थाली आदि मे जो भोजन परोस रक्खा हो, किन्तु अभी भोजन शुरु न किया हो, वह आहार लेना।

६ प्रगृहीता—थाली मे भोजनकर्ता द्वारा हाथ आदि से प्रथम वार तो प्रगृहीत हो चुका हो, पर दूसरी वार ग्रास लेने के कारण झूठा न हुआ हो, वह आहार लेना।

७ उज्झितधर्मा—जो आहार अधिक होने अथवा अन्य किसी कारण से फेकने योग्य समझकर डाला जा रहा हो, वह ग्रहण करना।

'अट्ठण्ह पवयणमाऊण'—पाच समिति और तीन गुप्ति मिलकर आठ प्रवचन-माताएँ है। सम्पूर्ण श्रमणाचार की आधारभूमि पाच समिति और तीन गुप्ति ही है। समीचीन यतनापूर्वक प्रवृत्ति समिति और योगो का सम्यक् निग्रह गुप्ति कहलाता है।

पाच समिति—१ ईर्यासमिति, २ भाषासमिति, ३ एषणासमिति, ४ आयाण-भडमत्तनिक्खेवणासमिति, ५ उच्चारपासवणखेल्ल-जल्ल-सघाण-परिट्ठावणियासमिति।

तीन गुप्ति—१ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति एव ३ कायगुप्ति।

'ज खडिग्र ज विराहिय'—जो खडित हुआ हो और विराधित हुआ हो। किसी व्रत का अल्पाशेन उल्लघन खण्डन कहलाता है और सर्वांशिन अतिक्रमण को विराधना कहते हैं। कहीं-कहीं सर्वांश नही किन्तु अधिकाश के उल्लघन को विराधना कहा गया है।

'मिच्छा मि दुक्कड'—मेरा दुष्कृत मिथ्या—निष्फल हो। 'मिच्छा मि' इस पद का 'मि' 'च्छा' 'मि' ऐसा पदच्छेद करके इस प्रकार अर्थ करते है—यथा 'मि'—कायिक और मानसिक अभिमान को छोडकर, 'छा'—असयमरूप दोष को ढक कर, 'मि'—चारित्र की मर्यादा मे रहा हुआ मै।

'दु' 'क' 'ड'—

'दु'—सावद्यकारी आत्मा की निन्दा करता हूँ, 'क'—किये हुए सावद्य कर्म को, 'ड'—उपशम द्वारा त्यागता हूँ। अर्थात् द्रव्य एव भाव से नम्र तथा चारित्रमर्यादा मे स्थित होकर म सावद्य क्रियाकारी आत्मा की निन्दा करता हूँ और किये हुए दुष्कृत (पाप) को उपशम भाव से हटाता हूँ। किन्तु यह एक क्लिष्ट कल्पना है।

ऐर्यापथिक-सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउ इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे बीय-क्कमणे, हरिय-क्कमणे, ओसा-उत्तिगपणग-दग-मट्टी-मक्कडा-सताणा-सकमणे,

जे मे जीवा विराहिया— एगिदिया, बेइदिया, तेइदिया, चउरिंदिया, पचिदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, सघाइया, सघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाण सकामिया, जीवियाओ ववरोविया,

तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—मै प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। मार्ग मे चलते हुए अथवा सयमधर्म पालन करते हुए लापरवाही अथवा असावधानी के कारण किसी भी जीव की किसी प्रकार की विराधना अर्थात् हिसा हुई हो तो मै उस पाप से निवृत्त होना चाहता हूँ।

स्वाध्याय आदि के लिये उपाश्रय से बाहर जाने मे और फिर लौटकर उपाश्रय आने मे अथवा मार्ग मे कही गमनागमन करते हुए प्राणियो को पैरो के नीचे या किसी अन्य प्रकार से कुचला हो, सचित्त जौ, गेहू या किसी भी तरह के बीजो को कुचला हो, घास अकुर आदि हरित वनस्पति को मसला हो, दबाया हो, आकाश से रात्रि मे गिरने वाली ओस, उत्तिग अर्थात् कीडी आदि के बिल, पाचो ही रग की सेवाल—काई, सचित्त जल, सचित्त पृथ्वी और मकडी के सचित्त जालो को दबाया हो, मसला हो तो मेरा वह सब अतिचारजन्य पाप मिथ्या हो—निष्फल हो तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय तक किसी भी जीव की विराधना—हिसा की हो, सामने आते हुए को रोका हो, धूल आदि से ढँका हो, जमीन पर या आपस मे मसला हो, एकत्रित करके ऊपर नीचे ढेर किया हो, असावधानी से क्लेशजनक रीति से छुआ हो, परितापित अर्थात् दु खित किया हो, थकाया हो, त्रस्त—हैरान किया हो, एक जगह से दूसरी जगह बदला हो, जीवन से रहित किया हो, तो मेरा वह सब पाप मिथ्या हो—निष्फल हो।

विवेचन—मनुष्य भ्रमणशील है। वह सदा-सर्वदा घूमता रहता है। कभी शरीर से घूमता है, कभी वाणी से दुनिया की सैर करता है, तो कभी मन से आकाश-पाताल को नापता है। उसका एक योग निरतर गतिशील रहता है। उसकी यात्रा जिन्दगी की पहली सास से प्रारम्भ होती है और अन्तिम सास तक चलती रहती है। साधु तो विशेष रूप से घुमक्कड है। तात्पर्य यह है कि जीवन मे गमनागमन करना अनिवार्य क्रिया है और उससे अन्य प्राणियो को पीडा होना भी स्वाभाविक है।

प्रस्तुत ऐर्यापथिक सूत्र मे गमनागमन आदि प्रवृत्तियो मे किस प्रकार और किन-किन जीवो को पीडा पहुँच जाती है ? इसका अत्यन्त सूक्ष्मता एव विशदता से वर्णन किया गया है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी सूक्ष्म एव स्थूल जीवो को हुई पीडा के लिये हृदय से पश्चात्ताप करके शुद्ध-विशुद्ध वनाने का प्रभावशाली विधान इस पाठ मे किया गया है।

जैनधर्म विवेकप्रधान धर्म है। विश्व मे जितने भी धर्म के व्याख्याकार हुए है, उन्होने प्रत्येक साधना को, चाहे वह लघु हो, चाहे महान्, चाहे सामान्य हो, चाहे विशिष्ट, विवेक की कसौटी पर कसकर देखा है। जिस साधना मे विवेक है, वह सम्यक् साधना है, शुभ योग वाली साधना है और जिसमे अविवेक है, वह असम्यक् और अशुभ योग वाली साधना है। आचाराङ्गसूत्र मे स्पष्ट कहा है—'विवेगे धम्ममाहिए' अर्थात् विवेक मे ही धर्म है, विवेक सत्यासत्य का परीक्षण करने वाला दिव्य नेत्र है। हेय क्या है, ज्ञेय क्या हे, उपादेय क्या है, कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है ? ।ववेकी पुरुप इन सव बातो का विवेक से ही निर्णय करता है। यतना अर्थात् विवेकपूर्वक चलने फिरने, खडे होने, बेठने, सोने, आदि से पाप कर्म का बन्ध नही होता, क्योकि पाप-कर्म के बन्धन का मूल कारण अयतना है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सये।
जय भुजतो भासतो, पाव-कम्म न बधई॥ —दश ४। ८

प्रस्तुत पाठ हृदय की कोमलता का ज्वलन्त उदाहरण है। विवेक और यतना के सकल्पो का जीता जागता चित्र है। आवश्यक प्रवृत्ति के लिए इधर-उधर आना-जाना हुआ हो और उपयोग रखते हुए भी यदि कही असावधानीवश किसी जीव को पीडा पहुँची हो तो उसके लिये प्रस्तुत सूत्र मे पश्चात्ताप प्रकट किया गया हे।

'इच्छामि पडिक्कमिउ इरियावहियाए विराहणाए'

यह प्रारम्भ का सूत्र आज्ञासूत्र हे। इसके द्वारा गुरुदेव से ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है।

'इच्छामि' शब्द से ध्वनित होता है कि साधक पर बाहर का कोई दवाव नही है। वह स्वेच्छापूर्वक अन्तर की प्रेरणा से ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहता है। इसके लिए गुरुदेव से आज्ञा माग रहा है। प्रायश्चित्त और दण्ड मे यही अन्तर है। प्रायश्चित्त मे अपराधी स्वय अपने अपराध को स्वीकार करके पुन आत्मशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करने को तत्पर रहता है। दण्ड मे स्वेच्छा के लिए कोई स्थान नही है।

'गमणागमणे' से लेकर 'जीवियाओ ववरोविया' तक का पाठ आलोचनासूत्र है। आलोचना का अर्थ है गुरु महाराज के समक्ष अपने अपराध को एक के बाद एक क्रमश प्रकट करना। अपनी भूल स्वीकार करना बहुत बडी बात है, और फिर उसे गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से यथावत् रूप मे निवेदन करना तो और भी बडी बात है। आत्मशोधन की आन्तरिक कामना रखने वाले साहसी वीर पुरुष ही ऐसा कर सकते है।

विशिष्ट शब्दो का स्पष्टीकरण

'अभिहया'—इसका सस्कृत रूप 'अभिहता' बनता है, जिसका अर्थ है सम्मुख आते हुए को रोका हो। अर्थात् सामने आते प्राणियो को रोककर उनकी स्वतन्त्र गति मे बाधा डाली हो।

'वत्तिया'—(वर्तिता) अर्थात् धूल आदि मे ढके हो।

'लेसिया'—का अर्थ है जीवो को भूमि पर मसलना और सघट्टिया का अर्थ है जीवो का स्पर्श करके पीडित करना।

'उत्तिग'—का अर्थ चीटियो का नाल अथवा चीटियो का बिल किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने इनका अर्थ 'गर्दभ' की आकृति का जीव विशेष भी किया है,—उत्तिगा गर्दभाकृतयो जीवा कीटिकानगराणि वा।' आचार्य जिनदास महत्तर के उल्लेख से मालूम होता है कि यह भूमि मे गड्ढा करने वाला जीव है। 'उत्तिगा नाम गद्दभाकिती जीवा भूमीए खड्डय करेति।'—आवश्यकचूर्णि। 'दग'—सचित्त जल। 'मट्टी'—सचित्त पृथ्वी। 'ठाणाओ ठाण सकामिया'—एक स्थान से दूसरे स्थान पर धकेला हो। 'ववरोविया'—घात किया हो।

आगार-सूत्र

तस्स उत्तरीकरणेण पायच्छित्त-करणेण विसोहीकरणेण विसल्लीकरणेण पावाण कम्माण निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्ग,

अन्नत्थ ऊससिएण, नीससिएण, खासिएण, छीएण, जभाइएण, उड्डुएण, वायनिसग्गेण, भमलीए, पित्तमुच्छाए,

सुहुमेहि अग-सचालेहि,
सुहुमेहि खेल-सचालेहि,
सुहुमेहि दिट्ठि-सचालेहि
एवमाइएहि आगारेहि,
अभग्गो अविराहिओ, हुज्ज मे काउस्सग्गो,
जाव अरिहताण भगवताण,
नमुक्कारेण न पारेमि,
ताव काय ठाणेण मोणेण
झाणेण, अप्पाण वोसिरामि।

भावार्थ—आत्मा की विशेष उत्कृष्टता, निर्मलता या श्रेष्ठता के लिये, प्रायश्चित्त के लिए, शल्यरहित होने के लिए, पाप कर्मो का पूर्णतया विनाश करने के लिये मै कायोत्सर्ग करता हूँ।

विवेचन—मनुष्य भ्रमणशील हे। वह सदा-सर्वदा घूमता रहता है। कभी शरीर से घूमता है, कभी वाणी से दुनिया की सैर करता है, तो कभी मन से आकाश-पाताल को नापता है। उसका एक योग निरतर गतिशील रहता है। उसकी यात्रा जिन्दगी की पहली सास से प्रारम्भ होती हे और अन्तिम सास तक चलती रहती है। साधु तो विशेप रूप से घुमक्कड है। तात्पर्य यह है कि जीवन मे गमनागमन करना अनिवार्य क्रिया है ओर उससे अन्य प्राणियो को पीडा होना भी स्वाभाविक हे।

प्रस्तुत ऐर्यापथिक सूत्र मे गमनागमन आदि प्रवृत्तियो मे किस प्रकार और किन-किन जीवो को पीडा पहुँच जाती है? इसका अत्यन्त सूक्ष्मता एव विशदता से वर्णन किया गया है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी सूक्ष्म एव स्थूल जीवो को हुई पीडा के लिये हृदय से प्रश्चात्ताप करके शुद्ध-विशुद्ध वनाने का प्रभावशाली विधान इस पाठ मे किया गया है।

जैनधर्म विवेकप्रधान धर्म है। विश्व मे जितने भी धर्म के व्याख्याकार हुए है, उन्होने प्रत्येक साधना को, चाहे वह लघु हो, चाहे महान्, चाहे सामान्य हो, चाहे विशिष्ट, विवेक की कसौटी पर कसकर देखा है। जिस साधना मे विवेक है, वह सम्यक् साधना है, शुभ योग वाली साधना है और जिसमे अविवेक है, वह असम्यक् और अशुभ योग वाली साधना है। आचाराङ्गसूत्र मे स्पष्ट कहा है—'विवेगे धम्ममाहिए' अर्थात् विवेक मे ही धर्म है, विवेक सत्यासत्य का परीक्षण करने वाला दिव्य नेत्र है। हेय क्या है, ज्ञेय क्या हे, उपादेय क्या है, कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है? विवेकी पुरुप इन सब बातो का विवेक से ही निर्णय करता है। यतना अर्थात् विवेकपूर्वक चलने फिरने, खडे होने, बेठने, सोने, आदि से पाप कर्म का बन्ध नही होता, क्योकि पाप-कर्म के बन्धन का मूल कारण अयतना है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सये।
जय भुजतो भासतो, पाव-कम्म न बधई॥ —दश ४। ८

प्रस्तुत पाठ हृदय की कोमलता का ज्वलन्त उदाहरण है। विवेक और यतना के सकल्पो का जीता जागता चित्र है। आवश्यक प्रवृत्ति के लिए इधर-उधर आना-जाना हुआ हो और उपयोग रखते हुए भी यदि कही असावधानीवश किसी जीव को पीडा पहुँची हो तो उसके लिये प्रस्तुत सूत्र मे पश्चात्ताप प्रकट किया गया हे।

'इच्छामि पडिक्कमिउ इरियावहियाए विराहणाए'

यह प्रारम्भ का सूत्र आज्ञासूत्र हे। इसके द्वारा गुरुदेव से ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती हे।

'इच्छामि' शब्द से ध्वनित होता हे कि साधक पर बाहर का कोई दबाव नही है। वह **स्वेच्छापूर्वक अन्तर की प्रेरणा** से ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहता है। इसके लिए **गुरुदेव से माग रहा है**। प्रायश्चित्त और दण्ड मे यही अन्तर है। प्रायश्चित्त मे अपराधी स्वय **अपने को स्वीकार करके पुन** आत्मशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करने को तत्पर रहता है। दण्ड **मे स्वेच्छा के लिए कोई नही है।**

'गमणागमणे' से लेकर 'जीवियाग्रो ववरोविया' तक का पाठाश ग्रालोचनासूत्र है। ग्रालोचना का ग्रर्थ है गुरु महाराज के समक्ष ग्रपने ग्रपराध को एक के वाद एक क्रमश प्रकट करना। ग्रपनी भूल स्वीकार करना बहुत बडी बात है, और फिर उसे गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से यथावत् रूप मे निवेदन करना तो और भी बडी बात है। ग्रात्मशोधन की ग्रान्तरिक कामना रखने वाले साहसी वीर पुरुष ही ऐसा कर सकते है।

विशिष्ट शब्दो का स्पष्टीकरण

'ग्रभिहया'—इसका सस्कृत रूप 'ग्रभिहता' वनता है, जिसका ग्रर्थ है सम्मुख ग्राते हुए को रोका हो। ग्रर्थात् सामने ग्राते प्राणियो को रोककर उनकी स्वतन्त्र गति मे वाधा डाली हो।

'वत्तिया'—(वर्तिता) ग्रर्थात् धूल ग्रादि से ढके हो।

'लेसिया'—का ग्रर्थ है जीवो को भूमि पर मसलना ग्रौर सघट्टिया का ग्रर्थ है जीवो का स्पर्श करके पीडित करना।

'उत्तिग'—का ग्रर्थ चीटियो का नाल ग्रथवा चीटियो का विल किया गया है। ग्राचार्य हरिभद्र ने इनका ग्रर्थ 'गर्दभ' की ग्राकृति का जीव विशेप भी किया है,—उत्तिगा गर्दभाकृतयो जीवा, कीटिकानगराणि वा।' ग्राचार्य जिनदास महत्तर के उल्लेख से मालूम होता है कि यह भूमि मे गड्ढा करने वाला जीव है। 'उत्तिगा नाम गद्दभाकिती जीवा भूमीए खड्डय करेति।'—ग्रावश्यकचूर्णि। 'दग'—सचित्त जल। 'मट्टी'—सचित्त पृथ्वी। 'ठाणाग्रो ठाण सकामिया'—एक स्थान से दूसरे स्थान पर धकेला हो। 'ववरोविया'—घात किया हो।

ग्रागार-सूत्र

तस्स उत्तरीकरणेण पायच्छित्त-करणेण विसोहीकरणेण विसल्लीकरणेण पावाण कम्माण निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्ग,

ग्रन्नत्थ ऊससिएण, नीससिएण, खासिएण, छीएण, जभाइएण, उड्डुएण, वायनिसग्गेण, भमलीए, पित्तमुच्छाए,

सुहुमेहि ग्रग-सचालेहि,
सुहुमेहि खेल-सचालेहि,
सुहुमेहि दिट्ठि-सचालेहि
एवमाइएहि ग्रागारेहि,
ग्रभग्गो ग्रविराहिग्रो, हुज्ज मे काउस्सग्गो,
जाव ग्ररिहताण भगवताण,
नमुक्कारेण न पारेमि,
ताव काय ठाणेण मोणेण
झाणेण, ग्रप्पाण वोसिरामि।

भावार्थ—ग्रात्मा की विशेप उत्कृष्टता, निर्मलता या श्रेष्ठता के लिये, प्रायश्चित्त के लिए, शल्यरहित होने के लिए, पाप कर्मो का पूर्णतया विनाश करने के लिये मै कायोत्सर्ग करता हूँ।

कायोत्सर्ग मे कायव्यापारो का परित्याग करता हूँ, निश्चल होता हूँ। परन्तु जो शारीरिक क्रियाएँ अशक्यपरिहार होने के कारण स्वभावत हरकत मे आ जाती है उनको छोडकर। (वे क्रियाएँ इस प्रकार है—)

ऊँचा श्वास, नीचा श्वास, खाँसी, छीक, उवासी, डकार, अपान वायु का निकलना, चक्कर आना, पित्तविकार-जन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म रूप से अगो का हिलना, सूक्ष्म रूप से कफ का निकलना, सूक्ष्म रूप से नेत्रो की हरकत से अर्थात सचार से, इत्यादि आगारो से मेरा कायोत्सर्ग भग्न न हो एव विराधना रहित हो।

जब तक अरिहत भगवानो को नमस्कार न कर लूँ, तब तक एक स्थान पर स्थिर रह, मौन रहकर, धर्मध्यान मे चित्त को स्थिर करके अपने शरीर को पापव्यापारो से अलग करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे अतिचारो की विशेष शुद्धि के लिये विधिपूर्वक कायोत्सर्ग का स्वरूप बताया गया है।

यहाँ पर 'तस्स' पद से अतिचारयुक्त आत्मा को ग्रहण किया गया है। कोई-कोई 'तस्स' इस पद से अतिचार का ग्रहण करते है, लेकिन वह उचित नही है। वास्तव मे उसका सम्बन्ध 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड' इस पद के साथ है। 'उत्तरीकरणेण' और 'विसल्लीकरणेण' के साथ उसका सम्बन्ध नही बैठता। कारण यह है कि न तो अतिचारो को उत्कृष्ट बनाने के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है और न उसमे माया आदि शल्य होते है। मायादि शल्य तो आत्मा के विभाव परिणाम है, अत स्पष्ट है कि 'तस्स' का अर्थ आत्मा ही हो सकता है। आत्मविकास की प्राप्ति के लिये शरीर सम्बन्धी समस्त चचल व्यापारो का त्याग करना ही इस सूत्र का प्रयोजन है।

(यह उत्तरी-करण सूत्र है। इसके द्वारा ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण से शुद्ध आत्मा मे बाकी रही हुई सूक्ष्म मलीनता को भी दूर करने के लिये विशेष परिष्कार—स्वरूप कायोत्सर्ग का सकल्प किया जाता है। प्रस्तुत उत्तरीकरण पाठ के सम्बन्ध मे सक्षिप्त मे हम कह सकते है कि व्रत एव आत्मा की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त आवश्यक है। प्रायश्चित्त विना भाव की शुद्धि के नही हो सकता। भाव-शुद्धि के लिए शल्य (माया, निदान, मिथ्यादर्शन) का त्याग जरूरी है। शल्य का त्याग और पापकर्मो का नाश कायोत्सर्ग से ही हो सकता है, अत कायोत्सर्ग करना परमावश्यक है।)

विशिष्ट शब्दो का अर्थ

'तस्स'—अतिचारो से दूषित आत्मा की। **'उत्तरीकरणेण'**—उत्कृष्टता या निर्मलता के लिए, **'विसल्लीकरणेण'**—शल्यरहित करने के लिये। **'ठामि'**—करता हूँ। **उड्डुएण**—डकार आने से। **'भमलीए'**—चक्कर आ जाने से। **'खेलसचालेहि'**—खेल-श्लेष्म-कफ के सचार से।

ज्ञान के अतिचार का पाठ

आगमे तिविहे पण्णत्ते, त जहा—सुत्तागमे, अत्थागमे तदुभयागमे।[1]

ज वाइद्ध, वच्चामेलिय, हीणक्खर, अच्चक्खर पयहीण, विणयहीण, जोगहीण, घोसहीण,

---

१ इस तरह तीन प्रकार के आगम रूप ज्ञान के विषय मे कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊ।

सुट्ठुदिण्ण, दुट्ठु पडिच्छिय, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइय, सज्झाए न सज्झाइय,[1] तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।।

भावार्थ—आगम तीन प्रकार का है—

१ सुत्तागम, १ अत्थागम, ३ तदुभयागम ।

जिसमे अक्षर थोडे पर अर्थ सर्वव्यापक, सारगर्भित, सन्देहरहित, निर्दोप तथा विस्तृत हो उसे विद्वान् लोग 'सूत्र' कहते है ।

सूत्र रूप आगम 'सूत्रागम' कहलाता है तथा जो मुमुक्षुओ से प्रार्थित हो उसे 'अर्थागम' कहते है । केवल सूत्रागम से प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता, इसलिये सूत्र और अर्थ रूप 'तदुभयागम' कहा है ।

इस आगम का पाठ करने मे जो अतिचार—दोप लगा हो, उसका फल मिथ्या हो । वे अतिचार इस प्रकार है—

१ सूत्र के अक्षर उलट-पलट पढे हो ।

२ एक ही शास्त्र मे अलग-अलग स्थानो पर आये हुए समान अर्थ वाले पाठो को एक स्थान पर लाकर पढा हो अथवा अस्थान मे विराम लिया हो या अपनी बुद्धि से सूत्र बनाकर सूत्र मे डालकर पढे हो ।

३ हीन अक्षर युक्त अर्थात् कोई अक्षर कम करके पढा हो ।

४ अधिक अक्षर युक्त पढा हो ।

५ पदहीन पढा हो,

६ विनयरहित पढा हो,

७ योगहीन (मन की एकाग्रता से रहित) पढा हो । अथवा जिस शास्त्र के अध्ययन के लिए जो आयबिल आदि करने रूप योगोद्वहन—तपश्चरण विहित है, उसे न करके पढा हो ।

८ उदात्त आदि स्वरो से रहित पढा हो ।[2] अथवा पात्र-अपात्र का विवेक किए बिना पढाया हो ।

९ 'सुट्ठुदिण्ण'—शिष्य मे शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति हो उससे अधिक पढाया हो ।

१० आगम को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो ।

११ जिन सूत्रो के पठन का जो काल शास्त्र मे कहा है, उससे भिन्न दूसरे काल मे उन सूत्रो का स्वाध्याय किया हो ।

---

१ भणता गुणता विचारता ज्ञान और ज्ञानवत की आशातना की हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।'

२ स्वर के तीन भेद है—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित । उच्चैरुपलभ्यमान उदात्त, नीचैरनुदात्त, समवृत्या स्वरित', अर्थात्—तीव्र उच्चारण पूर्वक बोलना उदात्त, धीमे बोलना अनुदात्त तथा मध्यमरूप से बोलना स्वरित कहलाता है ।

१२ स्वाध्याय के शास्त्रोक्त काल मे स्वाध्याय न किया हो।

१३ अस्वाध्याय काल मे स्वाध्याय किया हो।

१४ स्वाध्याय काल मे स्वाध्याय न किया हो, उससे उत्पन्न हुआ मेरा सर्व पाप निष्फल हो।

विवेचन—जो ज्ञान तीर्थंकर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण शकारहित एव अलौकिक है तथा भव्य जीवो को चकित कर देने वाला है अथवा जो ज्ञान अर्हन्त भगवान् के मुख से निकलकर गणधर देव को प्राप्त हुआ तथा भव्य जीवो ने सम्यक् भाव से जिसको माना उसे 'आगम' कहते है।

मूल पाठ रूप, अर्थ रूप एव मूल पाठ और अर्थ-उभय रूप, इस तरह तीन प्रकार के आगम-ज्ञान के विषय मे जो कोई अतिचार लगा हो तो उसकी मैं आलोचना करता हूँ। यदि सूत्र क्रमपूर्वक न पढा गया हो, यथा—'नमो अरिहताण' की जगह 'अरिहताण नमो' ऐसा पढा हो। अक्षरहीन पढा हो, जैसे 'अनल' शब्द का अकार कम कर दिया जाय तो 'नल' बन जाता है। तथा 'कमल' शब्द के 'क' को कम कर देने से 'मल' बन जाता है इत्यादि, इस विषय मे विद्याधर और अभयकुमार का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

उडते-गिरते किसी विद्याधर के विमान को देखकर अपने पुत्र अभयकुमार के साथ राजा श्रेणिक ने भगवान् से पूछा—भन्ते! यह विमान इस प्रकार उड-उड कर क्यो गिर रहा है? तब भगवान् ने फरमाया कि—यह विद्याधर अपनी विद्या का एक अक्षर भूल गया है, जिससे यह विमान बिना पाख के पक्षी की तरह बार-बार गिरता है।

ऐसा सुनकर राजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार ने अपनी पदानुसारिणी-लब्धि द्वारा उसके विमानचारण मत्र को पूरा करके उसके मनोरथ को सिद्ध किया और उस विद्याधर से आकाशगामिनी विद्या की सिद्धि का उपाय सीख लिया।

अधिक अक्षर जोडकर पढा जाए तो—यथा 'नल' शब्द के पहले 'अ' जोडकर पढा जाए तो 'अनल' बन जाता है, जिसका अर्थ अग्नि है। पद को न्यून या अधिक करके बोला गया हो, विनय-रहित पढा गया हो, योगहीन पढा हो, उदात्तादि स्वर रहित पढा हो, शक्ति मे अधिक पढाया हो, पढा हो, आगम को बुरे भाव से ग्रहण किया हो।

अकाल मे स्वाध्याय किया हो और स्वाध्याय के लिए नियत काल मे स्वाध्याय न किया हो, अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय किया हो,[1] स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न किया हो तथा पढते समय, विचारते समय ज्ञान तथा ज्ञानवन्त पुरुषो की अविनय-आशातना की हो तो मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

॥ प्रथम सामायिकावश्यक सम्पन्नम् ॥

---

१ अस्वाध्याय के लिए देखिए परिशिष्ट।

[२]

द्वितीय अध्ययन : चतुर्विंशतिस्तव

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहते कित्तइस्स, चउवीस पि केवली ।।१।।

उसभमजिय च वदे, सभवमभिणदण च सुमइ च।
पउमप्पह सुपास, जिण च चदप्पह वदे ।।२।।

सुविह च पुप्फदत, सीयल-सिज्जस-वासुपुज्ज च।
विमलमणत च जिण, धम्म सति च वदामि ।।३।।

कुथु अर च मल्लि, वदे मुणिसुव्वय नमिजिण च।
वदामि रिट्ठनेमि, पास तह वद्धमाण च ।।४।।

एव मए अभिथुआ, विहूयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीस पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयतु ।।५।।

कित्तिय-वदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहि लाभ, समाहि-वरमुत्तम दितु ।।६।।

चदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहिय पयासयरा।
सागरवरगभीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसतु ।।७।।

भावार्थ—अखिल विश्व मे धर्म या सम्यग्ज्ञान का उद्योत करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले, रागद्वेप को जीतने वाले, अन्तरग शत्रुओ को नष्ट करने वाले केवलज्ञानी चौबीस तीर्थकरो का मै कीर्तन करू गा अर्थात् स्तुति करू गा या करता हूँ ।।१।।

श्री ऋपभदेव को और अजितनाथ को वन्दन करता हूँ। सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व और रागद्वेष के विजेता चन्द्रप्रभ जिन को नमस्कार करता हूँ ।।२।।

श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ), शीतल, श्रेयास, वासुपूज्य, विमलनाथ, रागद्वेष के विजेता अनन्त, धर्मनाथ तथा श्री शान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार करता हूँ ।।३।।

श्री कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत एव नमिनाथजिन को वन्दन करता हूँ। इसी प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और वर्धमान स्वामी को भी नमस्कार करता हूँ ।।४।।

जिनकी मैने नामनिर्देशपूर्वक स्तुति की है जो कर्म रूप रज एव मल से रहित है, जो जरा-

मरण—दोनो से सर्वथा मुक्त है, वे आन्तरिक शत्रुओ पर विजय पाने वाले धर्मप्रवर्तक चौवीस तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हो ।।५।।

जिनकी इन्द्रादि देवो तथा मनुष्यो ने स्तुति की है, वन्दना की है, भाव से पूजा की है और जो सम्पूर्ण लोक मे सबमे उत्तम है, वे तीर्थंकर भगवान् मुझे आरोग्य अर्थात् आत्म-स्वास्थ्य या सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शान्ति, बोधि—सम्यक् दर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ तथा श्रेष्ठ समाधि प्रदान करे ।।६।।

जो चन्द्रमाओ से भी विशेष निर्मल है, जो सूर्यो से भी अधिक प्रकाशमान है, जो स्वयभूरमण जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर है, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि अर्पण करे, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो ।

विवेचन—पहले अध्ययन मे सावद्य योग की निवृत्ति रूप सामायिक का निरूपण करके अब चतुर्विंशति स्तव रूप इस दूसरे अध्ययन मे समस्त सावद्य योगो की निवृत्ति का उपदेश होने मे सम्यक्त्व की विशुद्धि तथा जन्मान्तर मे भी बोधि और सम्पूर्ण कर्मो के नाश के कारण होने मे परम उपकारी तीर्थंकर भगवन्तो का गुण-कीर्तन अर्थात् स्तवन किया गया है ।

जो केवलज्ञान रूपी सूर्य अथवा ज्ञान के द्वारा देखा जाय उसे व्युत्पत्ति की उपेक्षा से 'लोक' कहते है । यहाँ जैन परिभाषा के अनुसार 'लोक' शब्द से पञ्चास्तिकाय का ग्रहण है । शास्त्र मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप चतुर्विध लोक का भी कथन है । यहाँ इन सभी का ग्रहण समझ लेना चाहिये । इस समस्त लोक को प्रवचन रूपी दीपक द्वारा प्रकाशित करने वाले, प्राणियो को ससार के दु खो से छुडाकर सुगति मे धारण करने वाले, धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले, रागादि कर्मशत्रुओ को जीतने वाले चौवीस तीर्थंकरो की मै स्तुति करता हूँ ।

इस प्रकार चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति करने की सामान्य रूप से प्रतिज्ञा करने के पश्चात् नामग्रहणपूर्वक विशेष रूप से स्तुति की गई है । जो लोकालोक के स्वरूप को जानने वाले, परम पद को प्राप्त होने वाले, भव्य जनो के आधारभूत, धर्म रूपी बगीचे को प्रवचन रूप जल से सीचने वाले तथा वृषभ के चिह्न से युक्त है, ऐसे श्री ऋषभदेव स्वामी को मै वन्दन करता हूँ ।।

जो रागद्वेष को जीतने वाले है तथा जब वे गर्भ मे आये तब चोपड खेलते समय माता की हार न होने से जिनका नाम 'अजित' पडा है, उन श्रीअजितनाथ को मै वन्दन करता हूँ ।

जो अनन्त सुख स्वरूप है, और जिनके गर्भ मे आते ही धान्यादि का अधिक सभव होने से दुर्भिक्ष मिटकर सुभिक्ष हो गया ऐसे श्री सभवनाथ को वन्दन करता हूँ ।

जो भव्य जीवो को हर्षित करने वाले है और गर्भ मे आने पर जिनका इन्द्र ने बार-बार स्तवन-अभिनन्दन किया उन श्रीअभिनन्दन स्वामी को मै वन्दन करता हूँ ।

इसी प्रकार विभिन्न विशेषताओ से युक्त केवलज्ञानियो मे श्रेष्ठ चौवीस तीर्थंकर है, वे मुझ पर प्रसन्न हो । 'चउवीसपि' मे 'अपि' शब्द से महाविदेह क्षेत्र मे विहरमान तीर्थंकर ग्रहण किए गए है । उन सबको भी वन्दन करता हूँ ।

कतिपय शब्दो का स्पष्टीकरण—कित्तिय—पृथक्-पृथक् नाम से कीर्तित अथवा स्तुत, **वंदिय**—वन्दित-मन वचन तथा काय से स्तुत, **महिया**—पूजित, ज्ञानातिशय आदि गुणो के कारण सब प्राणियो द्वारा सम्मानित। पूजा का अर्थ सत्कार एव सम्मान करना है। आचार्यो ने पूजा के दो भेद किए है—द्रव्यपूजा एव भावपूजा। प्रभुपूजा के लिये पुष्पो की आवश्यकता होती है, किन्तु वे निरवद्य अचित्त भाव-पुष्प ही होने चाहिये। इसके विषय मे जैन-जगत् प्रसिद्ध आचार्य हरिभद्र ने अष्टक प्रकरण मे प्रभुपूजा के योग्य भाव-पुष्पो का वर्णन इस प्रकार किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेय, ब्रह्मचर्यमसगता।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञान, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥ —अष्टक प्रकरण ३।६

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, भक्ति, तप एव ज्ञान रूपी प्रत्येक पुष्प जीवन को महका देने वाला है। ये हृदय के भाव पुष्प है।

आरुग्ग—अर्थात् आरोग्य—आत्म-स्वास्थ्य या आत्म-शाति। आरोग्य दो प्रकार का होता है—द्रव्यारोग्य और भावारोग्य। द्रव्य-आरोग्य यानी ज्वर आदि रोगो-विकारो से रहित होना। भाव-आरोग्य यानी कर्म-विकारो से रहित होना। अर्थात् आत्म-शाति मिलना, आत्मस्वरूपस्थ होना या सिद्ध होना। प्रस्तुत-सूत्र मे 'आरोग्य' का मूल अभिप्राय भाव-आरोग्य से है। भाव-आरोग्य की साधना के लिए द्रव्य-आरोग्य भी अपेक्षित है, क्योकि जब तक शरीर एव मन स्वस्थ नही होगा, तब तक आत्म-साधना का होना कठिन होगा, किन्तु वह यहाँ विवक्षित नही है। अथवा 'आरुग्गवोहिलाभ' पद का अर्थ है—आरोग्य अर्थात् मोक्ष के लिए बोधि सम्यग्दर्शनादि का लाभ।

ससार-सागर से पार कराने वाला एव दुर्गति से बचाने वाला धर्म ही सच्चा तीर्थ है। जो अहिंसा, सत्य आदि धर्म-तीर्थ की स्थापना करते है, वे तीर्थकर कहलाते है। चौवीसो ही तीर्थकरो ने अपने-अपने समय मे धर्म की स्थापना की है, धर्म से डिगती हुई जनता को पुन धर्म मे स्थिर किया है।

प्रस्तुत पाठ मे अन्तिम शब्द आते है—**सिद्धा सिद्धि मम दिसतु**—इसका अर्थ है—सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करे। यहाँ शका हो सकती है कि—सिद्ध भगवान् तो वीतराग है, कृत-कृत्य है, किसी को कुछ देते-लेते नहा, फिर उनसे इस प्रकार की याचना क्यो की गई है ? समाधान यह है कि वस्तुत इसका आशय यह है कि भक्त भगवान् का आलम्बन लेकर ही सिद्धि प्राप्त कर सकते है।

॥ द्वितीय आवश्यक समाप्त ॥

□□

मरण—दोनो से सर्वथा मुक्त है, वे आन्तरिक शत्रुओ पर विजय पाने वाले धर्मप्रवर्तक चौवीस तीर्थकर मुझ पर प्रसन्न हो ।।५।।

जिनकी इन्द्रादि देवो तथा मनुष्यो ने स्तुति की है, वन्दना की है, भाव से पूजा की है और जो सम्पूर्ण लोक मे सबमे उत्तम है, वे तीर्थंकर भगवान् मुझे आरोग्य अर्थात् आत्म-स्वास्थ्य या सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शान्ति, वोधि—सम्यक् दर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ तथा श्रेष्ठ समाधि प्रदान करे ।।६।।

जो चन्द्रमाओ से भी विशेष निर्मल है, जो सूर्यो से भी अधिक प्रकाशमान है, जो स्वयभूरमण जेसे महासमुद्र के समान गम्भीर है, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि अर्पण करे, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो ।

विवेचन—पहले अध्ययन मे सावद्य योग की निवृत्ति रूप सामायिक का निरूपण करके अव चतुर्विशति स्तव रूप इस दूसरे अध्ययन मे समस्त सावद्य योगो की निवृत्ति का उपदेश होने मे सम्यक्त्व की विशुद्धि तथा जन्मान्तर मे भी वोधि और सम्पूर्ण कर्मो के नाश के कारण होने से परम उपकारी तीर्थंकर भगवन्तो का गुण-कीर्तन अर्थात् स्तवन किया गया है ।

जो केवलज्ञान रूपी सूर्य अथवा ज्ञान के द्वारा देखा जाय उसे व्युत्पत्ति की उपेक्षा से 'लोक' कहते है । यहाँ जैन परिभाषा के अनुसार 'लोक' शब्द से पञ्चास्तिकाय का ग्रहण है । शास्त्र मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप चतुर्विध लोक का भी कथन है । यहाँ इन सभी का ग्रहण समझ लेना चाहिये । इस समस्त लोक को प्रवचन रूपी दीपक द्वारा प्रकाशित करने वाले, प्राणियो को ससार के दुखो से छुडाकर सुगति मे धारण करने वाले, धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले, रागादि कर्मशत्रुओ को जीतने वाले चौबीस तीर्थंकरो की मै स्तुति करता हूँ ।

इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति करने की सामान्य रूप से प्रतिज्ञा करने के पश्चात् नामग्रहणपूर्वक विशेष रूप से स्तुति की गई है । जो लोकालोक के स्वरूप को जानने वाले, परम पद को प्राप्त होने वाले, भव्य जनो के आधारभूत, धर्म रूपी वगीचे को प्रवचन रूप जल से सीचने वाले तथा वृषभ के चिह्न से युक्त है, ऐसे श्री ऋषभदेव स्वामी को मै वन्दन करता हूँ ।।

जो रागद्वेष को जीतने वाले है तथा जव वे गर्भ मे आये तव चोपड खेलते समय माता की हार न होने से जिनका नाम 'अजित' पडा है, उन श्रीअजितनाथ को मै वन्दन करता हूँ ।

जो अनन्त सुख स्वरूप हे, और जिनके गर्भ मे आते ही धान्यादि का अधिक सभव होने से दुर्भिक्ष मिटकर सुभिक्ष हो गया ऐसे श्री सभवनाथ को वन्दन करता हूँ ।

जो भव्य जीवो को हर्षित करने वाले है और गर्भ मे आने पर जिनका इन्द्र ने वार-वार स्तवन-अभिनन्दन किया उन श्रीअभिनन्दन स्वामी को मै वन्दन करता हूँ ।

इसी प्रकार विभिन्न विशेषताओ से युक्त केवलज्ञानियो मे श्रेष्ठ चोवीस तीर्थकर है, वे मुझ पर प्रसन्न हो । 'चउवीसमपि' मे 'अपि' शब्द से महाविदेह क्षेत्र मे विहरमान तीर्थंकर ग्रहण किए गए हे । उन सवको भी वन्दन करता हूँ ।

[३]

तृतीय अध्ययन : वन्दन

इच्छामि खमासमणो

इच्छामि खमासणो ! वदिउ जावणिज्जाए निसीहियाए, अणुजाणह मे मिउग्गह, निसीहि अहोकाय कायसफास, खमणिज्जो भे किलामो, अप्पकिलताण, बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कतो ? जत्ता भे ? जवणिज्ज च भे ? खामेमि खमासमणो ! देवसिअ वइक्कम, आवस्सियाए पडिक्कमामि। खमासमणाण देवसिआए आसायणाए तित्तीसन्नयराए ज किचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वय दुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए, सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्मा-इक्कमणाए आसायणाए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।

भावार्थ—इच्छा निवेदन—हे क्षमावान् श्रमण ! मै अपने शरीर को पाप-क्रिया से हटाकर यथाशक्ति वन्दना करना चाहता हू।

अनुज्ञापना—इसलिये मुझको परिमित भूमि (अवग्रह) मे प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये।

पाप क्रिया को रोककर मै आपके चरणो का अपने मस्तक से स्पर्श करता हूँ। मेरे द्वारा छूने से आपको बाधा हुई हो तो उसे क्षमा कीजिये।

शरीरयात्रा-पृच्छा—आपने अग्लान अवस्था मे रहकर बहुत शुभ क्रियाओ से दिवस बिताया है ?

सयमयात्रा-पृच्छा—आपकी सयमयात्रा तो निर्बाध है ? और आपका शरीर, मन तथा इन्द्रियो की पीडा से तो रहित है ?

अपराध-क्षमापना—हे क्षमावान् श्रमण ! मै आपको दिवस सम्बन्धी अपराध के लिए खमाता हूँ और आवश्यक क्रिया करने मे जो विपरीत अनुष्ठान हुआ है उससे निवृत्त होता हूँ। आप क्षमाश्रमण की दिवस मे की हुई तेतीस मे से किसी भी आशातना द्वारा मैने जो दिवस सम्बन्धी अतिचार सेवन किया हो[1] उसका मै प्रतिक्रमण करता हूँ तथा किसी भी मिथ्या भाव से की हुई, दुष्ट मन से, वचन से और काया से की हुई, क्रोध, मान, माया और लोभ से की हुई, भूतकालादि सर्वकाल सबधी सर्व मिथ्योपचार से की गई, धर्म का उल्लघन करने वाली आशातना के द्वारा जो मैने दिवस सबधी अतिचार सेवन किया हो, तो हे क्षमाश्रमण ! उससे मै निवृत्त होता हूँ, उसकी मै निन्दा करता हूँ और विशेष निन्दा करता हूँ, गुरु के समक्ष निन्दा करता हूँ और आत्मा को (अपने आपको) पाप सम्बन्धी व्यापारो से निवृत्त करता हूँ।

---

१ रात्रि प्रतिक्रमण करते समय

खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं आवस्सियाए पडिक्कमामि—अर्थात्—हे क्षमा-श्रमण ! दिवस सम्बन्धी जो कुछ अपराध हो चुका है उसके लिये क्षमा चाहता हूँ और भविष्य मे आपकी आज्ञा की आराधना रूप आवश्यक क्रिया के द्वारा अपराध से अलग रहूँगा, अर्थात् अपराध नही करने का प्रयत्न करूँगा।

वन्दना विधि

'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए'—वन्दना के समय उपर्युक्त सूत्रांश बोलकर अवग्रह मे प्रवेश करने की आज्ञा के लिये अवग्रह से बाहर ही खडा रहकर दोनो हाथ ललाट-प्रदेश पर रखकर गुरु के सामने शिर झुकाए। इसका आशय यह है कि वह गुरुदेव की आज्ञाओ को सदैव मस्तक पर वहन करने के लिए कृतप्रतिज्ञ है।

प्रथम के तीन आवर्त—'अहो'-'काय'-'काय'—इस प्रकार दो-दो अक्षरो से पूरे होते है। कमलमुद्रा से अंजलिबद्ध दोनो हाथो से गुरु-चरणो को स्पर्श करते हुए मन्द स्वर से 'अ' अक्षर कहना, तत्पश्चात् अंजलिबद्ध हाथो को मस्तक पर लगाते हुए उच्च स्वर से 'हो' अक्षर कहना, यह पहला आवर्तन है। इसी प्रकार 'का य' और 'का य' के शेष दो आवर्त भी किए जाते है।

अगले तीन आवर्त—१ 'जत्ता भे,' २ 'जवणि,' ३ 'ज्ज च भे'—इस प्रकार तीन-तीन अक्षरो के होते है। कमल-मुद्रा से अंजलि बांधे हुए दोनो हाथो से गुरुचरणो को स्पर्श करते हुए अनुदात्त मन्द स्वर से 'ज' अक्षर कहना चाहिये। पुन हृदय के पास अञ्जलि लाते हुए स्वरित-मध्यम स्वर से 'त्ता' अक्षर कहना चाहिये। फिर अपने मस्तक को छूते हुए उदात्त स्वर से 'भे' अक्षर कहना चाहिये। यह प्रथम आवर्त है। इसी पद्धति से 'ज व णि' और 'ज्ज च भे' ये शेष दो आवर्त भी करने चाहिये। प्रथम 'खमासमणे' छह और इसी प्रकार दूसरे 'खमासमणो' के छह, कुल बारह आवर्त होते हैं।

इस प्रकार शिष्य, अवग्रह के बाहर प्रथम इच्छा-निवेदन-स्थान मे यथाजात मुद्रा से दोनो हाथो मे रजोहरण लिए हुए आधा शरीर झुकाकर नमन करता है और 'इच्छामि खमासमणो' से लेकर 'निसीहियाए' तक का पाठ पढकर वन्दनकर्ता शिष्य वन्दन करने की इच्छा निवेदन करता है। शिष्य के इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात् अवग्रह से बाहर रहकर ही 'तिक्खुत्तो' के पाठ से वन्दन कर लेना चाहिये। अथवा गुरु 'छन्देण' ऐसा शब्द कहते है, जिसका अर्थ है—इच्छानुसार वन्दन करने की सम्मति देना।

गुरुदेव की तरफ से उपर्युक्त पद्धति के द्वारा वन्दन करने की आज्ञा मिल जाने पर शिष्य आगे बढकर, अवग्रहक्षेत्र के बाहर, किन्तु पास ही 'अवग्रह-प्रवेशाज्ञा-याचना' नामक दूसरे स्थान से पुन अर्द्धावनत होकर नमन करता है और गुरुदेव से 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' इस पाठ के द्वारा अवग्रह मे प्रवेश करने की आज्ञा मांगता है। आज्ञा मांगने पर गुरुदेव अपनी ओर से 'अणुजाणामि' कहकर आज्ञा प्रदान करते है।

आज्ञा मिलने के बाद 'यथाजात मुद्रा' अर्थात् दीक्षा अंगीकार करते समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है, वैसी, दोनो हाथ अंजलिबद्ध कपाल (मस्तक) पर रखने की मुद्रा से 'निसीहि-निसीहि' पद कहते हुए अवग्रह मे प्रवेश करना चाहिये। बाद मे रजोहरण से भूमि प्रमार्जन कर, गुरुदेव के

पास उकडू अर्थात् गोदुहासन से बैठकर प्रथम के तीन आवर्त 'अहो-काय-काय' पूर्वोक्त विधि के अनुसार करके 'सफास' कहते हुए गुरु-चरणो मे मस्तक लगाना चाहिये।

तत्पश्चात् 'खमणिज्जो भे किलामो' पाठ के द्वारा चरण-स्पर्श करते समय गुरुदेव को जो बाधा होती है, उसकी क्षमा मॉगी जाती है। तदनन्तर 'अप्पकिलताण बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कतो ?' कहकर दिवस सबधी कुशलक्षेम पूछा जाता है। फिर गुरु भी 'तथा' कहकर अपने शिष्य का कुशलक्षेम पूछते है।

अनन्तर शिष्य 'ज त्ता भे' 'ज व णि' 'ज्ज च भे'—इन तीनो आवर्तो की क्रिया करे एव सयम-यात्रा तथा शरीर सबधी शाति पूछे। उत्तर मे गुरुदेव भी शिष्य से उसकी यात्रा और यापनीय सम्बन्धी सुख-शान्ति पूछे। इसके बाद 'आवस्सियाए' कहते हुए अवग्रह से बाहर आना चाहिये।

प्रस्तुत पाठ मे जो 'बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कतो' मे 'दिवसो वइक्कतो' पाठ है उसके स्थान मे रात्रि-प्रतिक्रमण के समय 'राई वइक्कता', पाक्षिक प्रतिक्रमण मे 'पक्खो वइक्कतो,' चातुर्मासिक प्रतिक्रमण मे 'चाउम्मासी वइक्कता' तथा सावत्सरिक प्रतिक्रमण मे 'सवच्छरो वइक्कतो' ऐसा पाठ बोलना चाहिए।

समवायाग सूत्र के १२वे समवाय मे वन्दन के स्वरूप का प्ररूपण करते हुए भगवान् महावीर ने वन्दन की २५ विधिया बतलाई है—

दुओणय जहाजाय, कितिकम्म बारसावय।
चउसिर तिगुत्त च, दुपवेस एग निक्खमण॥

अर्थात्—दो अवनत, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर, तीन गुप्ति, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण—इस प्रकार कुल पच्चीस आवश्यक है।

आवश्यक-क्रिया मे तीसरे वन्दन आवश्यक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरुदेव को विनम्र हृदय से वन्दन करना तथा उनकी दिन तथा रात्रि सम्बन्धी सुख-शान्ति पूछना शिष्य का परम कर्तव्य है, क्योकि अरिहन्तो के पश्चात् गुरुदेव ही आध्यात्मिक साम्राज्य के अधिपति है, उनको वन्दन करना भगवान् को वन्दन करने के समान है। वन्दन करने से विनम्रता आती है। प्राचीन भारत मे प्रस्तुत विनय के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है। कहा भी है—'विणयो जिण-सासणमूलम्' अर्थात् विनय जिनशासन का मूल है। जैनसिद्धान्तदीपिका मे कहा है—'अनाशातना बहुमानकरण च विनय।' अशातना नही करना तथा बहुमान करना विनय है।

विशिष्ट शब्दो का अर्थ—जावणिज्जाए—शक्ति की अनुकूलता से, शक्ति के अनुसार। **निसीहियाए**—सावद्य व्यापार की निवृत्ति से। **अणुजाणह**—अनुमति दीजिये। **मिउग्गह**—मितअवग्रह अर्थात् गुरु महाराज जहाँ विराजमान हो, उसके चारो ओर की साढे तीन हाथ चौडी भूमि। **अहो काय**—अध काय—शरीर का भाग, चरण। **कायसफास**—काय अर्थात् हाथ से, (चरणो का) सम्यक् स्पर्श। **खमणिज्जो**—क्षमा के योग्य। **भे**—आपके द्वारा। **अप्पकिलताण**—शारीरिक श्रम या बाधा से रहित। 'अप्प' (अल्प) शब्द यहाँ 'अभाव' का वाचक है। **वइक्कतो**—व्यतीत हुआ। **जत्ता**—सयम रूप यात्रा। **जवणिज्ज**—(यापनीयम्) इन्द्रियादि की बाधा से रहित। **वइक्कम**—अतिचार।

स्सिया—अवश्य करने योग्य चरण-करण रूप क्रिया। **आसायणा**—अवज्ञा, अनादर। **तेत्तीसन्नयराए**—तेतीस प्रकार (की आशातना) मे से कोई भी। **सव्वकालियाए**—सर्व-भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल सबधी। **सव्वमिच्छोवयाराए**—सर्वांगत मिथ्या उपचारो से युक्त।

आशातनाएँ तेतीस है, वे इस प्रकार हैं—

१ शैक्ष (नवदीक्षित या अल्प दीक्षा-पर्याय वाला) साधु रात्निक (अधिक दीक्षा पर्याय वाले) साधु के अति निकट होकर गमन करे। यह शैक्ष की (शैक्ष द्वारा की गई) पहली आशातना है।

२ शैक्ष साधु रात्निक साधु के आगे गमन करे। यह शैक्ष की दूसरी आशातना है।

३ शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बराबरी से चले। यह शैक्ष की तीसरी आशातना है।

४ शैक्ष साधु रात्निक साधु के आगे खडा हो। यह शैक्ष की चौथी आशातना है।

५ शैक्ष साधु रात्निक साधु के बराबरी से खडा हो। यह शैक्ष की पाचवी आशातना है।

६ शैक्ष साधु रात्निक साधु के अति निकट खडा हो। यह शैक्ष की छठी आशातना है।

७ शैक्ष साधु रात्निक साधु के आगे बैठे। यह शैक्ष की सातवी आशातना है।

८ शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बराबरी से बैठे। यह शैक्ष की आठवी आशातना है।

९ शैक्ष साधु रात्निक साधु के अति समीप बैठे। यह शैक्ष की नवी आशातना है।

१० शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बाहर विचार भूमि को निकलता हुआ यदि शैक्ष रात्निक साधु से पहले आचमन (शौच-शुद्धि) करे तो यह शैक्ष की दसवी आशातना है।

११ शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ बाहर विचार भूमि को या विहार भूमि को निकलता हुआ यदि शैक्ष रात्निक साधु से पहले आलोचना करे और रात्निक पीछे करे तो यह शैक्ष की ग्यारहवी आशातना है।

१२ कोई साधु रात्निक साधु के साथ पहले से बात कर रहा हो, तब शैक्ष साधु रात्निक साधु से पहले ही बोले और रात्निक साधु पीछे बोल पावे। यह शैक्ष की बारहवी आशातना है।

१३ रात्निक साधु रात्रि मे या विकाल मे शैक्ष से पूछे कि आर्य! कौन सो रहे है और कौन जाग रहे है? यह सुनकर भी शैक्ष अनसुनी करके कोई उत्तर न दे तो यह शैक्ष की तेरहवी आशातना है।

१४ शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम या स्वादिम लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष के सामने आलोचना करे पीछे रात्निक साधु के सामने, तो यह शैक्ष की चौदहवी आशातना है।

१५ शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम या स्वादिम लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष को दिखलावे पीछे रात्निक साधु को दिखावे, तो यह शैक्ष की पन्द्रहवी आशातना है।

१६ शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष को भोजन के लिये निमत्रण दे और पीछे रात्निक साधु को निमत्रण दे, तो यह शैक्ष की सोलहवी आशातना है।

१७ शैक्ष साधु रात्निक साधु के साथ अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार को लाकर रात्निक साधु से बिना पूछे जिस किसी को दे, तो यह शैक्ष की सत्तरहवी आशातना है।

१८ शैक्ष साधु अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार लाकर रात्निक साधु के साथ भोजन करता हुआ यदि उत्तम भोज्य पदार्थों को जल्दी-जल्दी बडे-बडे कवलो मे खाता है, तो यह शैक्ष की अठारहवी आशातना है।

१९ रात्निक साधु द्वारा कुछ कहे जाने पर यदि शैक्ष उसे अनसुनी करता है, तो यह शैक्ष की उन्नीसवी आशातना है।

२० रात्निक साधु के द्वारा कुछ कहे जाने पर यदि शैक्ष अपने स्थान पर बैठे हुए सुनता है, तो यह शैक्ष की बीसवी आशातना है।

रात्निक साधु के द्वारा कुछ कहे जाने पर यदि शैक्ष अपने स्थान पर बैठे हुए सुनता है, तो यह शैक्ष की बीसवी आशातना है।

२१ रात्निक साधु के द्वारा कुछ कहे जाने पर 'क्या कहा' इस प्रकार से यदि शैक्ष कहे तो यह शैक्ष की इक्कीसवी आशातना है।

२२ शैक्ष रात्निक साधु को 'तुम' कह कर (तुच्छ शब्द से) बोले तो यह शैक्ष की बाईसवी आशातना है।

२३ शैक्ष रात्निक साधु से यदि चप-चप करता हुआ उद्दण्डता से बोले तो यह शैक्ष की तेईसवी आशातना है।

२४ शैक्ष, रात्निक साधु के कथा करते हुए की 'जी, हा' आदि शब्दो से अनुमोदना न करे तो यह शैक्ष की चोबीसवी आशातना है।

२५ शैक्ष रात्निक द्वारा धर्मकथा करते समय 'तुम्हे स्मरण नही' इस प्रकार से बोले तो यह शैक्ष की पच्चीसवी आशातना है।

२६ शैक्ष रात्निक के द्वारा धर्मकथा करते समय 'बस करो' इत्यादि कहे तो यह शैक्ष की छब्बीसवी आशातना है।

२७ शैक्ष रात्निक के द्वारा धर्मकथा करते समय यदि परिषद् को भेदन करे, तो यह शैक्ष की सत्ताईसवी आशातना है।

२८ शैक्ष रात्निक साधु के धर्मकथा कहते हुए उस सभा के नही उठने पर दूसरी या तीसरी बार भी उसी कथा को कहे, तो यह शैक्ष की अट्ठाईसवी आशातना है।

२९ शैक्ष यदि रात्निक साधु के शय्या सस्तारक को पैर से ठुकरावे, तो यह शैक्ष की उनतीसवी आशातना है।

३० शैक्ष यदि रात्निक साधु के शय्या या आसन पर खडा होता, बैठता-सोता है, तो यह यह शैक्ष की तीसवी आशातना है।

३१, ३२ शैक्ष यदि रात्निक साधु से ऊचे या समान आसन पर बैठता है, तो यह शैक्ष की आशातना है।

३३ रात्निक के कुछ कहने पर शैक्ष अपने आसन पर बैठा-बैठा उत्तर दे, यह शैक्ष की तेतीसवी आशातना है।

विवेचन—नवीन दीक्षित साधु का कर्तव्य है कि वह अपने आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय मे ज्येष्ठ साधु का चलते, उठते, बैठते समय उनके द्वारा कुछ पूछने पर, गोचरी करते समय, सदा ही उनके विनय-सम्मान का ध्यान रखे। यदि वह अपने इस कर्तव्य मे चूकता है, तो उनकी आशातना करता है और अपने मोक्ष के साधनो को खडित करता है। इसी बात को ध्यान मे रखकर ये तेतीस आशातनाएँ कही गई है। प्रकृत सूत्र मे चार आशातनाओ का निर्देश कर शेष की यावत् पद से सूचना की गई है। उनका दशाश्रुतस्कध के अनुसार स्वरूप-निरूपण किया गया है।

॥ तृतीय आवश्यक सम्पन्न ॥

□□

[४]

चतुर्थ अध्ययन : प्रतिक्रमण

अतिचारो का पाठ

पहिली इरियासमिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, द्रव्य थकी छ काया का जीव जोइने न चाल्यो होऊ, क्षेत्र थकी माटा तीन हाथ प्रमाणे जोइने न चाल्यो होऊ, काल थकी दिन को देखे बिना रात को पू जे बिना चाल्यो होऊ, भाव थकी उपयोग सहित जोइने न चाल्यो होऊ, गुण थकी सवरगुण पहिली इरियासमिति के विषय जो कोई पाप दोप लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

दूसरी भाषा समिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, द्रव्य थकी भाषा कर्कशकारी, कठोरकारी, निश्चयकारी, हिसाकारी, छेदकारी, भेदकारी, परजीव को पीडाकारी सावज्ज सव्वपापकारी कूडी मिश्रभाषा बोल्यो होऊ, क्षेत्र थकी रस्ते चालता बोल्यो होऊ, काल थकी पहर रात्रि गया पीछे गाढे गाढे शब्द बोल्यो होऊ, भाव थकी रागद्वेप से बोल्यो होऊ, गुण थकी सवर गुण, दूसरी भाषा समिति के विषय जो कोई पाप दोप लाग्यो होय तो देवसिय सबधि तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

तीसरी एपणा समिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, द्रव्य थकी सोले उद्गमण का दोप, सोले उत्पात का दोप, दश एषणा का दोप इन बयालीस दोप सहित आहार पाणी लायो होऊ, क्षेत्र थकी दो कोश उपरात ले जाई ने भोगव्यो होय काल थकी पहेला पहर को छेला पहर मे भोगव्यो होऊ, भाव थकी पाच माडला का दोप न टाल्या होय गुण थकी सवर गुण, तीसरी एपणा समिति के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय, तो देवसिय सबन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

चौथी आयाणभडमत्तनिक्खेवणा समिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, द्रव्य थकी भाण्डोपकरण अजयणा से लीधा होय, अजयणा से रख्या होय, क्षेत्र थकी गृहस्थ के घर आगणे रख्या होय, काल थकी कालोकाल पडिलेहणा न की होय, भाव थकी ममता मूर्छा सहित भोगव्या होय, गुण थकी सवर गुण, चौथी समिति के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ॥४॥

पाचवी उच्चार-पासवण-खेल, जल्ल-सिघाण-परिट्ठावणिया समिति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, द्रव्य थकी ऊची नीची जगह परठव्यो होय, क्षेत्र थकी गृहस्थ के घर आगणे परठव्यो होय, भावथकी जाता आवसही आवसही न करी होय, परिठवते पहले शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा नही ली होय, थोडी पूंजी ने घणो परिठव्यो होय, परठने के बाद तीन बार वोसिरे वोसिरे न किन्हो होय, आवता नि सीही न करी होय, ठिकाणे आई ने काऊसग्ग न कर्यो होय, गुणथकी

सवर गुण पाचवी समिति के विषय जो कोई पाप दोप लाग्यो होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।।५।।

मनगुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, आरभ समारभ, विषय कषाय के विपय खोटो मन प्रवर्ताव्यो होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।१।

वचनगुप्ति के विपय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, वचन आरभ, सारभ, समारभ, राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भत्तकथा इन चार कथा मे से कोई कथा की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।२।

काया गुप्ति के विपय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, काया आरभ, सारभ समारभ, विना पूज्या अजयणापणे असावधानपणे, हाथ पग पसारया होय, सकोच्या होय, विना पूज्या भीतादिक को ओटीगणो (सहारा) लीधो होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।३।

पृथ्वीकाय मे मिट्टी, मरडो, खडी, गेरु, हिंगलू, हडताल, हडमची, लूण, भोडल पत्थर इत्यादि पृथ्वीकाय के जीवो की विरावना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।१।

अप्काय मे ठार को पाणी, ओस को पाणी, हिम को पाणी, घडा को पाणी, तलाव को पाणी, नित्राण को पाणी, सकाल को पाणी, मिश्र पाणी, वर्षाद को पाणी इत्यादि अप्काय के जीवो की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

तेउकाय मे खीरा, अगीरा, भोभल भडसाल, झाल, टूटती झाल, बिजली, उल्कापात इत्यादि तेउकाय के जीवो की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

वाउकाय मे उक्कलियावाय, मडलियावाय, घणवाय, घणगूजवाय तणवाय, शुद्धवाय, सपटवाय, वीजणे करी, तालिकरी, चमरीकरी इत्यादि वाउकाय के जीवो की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

वनस्पतिकाय मे हरी तरकारी, बीज अकुश, कण, कपास, गुम्मा, गुच्छा, लत्ता, लीलण, फूलण इत्यादि वनस्पतिकाय के जीवो की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

बेइन्द्रिय मे लट, गिडोला, अलसिया शख, सखोलिया, कोडी, जलोक इत्यादि बेन्द्रिय जीवो की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

तेइन्द्रिय मे कीडी मकोडी, जू, लीख, चाचण, माकण, गजाई, खजूरीया उधई, धनेरिया इत्यादि तेइन्द्रिय जीवो की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

चतुरिन्द्रिय मे तीड, पतगिया, मक्खी, मच्छर, भवरा, तिगोरी, कसारी, बिच्छु इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीवो की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

पचेन्द्रिय मे जलचर थलचर, खेचर, उरपर, भुजपर सन्नी असन्नी, गर्भज, समुर्च्छिम, पर्याप्ता अपर्याप्ता इत्यादि पचेन्द्रिय जीवो की विराधना की होय तो देवसिय सम्वन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

- पहिला महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, (१) इन्दथावरकाय (२) बम्भथावरकाय (३) सिप्पथावरकाय (४) सम्मतीथावरकाय (५) पायावच्चथावरकाय (६) जगमकाय द्रव्य से इनकी हिंसा की होय, क्षेत्र से समस्त लोक मे, काल मे जावजीव तक भाव मे तीन करण तीन योग से महाव्रत के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

दूसरा महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, कोहा वा, लोहा वा, हासा वा, क्रीडा कुतुहलकारी द्रव्य से झूठ बोल्यो होऊ, क्षेत्र से समस्त लोक मे, काल मे जावजीव तक, भाव से तीन करण तीन योग से दूसरा महाव्रत के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

तीसरा महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, कामराग, दृष्टिराग देवता सम्बन्धी, मनुष्य तिर्यच सम्बन्धी द्रव्य से काम भोग सेव्या, होय, क्षेत्र मे समस्त लोक मे, काल से जावजीव तक, भाव मे तीन करण तीन योग से चोथा महाव्रत के विषय कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

[पाचवा महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार लाग्यो होय तो आलोऊ, सचित्त परिग्रह, अचित्त परिगृह, मिश्र परिग्रह, द्रव्य से छति वस्तु पर मूर्छा की होय, पर वस्तु की इच्छा की होय, सुई कुसग धातु मात्र परिग्रह राख्यो होय, क्षेत्र से समस्त लोक मे, काल से जावजीव तक, भाव मे तीन करण तीन योग से पाचवा महाव्रत के विषय जो कोई दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड]

छट्ठा रात्रि भोजन के विषय जो कोई अतिचार होय तो आलोऊ, चार आहार असण, पाण, खाइय, साइम, सीत मात्र, लेपमात्र रातवासी राख्यो होय, रखायो होय, राखता प्रत्ये भलो जाण्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

अठारह पाप (१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्या-ख्यान (१४) पैशुन्य (१५) परपरिवाद (१६) रति अरति (१७) मायामोसो (१८) मिथ्या-दर्शनशल्य ये अट्ठारह पाप सेव्या होय, सेवाया होय, सेवता प्रत्ये भलो जाण्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

पाच मूलगुण महाव्रत के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड। इस उत्तर गुण पच्चक्खाण के विषय जो कोई पाप दोष लाग्यो होय तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड। तेतीस आशातना मे गुरु की, बडो की कोई भी आशातना हुई हो तो देवसिय सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

शय्यासूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउ, पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए, सथाराउव्वट्टणाए, परियट्टणाए, आउटणाए, पसारणाए, छप्पईसघट्टणाए, कूइए, कक्कराइए, छीए, जभाइए, आमोसे ससरक्खामोसे

आउलमाउलाए, सोवणवत्तियाए, इत्थीविप्परियासियाए[1] दिट्ठिविप्परियासियाए, मणविप्परियासियाए, पाण-भोयण- विप्परियासियाए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।।

भावार्थ—मै शयन सबधी प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ । शयन काल मे यदि देर तक सोता होऊँ या बार-बार बहुत काल तक सोता रहा होऊँ, अयतना के साथ एक बार करवट ली हो, या बार-बार करवट बदली हो, हाथ और पैर आदि अग अयतना से समेटे हो तथा पसारे हो, षट्पदी—जू आदि क्षुद्र जीवो को कठोर स्पर्श के द्वारा पीडा पहुँचाई हो, बिना यतना के अथवा जोर से खासा हो, यह शय्या बडी कठोर है, आदि शय्या के दोष कहे हो, अयतना से छीक एव जभाई ली हो, बिना पू जे शरीर को खुजलाया हो अथवा किसी भी वस्तु का स्पर्श किया हो, सचित्त रजयुक्त वस्तु का स्पर्श किया हो—(ये सब शयनकालीन जागते समय के अतिचार है ।)

अब सोते समय स्वप्न-अवस्था सम्बन्धी अतिचार कहे जाते है—स्वप्न मे युद्ध, विवाहादि के अवलोकन से आकुलता-व्याकुलता रही हो, स्वप्न मे मन भ्रान्त हुआ हो, स्वप्न मे स्त्री के साथ कुशील सेवन किया हो, स्त्री आदि को अनुराग की दृष्टि से देखा हो, मन मे विकार आया हो, स्वप्न-दशा मे रात्रि मे आहार-पानी का सेवन किया हो या सेवन करने की इच्छा की हो, इस प्रकार मेरे द्वारा शयन सबधी जो भी अतिचार किया हो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड' अर्थात् वह सब मेरा पाप निष्फल हो ।

विवेचन—हमारी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश जड से आबद्ध-प्रतिबद्ध है । प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर कर्मकीट के अनन्त पटल लगे है और उस कर्म-कालिमा से आत्मा कलुषित बनी हुई है । जब तक कर्म-कालिमा बनी रहेगी, तब तक जन्म-मरण रोग-शोक और सयोग-वियोगादि दु ख भी बने रहेगे । अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है । आत्म-बद्ध कर्म-कीट को हटाकर आत्मा को निर्मल शुद्ध बनाने से ही दु ख-परम्परा नष्ट हो सकती है । 'जलबिन्दुनिपातेन क्रमश पूर्यते घट' की उक्ति के अनुसार बू द-बू द से घट भर जाता और पाई-पाई जोडते हुए तिजोरी भर जाती है । धर्म-साधना के लिये भी ठीक यही बात है ।

यद्यपि सभी धर्मप्रवर्तको एव प्रचारको ने अपनी अपनी दृष्टि से धर्मसाधना के लिए अनिवार्य विवेक का विवेचन किया है, फिर भी जितना सूक्ष्म एव भावपूर्ण विवेचन एव विश्लेषण जैनागमो मे किया गया है वैसा अन्यत्र नही । जैन सस्कृति की प्रत्येक क्रिया विवेकमय है । दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे, जय सये ।
जय भु जतो भासतो, पावकम्म न बधइ ।।

जो साधक यतना से चलता है, यतना से खडा होता है, यतना से बैठता है, यतना से सोता है' यतना से भोजन करता और बोलता हे, वह पाप कर्म का बन्ध नही करता ।

साधारण से साधारण साधक भी छोटी-छोटी साधनाओ पर लक्ष्य देता रहे, विवेक-यतना को विस्मृत न करे तो एक दिन वह बहुत ऊचा साधक बन सकता है और इसके विपरीत साधारण सी

१ स्त्री साधक 'इत्थीविप्परियासिआए' के स्थान पर 'पुरिसविप्परियासियाए' पढे ।

भूलो की उपेक्षा करते रहने से तथा विवेक नही रखने से उच्चतर श्रेणी के साधक का भी अध पतन हो सकता है। यही कारण है कि जैन आचारशास्त्र सूक्ष्म भूलो पर भी ध्यान रखने की ओर इगित करता है।

प्रस्तुत सूत्र शयन सम्बन्धी अतिचारो का प्रतिक्रमण करने के लिये है। सोते समय जो भी शारीरिक, वाचिक एव मानसिक किसी भी प्रकार की भूल हुई हो, सयम का अतिक्रमण किया हो, किसी भी प्रकार का भाव-विपर्यास हुआ हो, उस सवके लिये पश्चात्ताप करने का -'मिच्छा मि दुक्कड' देने का विधान प्रस्तुत शय्या-सूत्र मे किया गया है।

विशिष्ट शब्दो का अर्थ—**पगामसिज्जाए**—का सस्कृत रूप 'प्रकामशय्या' होता है। प्रकाम-शय्या का अर्थ है—मर्यादा से अधिक सोना। **निगामसिज्जाए**—वार-वार अधिक काल तक सोते रहना, निकामशय्या है। **कूइए**—खासते हुए। **कक्कराइए**—'कर्करायित' शब्द का अर्थ है—कुडकुडाना। शय्या विपम हो या कठोर हो तो साधु को समता एव शान्ति के साथ उसका सेवन करना चाहिये। साधक को शय्या के दोप कहते हुए कुडकुडाना-वडवडाना नही चाहिये। **आमोसे**—प्रमार्जन किए विना शरीर या अन्य वस्तु का स्पर्श करना। **ससरक्खामोसे**—सचित्त रज से युक्त वस्तु को छूना। **आउलमाउलाए**—आकुलता-व्याकुलता से, **सोवणवत्तियाए**—स्वप्न के प्रत्यय-निमित्त से।

प्रस्तुत शय्या-सूत्र को, जव भी साधक सोकर उठे, अवश्य पढना चाहिये। इसे निद्रा-दोषनिवृत्ति का पाठ भी कहा जाता है। यह पाठ पढकर वाद मे एक लोगस्स अथवा चार लोगस्स का पाठ भी पढना चाहिये।

भिक्षादोष-निवृत्ति सूत्र

पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए, भिक्खायरियाए उग्घाडकवाड-उग्घाडणाए, साणावच्छा-दारासघट्टणाए, मडी-पाहुडियाए, बलिपाहुडियाए, ठवणापाहुडियाए, सकिए, सहसागारे, अणेसणाए, पाणेसणाए पाणभोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए, पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए, अदिट्ठहडाए, दगससट्ठहडाए, रयससट्ठहडाए, पारिसाडणियाए, पारिट्ठावणियाए, ओहासण-भिक्खाए, ज उग्गमेण, उप्पायणेसणाए अपरिसुद्ध परिग्गहिय, परिभुत्त वा ज न परिट्ठविय, तस्स मिच्छा मि दुक्कड ॥

भावार्थ—गोचरचर्या रूप भिक्षाचर्या मे, यदि ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी रूप मे जो भी अतिचार-दोप लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

अर्ध खुले किवाडो को खोलना, कुत्ते बछडे और बच्चो का सघट्टा—स्पर्श करना, मण्डी-प्राभृतिक अग्रपिण्ड लेना, वलिप्राभृतिका—बलि के लिए तैयार किया हुआ भोजन लेना, अथवा साधु के आने पर बलिकर्म करके दिया हुआ भोजन लेना, स्थापनाप्रभृतिका—भिक्षुओ को देने के उद्देश्य से अलग रक्खा हुआ भोजन लेना, आधाकर्म आदि की शका वाला आहार लेना, सहसाकार—बिना सोचे-विचारे शीघ्रता से आहार लेना, बिना एपणा—छान-बीन किए लेना, पान-भोजन-पानी आदि पीने योग्य वस्तु की एपणा मे किसी प्रकार की त्रुटि करना, जिसमे कोई प्राणी हो, ऐसा भोजन लेना,

बीजभोजन-बीजो वाला भोजन लेना, हरित-भोजन—सचित्त वनस्पति वाला भोजन, पश्चात्-कर्म—साधु को आहार देने के बाद तदर्थ सचित्त जल से हाथ या पात्रो को धोने आदि के कारण लगने वाला दोप, पुर कर्म—साधु को आहार देने से पहले सचित्त जल से हाथ या पात्र धोने आदि से लगने वाला दोप, अदृष्टाहृत—विना देखा लाया भोजन लेना, उदकसंसृष्टाहृत—सचित्त जल के साथ स्पर्श वाली वस्तु लेना, सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु लेना, पारिशाटनिका—देते समय मार्ग मे गिरता-बिखरता हुआ दिया जाने वाला आहार लेना, पारिष्ठापनिका—आहार देने के पात्र मे पहले से रहे हुए किसी भोजन को डालकर दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना, अथवा विना कारण 'परठने-योग्य' कालातीत अयोग्य वस्तु ग्रहण करना। विना कारण माँगकर विशिष्ट वस्तु लेना, उद्‌गम—आधाकर्म आदि १६ उद्‌गम दोपो से युक्त भोजन लेना, उत्पादन—धात्री आदि १६ साधु की तरफ से लगने वाले उत्पादना दोपो सहित आहार लेना। एपणा-ग्रहणैपणा सबधी शकित आदि १० दोपो से सहित आहार लेना।

उपर्युक्त दोपो वाला अशुद्ध-साधुमर्यादा के विपरीत आहार-पानी ग्रहण किया हो, ग्रहण किया हुआ भोग लिया हो, किन्तु दूपित जानकर भी परठा न हो, तो मेरा समस्त पाप मिथ्या हो।

विवेचन—जैन धर्म अहिसाप्रधान धर्म है। अहिसक करुणा का सागर, दया का आगार, सद्‌भावना का सरोवर, सरसता का स्रोत तथा अनुकम्पा का उत्स होता है। वह प्रत्येक साधना मे उपयोग-सावधानी रखता है। तथा साधना की प्रगति के लिए खान-पान, आचार-विचार, आहार-विहार की विशुद्धि को बडा महत्त्व देता है।

सयमसाधना के लिए मानव जीवन आवश्यक है और जीवन को टिकाये रहने के लिये आहार-पानी का सेवन अनिवार्य है। आहार-पानी आरम्भ-समारभ के विना तैयार नही होता और साधु आरभ समारभ का त्यागी होता है। ऐसी स्थिति मे क्या किया जाए ? जैनागमो मे इस समस्या का बहुत ही सुन्दर समाधान किया गया है। प्रस्तुत पाठ उसी समाधान का वोधक है। प्रथम तो यह कि साधु भिक्षावृत्ति से जीवननिर्वाह करे और भिक्षावृत्ति मे भी निर्दोप आहार ग्रहण करे। उसे जिन दोपो से बचना है, वे दोष इस पाठ मे प्रतिपादित किए गए है।

जैन भिक्षु के लिए नवकोटि-परिशुद्ध आहार ग्रहण करने का विधान किया गया है। नवकोटि इस प्रकार हैं—न स्वय भोजन पकाना, न अपने लिए दूसरो से कहकर पकवाना, न पकाते हुए का अनुमोदन करना। न खुद बना-बनाया खरीदना, न अपने लिए दूसरो से खरीदवाना और न खरीदने वाले का अनुमोदन करना। न स्वय किसी को पीडा देना, न दूसरे से पीडा दिलवाना और न पीडा देने वाले का अनुमोदन करना। इस प्रकार जैन धर्म मे बहुत सूक्ष्म अहिसा की मर्यादा का ध्यान रक्खा गया है।

विशिष्ट शब्दो का अर्थ—गोचरचर्या—अर्थात् जिस प्रकार गाय वन मे एक घास का तिनका जड से न उखाड कर, ऊपर से ही खाती हुई घूमती—आगे बढ जाती है और अपनी क्षुधानिवृत्ति कर लेती है, इसी प्रकार मुनि भी किसी गृहस्थ को पीडा न देता हुआ थोडा-थोडा भोजन ग्रहण करके अपनी क्षुधानिवृत्ति करता है। दशवैकालिक सूत्र मे इसके लिए मधुकर अर्थात् भ्रमर की उपमा दी है। भ्रमर भी फूलो को विना कुछ हानि पहुँचाए थोडा-थोडा रस ग्रहण करता हुआ, आत्मतृप्ति कर लेता है।

कपाटोद्घाटन—गृहस्थ के घर के द्वार के बद किवाड खोलकर आहार-पानी लेना सदोष है, क्योंकि बिना प्रमार्जन किए कपाट-उद्घाटन से जीव-विराधना की सम्भावना रहती है। इस प्रकार घर मे प्रवेश करके आहार लेने से साधक की असभ्यता भी प्रतीत होती है, क्योकि गृहस्थ अपने घर के अन्दर किसी विशेष कार्य मे सलग्न हो और साधु अचानक किवाड खोलकर अन्दर जाए तो यह उचित नही है। यह उत्सर्ग मार्ग है। यदि किसी विशेष कारण से आवश्यक वस्तु लेनी हो तथा यतनापूर्वक किवाड खोलने हो तो स्वय खोले अथवा किसी अन्य से खुलवाये जा सकते है। यह अपवाद मार्ग है।

मडीप्राभृतिका—अर्थात् अग्रपिड लेना। तैयार किए हुए भोजन के कुछ अग्र-अग को पुण्यार्थ निकाल कर जो रख दिया जाता है, वह अग्रपिड कहलाता है।

बलिप्राभृतिका—देवी-देवता आदि की पूजा के लिए तैयार किया हुआ भोजन बलि कहलाता है। ऐसा आहार लेना साधु को नही कल्पता है।

सकिए—आहार लेते समय भोजन के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की भी आधाकर्मादि दोष की आशका से युक्त, ऐसा आहार कदापि नही लेना चाहिये।

सहसाकार—'उतावला सो बावला' शीघ्रता मे कार्य करना, क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर दोनो ही दृष्टियो से अहितकर है।

अदृष्टाहृत—गृहस्थ के घर पर पहुच कर साधु को जो भी वस्तु लेनी हो, वह जहा रक्खी हो, स्वय अपनी आँखो से देखकर लेनी चाहिये। बिना देखे ही किसी वस्तु को ग्रहण करने से अदृष्टाहृत दोष लगता है। भाव यह है कि देय वस्तु न मालूम किसी सचित्त वस्तु पर रक्खी हुई हो! अत उसके ग्रहण करने से जीव-विराधना दोष लग सकता है। अतएव बिना देखे किसी भी वस्तु को लेना ग्राह्य नही है।

अवभाषण भिक्षा—भोजन मे किसी विशिष्ट वस्तु की याचना करना।

स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना दोषनिवृत्ति सूत्र

पडिक्कमामि चाउक्काल सज्झायस्स अकरणयाए, उभओ काल भडोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए, दुप्पडिलेहणाए, अप्पमज्जणाए, दुप्पमज्जणाए, अइक्कमे, वइक्कमे, अइयारे, अणायारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता हू। यदि प्रमादवश दिन और रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर रूप चारो कालो मे स्वाध्याय न किया हो, प्रात तथा सन्ध्या दोनो काल मे वस्त्र-पात्र आदि भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना न की हो अथवा सम्यक्-प्रकार से प्रतिलेखना न की हो, प्रमार्जना न की हो, अथवा विधिपूर्वक प्रमार्जना न की हो, इन कारणो से अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अथवा अनाचार लगा हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या—निष्फल हो।

विवेचन—

(प्र) **कालपडिलेहणयाए ण भते! जीवे कि जणयइ?**

(उ) कालपडिलेहणयाए ण नाणावरणिज्ज कम्म खवेइ।

हे भगवन् ! काल की प्रतिलेखना करने से क्या फल होता है ?

काल की प्रतिलेखना से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है और ज्ञान गुण की प्राप्ति होती है ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ २९

उपर्युक्त सूत्र काल-प्रतिलेखना का है । आगम मे कथन है कि दिन के पूर्व भाग तथा उत्तर भाग मे, इसी प्रकार रात्रि के पूर्व भाग तथा उत्तर भाग मे, अर्थात् दिवस एव रात्रि के चारो कालो मे नियमित स्वाध्याय करना चाहिये । साथ ही वस्त्र पात्र रजोहरण आदि की प्रतिलेखना भी आवश्यक है । यदि प्रमादवश उक्त दोनो आवश्यक कर्तव्यो मे भूल हो जाय तो उसकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करने का विधान है ।

प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने, टिकाये रखने, नष्ट करने और सयुक्त को वियुक्त तथा वियुक्त को सयुक्त करने मे काल का महत्त्वपूर्ण योग है । अत जीवन की प्रगति के प्रत्येक अग को आलोकित रखने के लिए काल की प्रतिलेखना करना अर्थात् काल का ध्यान रखना अतीव आवश्यक है । जिस काल मे जो क्रिया करनी चाहिये उस काल मे वही क्रिया की जानी चाहिये । इसीलिये उत्तराध्ययन सूत्र गे शास्त्रकार ने साधुओ के लिए कालक्रम (Time Table) निर्धारित कर दिया है । साथ ही यह भी निर्दिष्ट कर दिया है—'काले काल समायरे'—अर्थात् प्रत्येक कार्य नियत समय पर ही करना चाहिये । दिवस और रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर स्वाध्याय के लिए निश्चित किया गया है । इस प्रकार अहोरात्र मे स्वाध्याय के चार काल है ।

स्वाध्याय परम तप है । नवीन ज्ञानार्जन के लिए, अर्जित ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए तथा ज्ञानावरण कर्म की निर्जरा के लिए स्वाध्याय ही एक सबल साधन है । स्वाध्याय की एक बडी विशेषता है—चित्त की एकाग्रता । स्वाध्याय से चचल चित्त की दौडधूप रुक जाती है और वह केन्द्रित हो जाता है । यही कारण है कि उसके लिए चार प्रहर नियत किए गए है ।

स्थानागसूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने स्वाध्याय का अर्थ करते हुए लिखा है—भलीभाति मर्यादा के साथ अध्ययन करना स्वाध्याय है—'सुष्ठु आमर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय '

—स्थानाग २ स्था १३०

शास्त्रकारो ने स्वाध्याय को नन्दन वन की उपमा दी है । जिस प्रकार नन्दन वन मे प्रत्येक दिशा के भव्य से भव्य दृश्य मन को आनन्दित करने के लिए होते है, वहा जाकर मानव सब प्रकार के कष्टो को भूल जाता है, उसी प्रकार स्वाध्याय रूप नन्दन वन मे भी एक से एक सुन्दर एव शिक्षाप्रद दृश्य देखने को मिलते है, तथा मन दुनियावी झझटो से मुक्त होकर एक अलौकिक लोक मे विचरण करने लगता है । स्वाध्याय हमारे अन्धकारपूर्ण जीवनपथ के लिए दीपक के समान है ।

प्रतिलेखना—

साधु के पास जो भी वस्त्र पात्र आदि उपधि हो, उसकी प्रात काल एव सायकाल प्रतिलेखना करनी होती है । उपधि को बिना देखे पू जे उपयोग मे लाने से हिसा का दोष लगता है । शास्त्रोक्त समय पर स्वाध्याय या प्रतिलेखना न करना, शास्त्रनिषिद्ध समय पर करना स्वाध्याय

एव प्रतिलेखना पर श्रद्धा न रखना तथा इस सम्बन्ध मे मिथ्या प्ररूपणा करना, या उचित विधि मे न करना आदि स्वाध्याय एव प्रतिलेखन रूप अतिचार-दोप है।

यह काल-प्रतिलेखना सूत्र स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन करने के वाद पढ़ना चाहिये।

प्रस्तुत पाठ मे आये हुए अतिक्रम आदि का अर्थ इस प्रकार है—

१ **अतिक्रम**—गृहीत व्रत या प्रतिज्ञा को भग करने का विचार करना।
२ **व्यतिक्रम**—व्रतभग के लिए उद्यत होना।
३ **अतिचार**—आशिक रूप से व्रत को खडित करना।
४ **अनाचार**—व्रत को पूर्ण रूप से भग करना।

तेतीस बोल का पाठ

पडिक्कमामि एगविहे असजमे। पडिक्कमामि दोहि बधणेहि-रागबधणेण, दोस-बधणेण।
पडिक्कमामि तिहि दडेहि-मणदडेण, वयदडेण, कायदडेण।
पडिक्कमामि तिहि गुत्तीहि-मणगुत्तीए, वयगुत्तीय, कायगुत्तीए।
पडिक्कमामि तिहि सल्लेहि-मायासल्लेण, नियाणसल्लेण, मिच्छादसणसल्लेण।
पडिक्कमामि तिहि गारवेहि—इड्ढीगारवेण, रसगारवेण, सायागारवेण।
पडिक्कमामि तिहि विराहणाहि—नाणविराहणाए, दसणविराहणाए, चरित्तविराहणाए।

भावार्थ—अविरति रूप एकविध असयम का आचरण करने से जो भी अतिचार-दोप लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

दो प्रकार के बन्धनो से लगे दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् उनसे पीछे हटता हूँ। दो प्रकार के बन्धन है—१ रागबन्धन एव २ द्वेषबन्धन।

तीन प्रकार के दण्डो से लगे दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन दण्ड—

१ मनोदण्ड, २ वचन-दण्ड एव ३ कायदण्ड।

तीन प्रकार की गुप्तियो से अर्थात् उनका आचरण करते हुए प्रमादवश जो भी गुप्तियो सम्बन्धी विपरीताचरणरूप दोष लगे हो, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन गुप्ति-मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एव कायगुप्ति।

तीन प्रकार के शल्यो से होने वाले दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन शल्य—माया-शल्य, निदान-शल्य और मिथ्या-दर्शन-शल्य।

तीन प्रकार के गौरव—अभिमान से लगने वाले दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन गौरव—१ आचार्य आदि पद की प्राप्ति रूप ऋद्धि का अहकार ऋद्धि-गौरव। २ मधुर आदि रस की प्राप्ति का अभिमान रस-गौरव तथा ३ साता-गौरव—साता का अर्थ है आरोग्य एव शरीरिक सुख। आरोग्य, शारीरिक सुख तथा वस्त्र, पात्र शयनासन आदि सुख-साधनो के मिलने पर अभिमान करना और न मिलने पर उनकी आकाक्षा करना साता-गौरव है।

तीन प्रकार की विराधनाओ से होने वाले दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ। वे इस प्रकार

१ ज्ञान की तथा ज्ञानी की निंदा करना, ज्ञानार्जन मे आलस्य करना, अकाल स्वा करना आदि ज्ञानविराधना है।

२ सम्यक्त्व एव सम्यक्त्वधारी साधक की विराधना करना दर्शनविराधना है।

३ अहिसा सत्य आदि चारित्र का सम्यक् पालन न करना, उसमे दोष लगाना चा विराधना है।

पडिक्कमामि चउहि कसाएहि— कोहकसाएण, माणकसाएण, मायाकसाएण, ल कसाएण।

पडिक्कमामि चउहि सन्नाहि—आहारसन्नाए, भयसन्नाए, मेहुण-सन्नाए, परिग्गह-सन्ना

पडिक्कमामि चउहि विकहाहि—इत्थी-कहाए, भत्त-कहाए, देसकहाए, रायकहाए।

पडिक्कमामि चउहि झाणेहि—अट्टेण झाणेण, रुद्देण झाणेण, धम्मेण झाणेण, सु झाणेण।

भावार्थ—कषायसूत्र—चार-कषायो के द्वारा होने वाले अतिचारो का प्रतिक्रमण क हूँ। चार कषाय—क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय।

सज्ञासूत्र—चार प्रकार की सज्ञाओ के द्वारा जो अतिचार-दोष लगा, उसका प्रति करता हू। चार सज्ञाएँ—आहार-सज्ञा, भय-सज्ञा, मैथुन-सज्ञा और परिग्रह-सज्ञा।

विकथा-सूत्र—स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राज-कथा, इन चार विकथा द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

ध्यान-सूत्र—आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान के करने से तथा धर्मध्यान एव शुक्लध्यान के करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

पडिक्कमामि पचहि किरियाहि—काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए, पारितावणिय पाणाइवायकिरियाए।

पडिक्कमामि पचहि कामगुणेहि—सद्देण, रूवेण, गधेण, रसेण, फासेण।

पडिक्कमामि पचहि महव्वएहि—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण, सव्वाओ मुसावाय वेरमण, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमण, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमण, सव्वाओ परिग्गहा वेरमण।

पडिक्कमामि पचहि समिईहि—इरियासमिईए, भासा-समिईए, एसणा-समिईए, आया भडमत्तनिक्खेवणासमिईए, उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिघाण-परिट्ठावणियासमिईए।

भावार्थ—क्रिया-सूत्र—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणा पातिकी, इन पाचो क्रियाओ के करने से जो भी अतिचार लगा हो उनका प्रतिक्रमण करता हूँ।

काम-गुण-सूत्र—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाचो कामगुणो के द्वारा जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

महाव्रत-सूत्र—सर्वप्राणातिपात-विरमण—अहिंसा, सर्व-मृषावाद-विरमण—सत्य, सर्व-अदत्तादानविरमण—अस्तेय, सर्व-मैथुन-विरमण—ब्रह्मचर्य, सर्व-परिग्रह-विरमण—अपरिग्रह, इन पाचो महाव्रतो मे कोई भी अतिचार-दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

समिति-सूत्र—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-भाण्डमात्र-निक्षेपणा-समिति, उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, इन पाचो समितियो का सम्यक् पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

पडिक्कमामि छहिं जीवनिकाएहिं—पुढविकाएण, आउकाएण, तेउकाएण, वाउकाएण, वणस्सइकाएण, तसकाएण।

पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं—किण्ह-लेसाए, नील-लेसाए, काउ-लेसाए, तेउ-लेसाए, पउम-लेसाए, सुक्क-लेसाए।

जीवनिकाय-सूत्र—पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छहो जीव-निकायो की हिंसा करने से जो अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

लेश्या-सूत्र—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, और शुक्ल-लेश्या, इन छहो लेश्याओ के द्वारा अर्थात् प्रथम तीन अधर्म लेश्याओ का आचरण करने से और अन्त की तीन धर्मलेश्याओ का आचरण न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

पडिक्कमामि सत्तहिं भयठाणेहिं,
अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं,
नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं,
दसविहे समणधम्मे—
एक्कारसहिं उवासगपडिमाहिं,
बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं,
तेरसहिं किरियाठाणेहिं,
चउद्दसहिं भूयगामेहिं,
पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं,
सोलसहिं गाहासोलसएहिं,
सत्तरसविहे असंजमे,
अट्ठारसविहे अबंभे,
एगूणवीसाए नायज्झयणेहिं,
वीसाए असमाहिठाणेहिं—
इक्कवीसाए सबलेहिं, बावीसाए परीसहेहिं, तेवीसाए
सूयगज्झयणेहिं, चउवीसाए देवेहिं, पणवीसाए भावणाहिं,

छव्वीसाए दसाकप्पववहाराण उद्देसणकालेहि,
सत्तावीसाए अणगारगुणेहि
अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहि ।
एगूणतीसाए पावसुयप्पसगेहि,
तीसाए महामोहणीयट्ठाणेहि,
एगतीसाए सिद्धाइगुणेहि,
बत्तीसाए जोग-सगहेहि,
तेत्तीसाए आसायणाहि—

१ अरिहताण आसायणाए, २ सिद्धाण आसायणाए, ३ आयरियाण आसायणाए, ४ उवज्झायाण आसायणाए, ५ साहूण आसायणाए, ६ साहुणीण आसायणाए, ७ सावयाण आसायणाए, ८ सावियाण आसायणाए, ९ देवाण आसायणाए, १० देवीण आसायणाए, ११ इह लोगस्स आसायणाए, १२ परलोगस्स आसायणाए, १३ केवलि-पन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए, १४ सदेव-मणुयासुरस्स लोगस्स आसायणाए, १५ सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताण आसायणाए, १६ कालस्स आसायणाए, १७ सुअस्स आसायणाए, १८ सुयदेवयाए आसायणाए, १९ वायणायरियस्स आसायणाए, ज २० वाइद्ध, २१ वच्चामेलिय, २२ हीणक्खर, २३ अच्चक्खर २४ पयहीण, २५ विणयहीण, २६ जोग-हीण, २७ घोसहीण, सुट्ठुदिन्न, २९ दुट्ठुपडिच्छिय, ३० अकाले कओ सज्झाओ, ३१ काले न कओ सज्झाओ, ३२. असज्झाइए सज्झाइय, ३३ सज्झाए न सज्झाइय, तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

भावार्थ—प्रतिक्रमण करता हूँ—सात भय के स्थानो अर्थात् कारणो से, आठ मद के स्थानो से, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियो से अर्थात् उनका सम्यक् पालन न करने से, दसविध क्षमा आदि श्रमण धर्म की विराधना से,

ग्यारह उपासक प्रतिमा—श्रावक की प्रतिज्ञाओ से अर्थात् उनकी अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से, बारह भिक्षु की प्रतिमाओ से—उनकी अश्रद्धा अथवा विपरीत प्ररूपणा से, तेरह क्रिया के स्थानो के सेवन से, चौदह जीवो के समूह से अर्थात् उनकी हिसा से, पन्द्रह परमाधार्मिको से अर्थात् उन जैसा भाव रखने या आचरण करने से, सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा अध्ययन सहित सोलह अध्ययनो से, सत्तरह प्रकार के असयम मे रहने से, अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य मे वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनो से अर्थात् उनकी विपरीत श्रद्धा प्ररूपणा करने से, बीस असमाधि के स्थानो से,

इक्कीस शबलो से, बाईस परिषहो से अर्थात् उनको सहन न करने से, सूत्रकृताग सूत्र के तेईस अध्ययनो से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से या विपरीत श्रद्धा-प्ररूपणा करने से, चौबीस देवो से अर्थात् उनकी अवहेलना करने से, पाच महाव्रतो की पच्चीस भावनाओ (का यथावत् पालन न करने) से, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार—उक्त सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देशन कालो से,

सत्ताईस साधु के गुणो से, आचारप्रकल्प-आचाराग तथा निशीथ सूत्र के अट्ठाईस अध्ययनो से, उनतीस पापश्रुत के प्रसगो से, महामोहनीय कर्म के तीस स्थानो से,

सिद्धो के इकतीस आदि या सर्वोत्कृष्ट गुणो से, बत्तीस योगसग्रहो से, तेतीस आशातनाओ से, यथा—अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, देव, देवी, इहलोक, परलोक, केवलि-प्ररूपित धर्म, देव-मनुष्य-असुरो सहित समग्र लोक, समस्त प्राण—विकलत्रय, भूत—वनस्पति, जीव—पचेन्द्रिय, सत्त्व—पृथ्वीकाय आदि चार स्थावर, तथैव काल, श्रुत-शास्त्र, श्रुत-देवता वाचनाचार्य—इन सबकी आशातना, से,

तथा व्याविद्ध—सूत्र के पाठो को या सूत्र के अक्षरो को आगे-पीछे किया हो, व्यत्याम्रे डित—शून्य-चित्त से कई बार पढता ही रहा हो, अन्य सूत्र का पाठ अन्य सूत्र मे मिलाया हो, अक्षर छोडकर पढा हो, अत्यक्षर—अक्षर बढा दिये हो, पदहीन पढा हो, शास्त्र एव शास्त्राध्यापक का समुचित विनय न किया हो, घोषहीन—उदात्तादि स्वरो से रहित पढा हो, योगहीन—उपधानादि तपोविशेष के विना अथवा उपयोग के विना पढा हो, सुष्ठुदत्त—अधिक ग्रहण करने की योग्यता न रखने वाले शिष्य को भी अधिक पाठ दिया हो, दुष्ठुप्रतीच्छित—वाचनाचार्य के द्वारा दिए हुए आगमपाठ को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो, अकाल-स्वाध्याय—कालिक, उत्कालिक सूत्रो को उनके निषिद्ध काल मे पढा हो, काल-अस्वाध्याय—विहित काल मे सूत्रो को न पढा हो, अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय किया हो, स्वाध्याय की स्थिति मे स्वाध्याय न किया हो।

इस प्रकार श्रुतज्ञान की चौदह आशातनाओ से सब मिलाकर तेतीस आशातनाओ से जो भी अतिचार लगा हो, तत्सम्बन्धी मेरा दुष्कृत-पाप मिथ्या हो।

विवेचन—असयमसूत्र—असयम, सयम का विरोधी है। असयम ही समस्त सासारिक दु खो का मूल है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले राग-द्वेष रूप कषाय आदि भावो का नाम असयम है। लोभ एव तृष्णा ये मन की दुष्ट वृत्तिया है। इन वृत्तियो पर जो सयम नही रखता है, अथवा नियत्रण नही रखता है वह इनका दास है, गुलाम है। वह कभी आत्म-विजेता नही बन सकता। अत आत्मविजेता बनने के लिए आत्म-सयम परम आवश्यक है। जो आत्म-सयम नही रख सकता, अपने मन एव इन्द्रियो पर नियत्रण स्थापित नही करता, वह इच्छाओ के वशीभूत होकर कभी शाति-समाधि नही पा सकता और इच्छाएँ तो आकाश के समान अनन्त है। उनकी कभी पूर्ति नही हो सकती। शास्त्रकार कहते है—'इच्छा हु आगाससमा अणतिया।'

—उत्तराध्ययन सू अ ९

यद्यपि सयम के १७ भेद होने से उसके विरोधी असयम के भी १७ भेद है और विस्तार की विवक्षा से अन्य भेद भी हो सकते है, जो आगे गिनाए भी गए है। किन्तु सामान्यग्राही सग्रहनय की अपेक्षा से यहाँ एक ही प्रकार कहा गया है।

बन्धनसूत्र—

प्रस्तुत सूत्र मे राग-द्वेष को बन्धन कहा है। राग-द्वेष के द्वारा अष्टविध कर्मो का बन्ध होता है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति चारित्र-मोह के उदय से होती है तथा चारित्र-मोह सयम-जीवन का दूषक एव घातक है। जब तक राग-द्वेष की मलिनता है, तब तक चारित्र की शुद्धता किसी भी तरह नही हो सकती।

राग-द्वेष दो बीज है, कर्मबन्ध की व्याध।
ज्ञानातम वैराग्य से, पावै मुक्ति समाध।।

—बृहदालोयणा (रणजीतसिह कृत)

जिसके द्वारा आत्मा कर्म से रगा जाता है, वह मोह की परिणति राग है तथा किसी के प्रति शत्रुता, घृणा, क्रोध आदि दुर्भावना द्वेष है। चार कषायो मे से क्रोध और मान को द्वेष मे तथा माया और लोभ को राग मे परिगणित किया गया है।

दण्डसूत्र—

आत्मा की जिस अशुभ प्रवृत्ति से आत्मा दडित होता है अर्थात् दुख का पात्र बनता है, वह दण्ड कहलाता है। दण्ड तीन प्रकार के है—१ मनोदण्ड, २ वचनदण्ड और ३ कायदण्ड।

१ मनोदण्ड—१ विषाद करना, २ क्रूरतापूर्ण विचार करना, ३ व्यर्थ कल्पनाएँ करना, ४ मन का इधर-उधर बिना प्रयोजन भटकना, ५ अपवित्र विचार रखना, ६ किसी के प्रति घृणा, द्वेष आदि करना मनोदण्ड है। इनकी अशुभ प्रवृत्तियो से आत्मा २४ दण्डको मे दण्डित होता है।

२ वचनदण्ड—१ असत्य बोलना, २ अन्य की निदा, चुगली करना, ३ कडवा बोलना, ४ अपनी प्रशसा करना, ५ निरर्थक या निष्प्रयोजन बोलना, ६ सिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपणा करना आदि।

३ कायदण्ड—१ किसी को पीडा पहुचाना २ अनाचार का सेवन करना, ३ किसी की वस्तु चुराना, ४ अभिमान से अकडना ५ व्यर्थ इधर-उधर डोलना, ६ असावधानी से चलना आदि।

इन्ही तीनो के माध्यम से आत्मा अशुभ प्रवृत्तिया करके दडित होता है—२४ दण्डको मे भटकता हुआ क्लेशो का भाजन बनता है, अतएव ये दड कहलाते है।

गुप्तिसूत्र—

गुप्ति—अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग मे प्रवृत्ति करना गुप्ति है। अथवा ससार के कारणो से आत्मा की सम्यक् प्रकार से रक्षा करना, तीनो योगो की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा आगन्तुक कर्मरूपी कचरे को रोकना गुप्ति है। गुप्ति तीन प्रकार की है—१ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति, ३ कायगुप्ति।

मनोगुप्ति—आर्त्त तथा रौद्र ध्यान विषयक मन से सरभ, समारभ तथा आरभ सबधी सकल्प-विकल्प न करना, धर्म-ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना, मध्यस्थ भाव रखना मनोगुप्ति है।

मनगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से आरम्भ-समारम्भ मे मन न प्रवर्तावे, क्षेत्र से समस्त लोक मे, काल से जीवन पर्यन्त और भाव से विषय-कषाय, आर्त्त-रौद्र, राग-द्वेष मे मन न प्रवर्तावे।

वचनगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से चार प्रकार की विकथा न करना, क्षेत्र से समस्त लोक मे, काल से जीवन-पर्यन्त, भाव मे सावद्य वचन न बोलना।

कायगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से शरीर की शुश्रूषा न करे, क्षेत्र से समस्त लोक मे, काल मे जीवन पर्यन्त, भाव से सावद्य योग न प्रवर्ताना ।

शल्यसूत्र—

माया, निदान और मिथ्यादर्शन, ये तीनो दोष आगम की भाषा मे शल्य कहलाते है। जिसके द्वारा अन्तर पीडा सालती रहती हो, कसकती रहती हो वह तीर, काटा आदि द्रव्य शल्य है। माया आदि भाव शल्य है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार शल्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"शल्यतेऽनेनेति शल्यम् ।" आध्यात्मिक क्षेत्र मे माया, निदान और मिथ्या-दर्शन को शल्य इसलिए कहा कि जिस प्रकार शरीर के किसी भाग मे काटा, कील तथा तीर आदि तीक्ष्ण वस्तु घुस जाए तो वह मनुष्य को क्षुब्ध बना देती है, उसी प्रकार अन्तर मे रहा हुआ सूत्रोक्त शल्यत्रय भी साधक की अन्तरात्मा को सालता रहता है। तीनो ही शल्य तीव्र कर्म-बन्ध के हेतु है।

१ **मायाशल्य**—माया का अर्थ है कपट। माया एक तीक्ष्ण धारवाली असि है जो आपसी स्नेह-सम्बन्ध को क्षण भर मे ही काट देती है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—'माया मित्ताणि नासेइ' अर्थात् मायाचार करने से मित्रो—मैत्रीभाव का विनाश होता है।

२ **निदानशल्य**—धर्माचरण के सासारिक फल की कामना करना, भोगो की लालसा रखना निदानशल्य है।

३ **मिथ्यादर्शनशल्य**—सत्य पर श्रद्धा न लाना एव असत्य का कदाग्रह रखना मिथ्या-दर्शनशल्य है। इस प्रकार तीनो शल्यो से होने वाले दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ।

गौरव सूत्र एव विराधना सूत्र—

आचार्य आदि की पदप्राप्ति रूप ऋद्धिगौरव, मधुर आदि प्रिय रस की प्राप्ति का अभिमान रूप रसगौरव तथा शारीरिक आदि सुखप्राप्ति से होने वाले अभिमान रूप सातागौरव के कारण, एव ज्ञान की अर्थात् जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाएँ उस ज्ञान की विराधना, दर्शन की विराधना, चारित्र की विराधना, इन तीन विराधनाओ के कारण जो कोई अतिचार किया गया हो तो उससे मै निवृत्त होता हूँ।

गौरव का अर्थ है गुरुत्व—भारीपन। गौरव दो प्रकार का है १ द्रव्यगौरव, २ भावगौरव। पत्थर आदि की गुरुता द्रव्यगौरव है और अभिमान एव लोभ के कारण होने वाला आत्मा का अशुभ भाव भावगौरव है।

किसी भी प्रकार का दोष न लगाते हुए चारित्र का विशुद्ध रूप से पालन करना आराधना है और इसके विपरीत ज्ञानादि आचार का सम्यक् रूप से आराधन न करना, उनमे दोष लगाना विराधना है।

कषायसूत्र—

कोह माण च माय च, लोभ च पाव-वड्ढण।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छतो हियमप्पणो ॥ —दशवै सू अ ८

राग-द्वेष दो बीज हैं, कर्मबन्ध की व्याध।
ज्ञानातम वैराग्य से, पावै मुक्ति समाध॥

—बृहदालोयणा (रणजीतसिंह कृत)

जिसके द्वारा आत्मा कर्म से रंगा जाता है, वह मोह की परिणति राग है तथा किसी के प्रति शत्रुता, घृणा, क्रोध आदि दुर्भावना द्वेष है। चार कषायों में से क्रोध और मान को द्वेष में तथा माया और लोभ को राग में परिगणित किया गया है।

दण्डसूत्र—

आत्मा की जिस अशुभ प्रवृत्ति से आत्मा दंडित होता है अर्थात् दुःख का पात्र बनता है, वह दण्ड कहलाता है। दण्ड तीन प्रकार के हैं—१ मनोदण्ड, २ वचनदण्ड और ३ कायदण्ड।

१ मनोदण्ड—१ विषाद करना, २ क्रूरतापूर्ण विचार करना, ३ व्यर्थ कल्पनाएँ करना, ४ मन का इधर-उधर बिना प्रयोजन भटकना, ५ अपवित्र विचार रखना, ६ किसी के प्रति घृणा, द्वेष आदि करना मनोदण्ड है। इनकी अशुभ प्रवृत्तियों से आत्मा २४ दण्डकों में दण्डित होता है।

२ वचनदण्ड—१ असत्य बोलना, २ अन्य की निंदा, चुगली करना, ३ कड़वा बोलना, ४ अपनी प्रशंसा करना, ५ निरर्थक या निष्प्रयोजन बोलना, ६ सिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपणा करना आदि।

३ कायदण्ड—१ किसी को पीड़ा पहुंचाना २ अनाचार का सेवन करना, ३ किसी की वस्तु चुराना, ४ अभिमान से अकड़ना ५ व्यर्थ इधर-उधर डोलना, ६ असावधानी से चलना आदि।

इन्हीं तीनों के माध्यम से आत्मा अशुभ प्रवृत्तियां करके दंडित होता है—२४ दण्डकों में भटकता हुआ क्लेशों का भाजन बनता है, अतएव ये दंड कहलाते हैं।

गुप्तिसूत्र—

गुप्ति—अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति करना गुप्ति है। अथवा संसार के कारणों से आत्मा की सम्यक् प्रकार से रक्षा करना, तीनों योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा आगन्तुक कर्मरूपी कचरे को रोकना गुप्ति है। गुप्ति तीन प्रकार की है—१ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति, ३ कायगुप्ति।

मनोगुप्ति—आर्त्त तथा रौद्र ध्यान विषयक मन में संरभ, समारंभ तथा आरंभ संबंधी संकल्प-विकल्प न करना, धर्म-ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना, मध्यस्थ भाव रखना मनोगुप्ति है।

मनगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से आरम्भ-समारम्भ में मन न प्रवर्तावे, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जीवन पर्यन्त और भाव से विषय-कषाय, आर्त्त-रौद्र, राग-द्वेष में मन न प्रवर्तावे।

वचनगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से चार प्रकार की विकथा न करना, क्षेत्र से समस्त लोक में, काल से जीवन-पर्यन्त, भाव से सावद्य वचन न बोलना।

कायगुप्ति के चार भेद—

द्रव्य से शरीर की शुश्रूषा न करे, क्षेत्र से समस्त लोक मे, काल मे जीवन पर्यन्त, भाव से सावद्य योग न प्रवर्त्ताना।

शल्यसूत्र—

माया, निदान और मिथ्यादर्शन, ये तीनो दोष आगम की भाषा मे शल्य कहलाते है। जिसके द्वारा अन्तर पीडा सालती रहती हो, कसकती रहती हो वह तीर, काटा आदि द्रव्य शल्य है। माया आदि भाव शल्य है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार शल्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"शल्यतेऽनेनेति शल्यम्।" आध्यात्मिक क्षेत्र मे माया, निदान और मिथ्या-दर्शन को शल्य इसलिए कहा कि जिस प्रकार शरीर के किसी भाग मे काटा, कील तथा तीर आदि तीक्ष्ण वस्तु घुस जाए तो वह मनुष्य को क्षुब्ध बना देती है, उसी प्रकार अन्तर मे रहा हुआ सूत्रोक्त शल्यत्रय भी साधक की अन्तरात्मा को सालता रहता है। तीनो ही शल्य तीव्र कर्म-बन्ध के हेतु है।

१ **मायाशल्य**—माया का अर्थ है कपट। माया एक तीक्ष्ण धारवाली असि है जो आपसी स्नेह-सम्बन्ध को क्षण भर मे ही काट देती है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—'माया मित्ताणि नासेइ' अर्थात् मायाचार करने से मित्रो—मैत्रीभाव का विनाश होता है।

२ **निदानशल्य**—धर्माचरण के सासारिक फल की कामना करना, भोगो की लालसा रखना निदानशल्य है।

३ **मिथ्यादर्शनशल्य**—सत्य पर श्रद्धा न लाना एव असत्य का कदाग्रह रखना मिथ्या-दर्शनशल्य है। इस प्रकार तीनो शल्यो से होने वाले दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ।

गौरव सूत्र एव विराधना सूत्र—

आचार्य आदि की पदप्राप्ति रूप ऋद्धिगौरव, मधुर आदि प्रिय रस की प्राप्ति का अभिमान रूप रसगौरव तथा शारीरिक आदि सुखप्राप्ति से होने वाले अभिमान रूप सातागौरव के कारण, एव ज्ञान की अर्थात् जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाएँ उस ज्ञान की विराधना, दर्शन की विराधना, चारित्र की विराधना, इन तीन विराधनाओ के कारण जो कोई अतिचार किया गया हो तो उससे मै निवृत्त होता हूँ।

गौरव का अर्थ है गुरुत्व—भारीपन। गौरव दो प्रकार का है १ द्रव्यगौरव, २ भावगौरव। पत्थर आदि की गुरुता द्रव्यगौरव है और अभिमान एव लोभ के कारण होने वाला आत्मा का अशुभ भाव भावगौरव है।

किसी भी प्रकार का दोष न लगाते हुए चारित्र का विशुद्ध रूप से पालन करना आराधना है और इसके विपरीत ज्ञानादि आचार का सम्यक् रूप से आराधन न करना, उनमे दोष लगाना विराधना है।

कषायसूत्र—

कोह माण च माय च, लोभ च पाव-वड्ढण।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छतो हियमप्पणो॥ —दशवै सू अ ८

अर्थात्-अपनी आत्मा का हित चाहने वाले साधक को पाप बढाने वाले क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चारो कषायो का त्याग कर देना चाहिये।

आत्मा का कषायो द्वारा जितना अहित होता है, उतना किसी भी अन्य शत्रु द्वारा नही होता। कषाय कर्मबन्ध के प्रबल कारण है। यही आत्मा को ससार-भ्रमण कराते है। कषाय के द्वारा जिसकी आत्मा कलुषित है, उसमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का समावेश नही हो सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे काले कबल पर दूसरा कोई रग नही चढता। आत्मा के उत्थान तथा पतन के मूल कारण कषाय है। कषायो के तीव्र उद्रेक से आत्मा अध पतन के गहरे गर्त्त मे गिरती जाती है, क्योकि कषायो का मन पर अधिकार हो जाने पर उनके विरोधी सभी सद्गुण एक-एक करके लुप्त हो जाते है—

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेई, लोभो सव्वविणासणो॥
उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
मायमज्जव-भावेण, लोभ सतोसओ जिणे॥

—दशवैकालिक, अ ८।३८,३९

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है तथा लोभ समस्त सद्गुणो का नाश करता है।

क्षमा से क्रोध को, विनय से अर्थात् मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सतोष से लोभ को जीतना चाहिये।

सज्ञा-सूत्र—

जीवो की इच्छा को सज्ञा कहते है। सज्ञा का अर्थ 'चेतना' भी होता है। प्रस्तुत मे मोहनीय एव असाता वेदनीय कर्म के उदय से जब चेतनाशक्ति विकारयुक्त हो जाती है तब वह 'सज्ञा' पदवाच्य होती है।

श्रीपन्नवणा सूत्र के आठवे पद मे सज्ञा के दस प्रकार बताए है।[1] अनेक सूत्रो मे सोलह भेद भी प्ररूपित किए गए है। मूल भेद चार है—१ आहार, २ भय, ३ मैथुन, ४ परिग्रह।

१ आहार-सज्ञा—आहारसज्ञा चार कारणो से उत्पन्न होती है। यथा—१ पेट खाली होने से, २ क्षुधा वेदनीय के उदय से, ३ आहार को देखने से और ४ आहार सम्बन्धी चिन्तन करने से।

२ भय-सज्ञा—भयसज्ञा चार कारणो से उत्पन्न होती है—१ अधैर्य रखने से, २ भय-मोह के उदय से, ३ भय उत्पन्न करने वाले पदार्थ को देखने से, ४ भय का चिन्तन करने से। भय मोहनीय के उदय से आत्मा मे जो त्रास का भाव उत्पन्न होता है, वह भय मोहनीय है।

---

१ आहार सज्ञा, २ भय सज्ञा, ३ मैथुन सज्ञा, ४ परिग्रह सज्ञा, ५ क्रोध सज्ञा, ६ मान सज्ञा, ७ माया सज्ञा, ८ लोभ सज्ञा, ९ लोक सज्ञा, १० ओघ सज्ञा।

३ मैथुन-सज्ञा—वेद-मोहोदय का सवेदन मैथुन सज्ञा कहलाती है। वह भी चार कारणो मे उत्पन्न होती है—१ शरीर पुष्ट बनाने से, २ वेदमोहनीय कर्मोदय से, ३ स्त्री आदि को देखने म और ४ काम-भोग का चितन करने से।

४ परिग्रह-सज्ञा—लोभ-मोहनीय के उदय से मनुष्य की सग्रहवृत्ति या मूर्छा जागृत होती है वह परिग्रह-सज्ञा है। उसके भी चार कारण है—१ ममत्व बढाने से, २ लोभमोहनीय के उदय से, ३ धन-सम्पत्ति देखने से और ४ धन परिग्रह का चिन्तन करने से।

विकथा-सूत्र—

सयम को दूषित करने वाले एव निरर्थक वार्तालाप को विकथा कहते है। स्त्रीकथा, भक्त-कथा, देशकथा तथा राजकथा रूप चार विकथाओ के कारण जो कुछ अतिचार लगा हो तो उसमे मै निवृत्त होता हूँ। (नारी साधिका के लिये 'पुरुषकथा' बोलना चाहिये)।

१ स्त्रीकथा—अमुक देश, जाति, कुल की अमुक स्त्री सुन्दर अथवा कुरूप होती है। वह बहुत सुन्दर वस्त्राभूषण पहनती है। गाना भी बहुत सुन्दर गाती है। इत्यादि विचार से ब्रह्मचर्य आदि व्रतो मे दोष लगने की सभावना होने से इसको अतिचार का हेतु माना गया है।

२ भक्तकथा—'भक्तकथा' आवाप, निर्वाप, आरम्भ एव निष्ठान के भेद से चार प्रकार की है।

आवाप—अमुक रसोई मे इतना घी, इतना शाक, इतना मसाला ठीक रहेगा।

निर्वाप—इतने पकवान थे, इतना शाक था, मधुर था, इस प्रकार देखे हुए भोज्य पदार्थ की कथा करना।

आरम्भ—अमुक रसोई मे इतने शाक और फल आदि की जरूरत रहेगी, इत्यादि।

निष्ठान—अमुक भोज्य पदार्थो मे इतने रुपये लगेगे आदि।

३ देशकथा—देशो की विविध वेश-भूषा, शृ गार-रचना, भोजनपद्धति, गृह-निर्माणकला, रीति-रिवाज आदि की प्रशसा या निदा करना देशकथा है।

४ राजकथा—राजाओ की सेना, रानियो, युद्ध-कला, भोग-विलास आदि का वर्णन करना, राजकथा कहलाती है। राजकथा चार प्रकार की है—१ अतियान, २ निर्याण, ३ बल-वाहन, ४ कोष।

ध्यान-सूत्र

पवन रहित अर्थात् निर्वात स्थान मे स्थिर दीप-शिखा के समान निश्चल, अन्य विषयो के सकल्प से रहित केवल एक ही विषय का चिन्तन ध्यान कहलाता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थिर अध्यवसान एव मन की एकाग्रता ध्यान है। वीतराग के मन का अभाव होने के कारण योग-निरोध ही उनका ध्यान होता है।[1]

ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का होता है। आर्त तथा रौद्र अप्रशस्त ध्यान है, अत हेय—त्याज्य है। धर्म तथा शुक्ल प्रशस्त ध्यान है—आचरणीय है।

१ अतोमुहुत्तमित्त, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाण झाण, जोगणिरोहो जिणाण ति॥

आचार्य जिनदास महत्तर ने आवश्यक चूर्णि के प्रतिक्रमणाध्ययन मे इसी प्रसग पर एक गाथा उद्‌धृत की है—

हिसाणुरजित रौद्र, अट्ट कामाणुरजित।
धम्माणुरजिय धम्म, सुक्लज्भाण निरजण॥

अर्थात्—काम से अनुरजित ध्यान आर्त कहलाता है। हिसा से रगा हुआ ध्यान रौद्र है, धर्म से अनुरजित ध्यान धर्मध्यान है और शुक्लध्यान पूर्ण निरजन होता है।

१ आर्तध्यान—आर्ति का अर्थ दु ख, व्यथा, कष्ट या पीडा होता है। आर्ति के निमित्त से जो ध्यान होता है, वह आर्तध्यान कहलाता है। अनिष्ट वस्तु के सयोग से, इष्ट वस्तु के वियोग से, रोग आदि के कारण तथैव भोगो की लालसा से मन मे जो एक प्रकार की विकलता-सी अर्थात् पीडा-सी होती है और जब वह एकाग्रता का रूप धारण करती है तब आर्तध्यान कहलाती हैं।

२ रौद्रध्यान—हिसा आदि अत्यन्त क्रूर विचार रखने वाला व्यक्ति रुद्र कहलाता है। रुद्र व्यक्ति के मनोभावो को रौद्रध्यान कहा जाता है। अथवा छेदन, भेदन, दहन, बन्धन, मारण, प्रहरण, दमन, कर्तन आदि के कारण राग-द्वेष का उदय हो और दया न हो ऐसे आत्म-परिणाम को रौद्रध्यान कहते है।[1]

३ धर्मध्यान—वीतराग की आज्ञा रूप धर्म से युक्त ध्यान को धर्म्यध्यान कहते है। अथवा-आगम के पठन, व्रतधारण, बन्ध-मोक्षादि, इन्द्रिय दमन तथा प्राणियो पर दया करने के चिन्तन को धर्मध्यान कहते है।[2]

४ शुक्लध्यान—कर्म मल को शोधन करने वाला तथा शोक को दूर करने वाला ध्यान शुक्लध्यान है।[3] धर्मध्यान, शुक्लध्यान का साधन है। कहा भी है—'जिसकी इन्द्रियाँ विषय-वासना रहित हो, सकल्प-विकल्पादि दोष युक्त जो तीन योग उनसे रहित महापुरुष के ध्यान को 'शुक्लध्यान' कहते है।[4]

---

१ सछेदनैर्दहन-भञ्जन-मारणैश्च,
बन्ध-प्रहार-दमनैर्विनिकृन्तनैश्च॥
रागोदयो भवति येन न चानुकम्पा,
ध्यान तु रौद्रमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञा॥

२ सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु,
बन्धप्रमोक्षगमनागमहेतुचिन्ता।
पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते,
ध्यान तु धर्म्यमिति सप्रवदन्ति तज्ज्ञा॥

३ शोधयत्यष्टप्रकार कममल शुच वा क्लमयतीति शुक्लम्। —आचाय नमि।

४ यस्येन्द्रियाणि विषयेषु पराङ्मुखानि,
सकल्पकल्पनविकल्पविकारदोषै।
योगैस्तथा त्रिभिरहो! निभृतान्तरात्मा,
ध्यान तु शुक्लमिदमस्य समादिशन्ति॥

क्रियासूत्र

जैन परिभाषा के अनुसार प्रस्तुत प्रकरण मे हिंसाप्रधान दुष्ट व्यापार-विशेष को 'क्रिया' कहते है। विस्तार-पद्धति मे क्रिया के २५ भेद माने गये हे । परन्तु अन्य समस्त क्रियाओ का सूत्रोक्त पाच क्रियाओ मे ही अन्तर्भाव हो जाता है, अत मूल क्रियाए पाच ही मानी जाती ह ।

१ कायिकीक्रिया—काय के द्वारा होने वाली क्रिया कायिकी कहलाती ह । इसके तीन भेद माने गये है। मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यक्-दृष्टि की क्रिया अविरत-कायिकी कहलाती है, प्रमत्तसयमी मुनि की क्रिया दुष्प्रणिहित-कायिकी और अप्रमत्तसयत मुनि की क्रिया सावद्ययोग से उपरत होने के कारण उपरतकायिकी कहलाती है।

२ आधिकरणिकीक्रिया—जिसके द्वारा आत्मा नरक आदि दुर्गति का अधिकारी होता है, वह पाप का साधन खड्गादि या दुर्मत्रादि का अनुष्ठान-विशेष अधिकरण कहलाता है, उससे होने वाली क्रिया।

३ प्राद्वेपिकीक्रिया—प्रद्वेप का अर्थ मत्सर, डाह, ईर्ष्या होता हे। यह अकुशल परिणाम कर्म-बन्ध का प्रबल कारण माना जाता है। अत जीव या अजीव किसी भी पदार्थ पर द्वेपभाव रखना, प्राद्वेषिकीक्रिया है ।

४ पारितापनिकीक्रिया—ताडन आदि के द्वारा दिया जाने वाला दुख परितापन कहलाता है। परितापन से निष्पन्न होने वाली क्रिया, पारितापनिकी क्रिया कहलाती है। स्व तथा पर के भेद से पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की होती है। अपने आपको परिताप पहुचाना स्वपारितापनिकी और अन्य प्राणी को परिताप पहुचाना पर-पारितापनिकी क्रिया है ।

५ प्राणातिपातिकीक्रिया—प्राणो का अतिपात या विनाश प्राणातिपात कहलाता है। प्राणातिपात से होने वाली क्रिया प्राणातिपातिकी कहलाती है। इसके दो भेद है—क्रोधादि कपायवश होकर अपनी हिसा करना, स्वहस्त-प्राणातिपातिकी क्रिया है और इसी प्रकार दूसरे की हिसा करना, पर-प्राणातिपातिकी है।

कामगुण-सूत्र—

प्रस्तुत सूत्र मे उल्लेख है कि यदि सयम-यात्रा करते हुए कहा कामगुण अर्थात् पाच इन्द्रियो के विपय—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, इन विषयो मे मन भटक गया हो, तटस्थता को छोड राग-द्वेप युक्त हो गया हो, मोह जाल मे फस गया अर्थात् इष्ट शब्दादि मे राग और अनिष्ट मे द्वेष उत्पन्न हुआ हो तो उसे वहाँ से हटाकर पुन सयम-पथ पर अग्रसर करना चाहिये। यही काम-गुणो से आत्मा का प्रतिक्रमण है।

महाव्रत-सूत्र—

साधु हिसा, असत्य, अदत्तादान, आदि का सर्वथा त्याग करता है अर्थात् अहिसा आदि महाव्रतो की नवकोटि से सदा सर्वथा पूर्ण आराधना करता है, फलत साधु के अहिसा आदि व्रत महाव्रत कहलाते है।

महाव्रत साधु के पाच मूलगुण कहे जाते है। इनके अतिरिक्त शेप आचार उत्तरगुण कहलाते है। उत्तरगुणो की उपयोगिता मूलगुणो की रक्षा मे है, स्वय स्वतन्त्र उनका कोई प्रयोजन नही। महाव्रत तीन करण और तीन योग से ग्रहण किये जाते है। जीवन पर्यन्त किसी भी

प्रकार की हिसा न स्वय करना, न दूसरे से कराना, न करने वालो का अनुमोदन करना, मन से, वचन से और काय से, यह अहिसा महाव्रत हे। इसी प्रकार असत्य, स्तेय, मैथुन एव परिग्रह आदि के त्याग के सम्बन्ध मे भी नव कोटि की प्रतिज्ञा का भाव समझ लेना चाहिये।

विशेष व्य—

प्रस्तुत महाव्रत सूत्र के पश्चात् प्राय सभी प्राप्त प्रतियो ओर आवश्यक सूत्र के टीकाग्रन्थो मे समिति सूत्र का उल्लेख मिलता हे। परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर ने लिखा हे—'एत्थ केवि अण्ण पि पठन्ति' अर्थात् यहाँ कुछ आचार्य दूसरे पाठ भी पढते है। यथा—पाच आश्रव, पाच सवरद्वार, पाच निर्जराद्वार आदि।[1]

समिति-सूत्र—

सर्वथा जीव हिसा से निवृत्त मुनि की आवश्यक निर्दोप प्रवृत्ति को समिति कहते हे। उत्तम परिणामो की चेष्टा को भी समिति कहते है। समिति आगमो का एक साकेतिक शब्द हे। समिति का अर्थ है—विवेक-युक्त होकर प्रवृत्ति करना। समिति पाच प्रकार की हे—

१ ईर्यासमिति—कार्य उत्पन्न होने पर विवेकपूर्वक गमन करना तथा दूसरे जीवो को किसी प्रकार की हानि न हो, इस प्रकार उपयोगपूर्वक चलना ईर्यासमिति है।

२ भापासमिति—आवश्यकता होने पर निर्दोप वचन की प्रवृत्ति करना, अर्थात् हित, मित, सत्य एव स्पष्ट वचन कहना भापासमिति है।[2]

३ एपणासमिति—आहारादि सम्बन्धी बयालीस दोपो को टालकर निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना, ५ मण्डल सम्बन्धी दोप टाल कर भोगना एपणासमिति है।

४ आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणासमिति—वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि उपकरणो को उपयोग-पूर्वक ग्रहण करना एव जीव रहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण करना-रखना आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणासमिति है।

५ पारिष्ठापनिकासमिति—मल, मूत्र, कफ, थूक, नासिकामल आदि या भुक्तशेष भोजन तथा भग्न पात्र आदि परठने योग्य वस्तु जीव रहित एकान्त स्थण्डिल-भूमि मे परठना, जीवादि उत्पन्न न हो, एतदर्थ उचित यतनापूर्वक परठना पारिष्ठापनिकासमिति है।

जीवनिकाय-सूत्र—

'जीवनिकाय' शब्द जीव और निकाय इन दो शब्दो से बना है। जीव का अर्थ है—चेतन-प्राणी तथा निकाय का अर्थ हे—राशि अर्थात् समूह। जीवो की राशि को जीवनिकाय कहते है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस, ये छह निकाय है। इन छह निकायो मे अर्थात् समूहो मे समस्त ससारी जीवो का समावेश हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र मे छहो जीवसमूहो मे से किसी को किसी भी प्रकार की प्रमाद-वश पीडा पहुचायी हो तो उसका प्रतिक्रमण किया गया है।

---

१ "पडिक्कमामि पचहि आसवदारेहि—मिच्छत्त-अविरति-पमाद कसायजोगेहि, पचहि अणासवदारेहि—सम्मत्त-विरति-अप्पमाद-अकसायित्त—अजोगित्तेहि, पचहि निज्जर-ठाणेहि, नाण-दसण-चरित्त-तव-सजमेहि।"

२ "भापासमितिर्नाम हितमितासदिग्धार्थभापणम्।" —आचार्य हरिभद्र।

लेश्या-सूत्र—

लेश्या का सक्षिप्त अर्थ है—मनोवृत्ति या विचार-तरग। उत्तराध्ययनसूत्र, भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि मे लेश्या का विस्तार से तथा सूक्ष्म रूप से वर्णन किया गया है।

लेश्या की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनदास महत्तर कहते है कि आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामो के द्वारा शुभाशुभ कर्म का आत्मा के साथ सश्लेपण होता है, वे परिणाम लेश्या कहलाते है।[1] मन, वचन और काय रूप योग के परिणाम लेश्या पदवाच्य है। क्योकि योग के अभाव मे अयोगी केवली लेश्यारहित माने गए है। लेश्या के मुख्य भेद छह है—

१ **कृष्ण-लेश्या**—यह मनोवृत्ति सबसे जघन्य है। कृष्णलेश्या वाले के विचार अतीव क्षुद्र, क्रूर, कठोर एव निर्दय होते है। अहिसा, सत्य आदि से उन्हे घृणा होती है। इहलोक परलोक से एव परलोक सम्बन्धी अनिष्ट परिणामो से वे नही डरते। उन्हे अपने सुख से मतलब होता है—दूसरो के जीवन का कुछ भी हो, इसकी चिन्ता नही रहती है। वे अतिशय क्रूर एव पापी होते है।

२ **नील-लेश्या**—यह मनोवृत्ति पहली की अपेक्षा कुछ ठीक है परन्तु उपादेय यह भी नही। इस लेश्या वाला ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज एव रसलोलुप होता है। अपने सुख मे मस्त रहता है। परन्तु जिन प्राणियो के द्वारा सुख मिलता है, उनकी भी 'अजपोपण' न्याय के अनुसार कुछ सार-सभाल कर लेता है।

३ **कापोत-लेश्या**—यह मनोवृत्ति भी अप्रशस्त है इस लेश्या वाला व्यक्ति विचारने, बोलने और कार्य करने मे वक्र होता है। कठोरभाषी एव अपने दोषो को ढंकने वाला होता है।

४ **तेजो-लेश्या**—यह मनोवृत्ति पवित्र है। इसके होने पर मनुष्य नम्र, विचारशील, दयालु एव धर्म मे अभिरुचि रखने वाला होता है। अपनी सुख-सुविधा को गौण करके दूसरो के प्रति अधिक उदार-भावना रखता है।

५ **पद्म-लेश्या**—पद्म लेश्या वाले मनुष्य का जीवन कमल के समान दूसरो को सुगन्ध देने वाला होता है। इस लेश्या वाले का मन शान्त, निश्चल एव अशुभ प्रवृत्तियो को रोकने वाला होता है। पाप से भय खाता है। मोह और शोक पर विजय प्राप्त करता है। वह मितभाषी, सौम्य एव जितेन्द्रिय होता है।

६ **शुक्ल-लेश्या**—यह मनोवृत्ति सबसे अधिक विशुद्ध होने के कारण शुक्ल कहलाती है। इस लेश्या वाला शरीर के निर्वाह के लिए आहार ग्रहण करता है। किसी भी प्राणी को कष्ट नही देता। राग-द्वेष की परिणति हटाकर वीतराग भाव धारण करता है। परम शुक्ललेश्या वाला आसक्तिरहित होकर सतत समभाव रखता है।

प्रथम की तीन लेश्याए—कृष्ण, नील एव कापोत त्याज्य है और अन्त की तीन लेश्याए—तेजो, पद्म एव शुक्ल उपादेय है। अन्तिम शुक्ललेश्या के बिना आत्म-विकास की पूर्णता का होना

१ 'लिश् सश्लेपणे, सश्लिष्यते आत्मा तैस्तै परिणामान्तरै। यथा श्लेपेण वर्ण-सम्बन्धो भवति एव लेश्याभिरात्मनि कर्माणि सश्लिश्यन्ते। योग-परिणामो लेश्या, जम्हा अयोगिकेवली अलेस्सो।'

—आवश्यक-चूर्णि।

असभव है। जीवन-शुद्धि के पथ मे अधर्म लेश्याओं का आचरण किया हो और और धर्म लेश्याओं का आचरण न किया हो तो प्रस्तुत-सूत्र के द्वारा उसका प्रतिक्रमण किया जाता है।

भयादि-सूत्र—

भय से लेकर आशातना तक के बोल कुछ उपादेय ह, कुछ ज्ञेय हे, कुछ हेय हे। भयस्थान के सात प्रकार हे—

१ **इहलोकभय**—अपनी जाति के प्राणी से डरना इहलोकभय हे। जेसे—मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यञ्च का तिर्यञ्च से डरना।

२ **परलोकभय**—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना परलोकभय हे। जेसे—मनुष्य का देव से या तिर्यञ्च आदि से डरना।

३ **आदानभय**—चोर आदि द्वारा धन आदि छीने जाने का भय।

४ **अकस्मात्‌भय**—विना कारण ही अचानक डर जाना।

५ **आजीविकाभय**—दुर्भिक्ष आदि मे जीवन-यात्रा के लिये भोजन आदि की अप्राप्ति के दुर्विकल्प से डरना।

६ **मरणभय**—मृत्यु से डरना।

७ **अपयश-अश्लोकभय**—अपयश की आशका से डरना।

भयमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के उद्‌वेग रूप परिणाम-विशेष को भय कहते हे। साधु को किसी भय के आगे अपने आपको नही झुकाना चाहिये। निर्भय रहना अर्थात् न स्वय भयभीत होना और न दूसरो को भयभीत करना चाहिये। भय के द्वारा सयम-जीवन दूषित होता है, तदर्थ भय का प्रतिक्रमण किया जाता है।

आठ मदस्थान—

१ जातिमद—ऊची एव श्रेष्ठ जाति (मातृपक्ष) का अभिमान।
२ कुलमद—ऊचे कुल (पितृपक्ष) का अभिमान।
३ बलमद—अपने बल का घमण्ड करना।
४ रूपमद—अपने रूप का, सौन्दर्य का अभिमान करना।
५ तपोमद—उग्र तपस्वी होने का गर्व करना।
६ श्रुतमद—शास्त्राभ्यास का अर्थात् पडित होने का घमण्ड करना।
७ लाभप्रद—अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर लाभ का गर्व करना।
८ ऐश्वर्यमद—अपने प्रभुत्व का अहकार।

विवेचन—ये आठ मद समवायाग सूत्र के उल्लेखानुसार है। गणधर गौतम ने श्रीमहावीर स्वामी से प्रश्न किया था—

माण-विजएण भते! जीवे कि जणयइ ?

हे भगवन्! मान पर विजय पाने से जीव को किस लाभ की प्राप्ति होती हे ?

भगवान् ने समाधान दिया—"**माणविजएण मद्दव जणयइ, माणवेयणिज्ज नव कम्म न बधई पुव्व-बद्ध च निज्जरेइ।**" —उत्तरा सू अ २९।

अर्थात्—मान पर विजय पाने से मृदुता प्राप्त होती है। नवीन कर्मो का वन्ध नही होता तथा पूर्वार्जित कर्मो की निर्जरा होती है।

अहकार से मनुष्य का दिमाग आसमान पर चढ जाता है और ऐसी स्थिति मे नीचे ठोकर लगने पर शिर फटने की आशका रहती है।

जगत् मे मान, गर्व, अभिमान को कुत्ते के समान माना गया है। जैसे कुत्ता प्रेम करने पर मु ह चाट कर अशुद्ध कर देता है और मारने पर काट खाता है, उसी तरह अहकार का पोपण करने से अपयश का भागी वनना पडता है और जव अहकार खडित हो जाता है तो जीवन-लीला समाप्त होने की भी नौवत आ जाती है। इसलिए कहा है—

"**मृत्योस्तु क्षणिका पीडा मान-खडो पदे-पदे।**"

अर्थात्—मृत्यु की पीडा तो क्षणिक होती है, किन्तु मान-भग होने की पीडा पद-पद पर कष्ट पहुचाती है।

नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ—

ब्रह्मचर्य शरीर की शक्ति है। जीवन का परमोत्तम धन है। मन का मर्दन है। आत्मा का उत्थान है। व्रतो मे उत्तम है। साधना की बुनियाद और धर्माराधना का आधार है। सफलता का साधन और शाति का स्रोत है। क्षमा का सागर और विनय का आगार है। सूत्रकृताग सूत्र के छट्ठे अध्ययन मे लिखा है—'**तवेसु वा उत्तम बभचेर**' अर्थात् ब्रह्मचर्य तपो मे श्रेष्ठ है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ—

जीवो बभो जीवम्मि चेव चरिया, हविज्ज जा जदिणो ?
त जाण बभचेर, विमुक्क परदेहतित्तिस्स ॥

—भगवती आराधना ८१

अर्थात्—ब्रह्म अर्थात् आत्मा, आत्मा मे चर्या मुनि की अर्थात् रमण करना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य धर्मसाधना का आधार है। इसकी साधना से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है—'ब्रह्मचर्य धर्मरूपी पद्मसरोवर की पाल है। वह दया क्षमादि गुणो का आगार है एव धर्म-शाखाओ का आधार है। ब्रह्मचारी की देव-नरेन्द्र पूजा करते है। यह ससार का मगलमय मार्ग है।

देव-दाणव-गधव्वा जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बभयारिं नमसति दुक्कर जे करति ते ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—देव, दानव, गधर्व, यक्ष, राक्षस तथा किन्नर आदि देवगण भी दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी को नमस्कार करते है।

अमेरिकन ऋषि 'थोरो' ने कहा है—"ब्रह्मचर्य जीवन-वृक्ष का पुष्प है और प्रतिभा, पवित्रता, वीरता आदि अनेक उसके मनोहर फल है।" व्यास के शब्दो मे—"ब्रह्मचर्य अमृत है।" जो मनुष्य ब्रह्मचर्य रूपी अमृत का आस्वादन कर लेता है, वह सदा के लिये अमर बन जाता है। ब्रह्मचर्य जीवन की विराट साधना है।

यदि साधना करते हुए कही भी प्रमादवश नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियो का अतिक्रमण किया हो तो उसका प्रस्तुत सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण किया जाता है।

ब्रह्मचर्य को भलीभाति सुरक्षित रखने के लिए नव गुप्तिया शास्त्रो मे प्रतिपादित की गई है। सक्षेप मे उनका आशय इस प्रकार है—

१ **विविक्त-वसति-सेवन**—स्त्री, पशु और नपु सको से युक्त स्थान मे न ठहरना।

२ **स्त्रीकथापरिहार**—स्त्रियो की कथा-वार्ता, सौन्दर्य आदि की चर्चा न करना।

३ **निषद्यानुपवेशन**—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस स्थान पर न बैठे।

४ **स्त्री-अगोपागादर्शन**—स्त्रियो के मनोहर अग, उपाग न देखे। यदि कभी अकस्मात् दृष्टि पड जाय तो उसी प्रकार सहसा हटा ले जैसे सूर्य की ओर से हटा ली जाती है।

५ **कुड्यान्तर-शब्दश्रवणादि-वर्जन**—दीवार आदि की आड से स्त्री के शब्द, गीत, हास्य, रूप आदि न सुने और न देखे।

६ **पूर्वभोगास्मरण**—पहले भोगे हुए भोगो का स्मरण न करे।

७ **प्रणीत-भोजन-त्याग**—विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।

८ **अतिमात्र-भोजन-त्याग**—रूखा-सूखा भोजन भी अधिक मात्रा मे न करे। आहार सम्बन्धी ग्रन्थो के अनुसार आधा पेट अन्न से भरे, आधे मे से दो भाग पानी के लिए और एक भाग हवा के लिए छोड दे। शास्त्रानुसार पुरुष साधक का उत्कृष्ट आहार बत्तीस और नारी साधिका का अट्ठाईस कवल है। कवल का प्रमाण भी बता दिया गया है—मयूरी के अडे जितना।

९ **विभूषा-परिवर्जन**—शरीर की विभूषा—सजावट न करे। इन नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियो मे और क्षान्ति, मुक्ति, निर्लोभता, आर्जव (सरलता रखना), मार्दव (मान परित्याग), लाघव (द्रव्य भाव से लघुता), सत्य सयम तप ब्रह्मचर्य एव त्याग, इस प्रकार दस प्रकार के यतिधर्म मे जो कोई अतिचार लगा हो तो उससे मै निवृत्त होता हूँ।

ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ—

देश-विरत श्रावक के अभिग्रहविशेष को प्रतिमा कहते है। देव और गुरु की उपासना करने वाला श्रमणोपासक होता है। जब उपासक प्रतिमाओ का आराधन करता है तब वह प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। ये प्रतिमाएँ ग्यारह है।

१ **दर्शनप्रतिमा**—इस प्रतिमा मे श्रावक किसी भी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न रख कर शुद्ध निरतिचार, विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करता है। इसमे मिथ्यात्व-अतिचार का त्याग मुख्य है। यह प्रतिमा एक मास की होती है।

२ **व्रतप्रतिमा**—व्रती श्रावक सम्यक्त्व लाभ के पश्चात् व्रतो की साधना करता है। पाच अणुव्रत आदि व्रतो की प्रतिज्ञाओ को सम्यक् प्रकार से निभाता है। किन्तु सामायिक का यथासमय सम्यक् पालन नही कर पाता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

३ **सामायिकप्रतिमा**—इस प्रतिमा मे सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत का पालन करता है, किन्तु पर्व दिनो मे पौषधव्रत का सम्यक् पालन नही कर पाता। यह तीन मास की होती है।

४ **पौषधोपवास प्रतिमा**—पूर्वोक्त सभी नियमो के साथ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को प्रतिपूर्ण पौषध उपवास सहित करता है। यह प्रतिमा चार मास की है।

५ **कायोत्सर्गप्रतिमा**—उपर्युक्त सभी व्रतो का भली-भाति पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा मे निम्नोक्त नियमो को विशेष रूप से धारण करना होता है—

१ स्नान नही करना।
२ रात्रि मे चारो प्रकार के आहार का त्याग करना।
३ धोती की लाग खुली रखना।
४ दिन मे ब्रह्मचर्य का पालन करना।
५ रात्रि मे मैथुन का परिमाण रखना।

इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक या दो अथवा तीन दिन, उत्कृष्ट पाच महीने तक किया जाता है। इसे नियमप्रतिमा भी कहा जाता है।

६ **ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। इस प्रतिमा की कालमर्यादा जघन्य एक रात्रि और उत्कृष्ट छह मास की है।

७ **सचित्तत्यागप्रतिमा**—सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि और उत्कृष्ट सात मास की होती है।

८ **आरभत्यागप्रतिमा**—इस प्रतिमा मे स्वय आरभ नही करता, छह काय के जीवो की दया पालता है। इसकी कालमर्यादा जघन्य एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास की है।

९ **प्रेष्यत्यागप्रतिमा**—इस प्रतिमा मे दूसरो के द्वारा आरम्भ कराने का भी त्याग होता है। वह स्वय आरम्भ नही करता, न दूसरो से करवाता है किन्तु अनुमोदन का उसे त्याग नहा होता है। काल जघन्य एक, दो, तीन दिन है और उत्कृष्ट काल नौ मास है।

१० **उद्दिष्टभक्तत्यागप्रतिमा**—इस प्रतिमा मे अपने निमित्त बनाया हुआ भोजन ग्रहण नही किया जाता है, उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग होता है। उस्तरे से सर्वथा शिरोमुण्डन करना होता है। गृह सम्बन्धी विषयो के पूछे जाने पर यदि जानता है तो 'जानता हूँ' और नही जानता है तो 'नही जानता हूँ' इतना मात्र कहे। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की, उत्कृष्ट दस मास की होती है।

११ **श्रमणभूतप्रतिमा**—इस प्रतिमा का धारक श्रावक श्रमण तो नही किन्तु श्रमण सदृश होता है। साधु के समान वेश धारण करके और साधु के योग्य ही भाण्डोपकरण रखकर विचरता

है। शक्ति हो तो केशलुञ्चन करता है, अन्यथा उस्तरे से शिरोमुण्डन कराता है। इसका काल जघन्य एक अहोरात्र अर्थात् एक दिन-रात और उत्कृष्ट ग्यारह मास होता है।

उपासक का प्रचलित अर्थ श्रावक है और प्रतिमा का अर्थ—प्रतिज्ञा—अभिग्रह है। उपासक की प्रतिमा उपासकप्रतिमा कहलाती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्रावक की प्रतिमाओ के काल-मान मे कुछ मतभेद है। कुछ आचार्य इनका काल एक, दो, तीन यावत् ग्यारह मास का मानते है। जघन्य एक, दो, तीन दिवस आदि नही मानते।

वारह भिक्षुप्रतिमा—

वाहर भिक्षुप्रतिमाओ का यथाशक्ति आचरण न करना, उन पर श्रद्धा न करना तथा उनकी अन्यथा प्ररूपणा करना अतिचार है।

१ प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। साधु के पात्र मे दाता द्वारा दिए जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड वनी रहे तब तक वह एक दत्ति है। धारा खण्डित होने पर दत्ति की समाप्ति हो जाती है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन वना हो वही से लेना चाहिये, किन्तु जहाँ दो, तीन आदि से अधिक व्यक्तियो के लिये भोजन वना हो वहाँ से नही लेना चाहिये। यह पहली प्रतिमा एक मास की है।

२ से ७ दूसरी से सातवी प्रतिमा तक का समय एक-एक मास का है। इनमे क्रमश एक-एक दत्ति वढती जाती है। दो दत्ति दूसरी प्रतिमा मे आहार की, दो दत्ति पानी की लेना। इसी प्रकार तीसरी, चौथी यावत् सातवी प्रतिमा मे क्रमश तीन, चार, पाच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण की जाती है।

८ आठवी प्रतिमा सप्त अहोरात्र की होती है। इसमे चौविहार एकान्तर उपवास करना होता है। गाँव के वाहर उत्तानासन (चित्त सोना) पार्श्वासन (एक करवट लेना) तथा निषद्यासन (पैरो को बराबर करके वैठना) से ध्यान लगाना चाहिये। उपसर्ग आये तो शान्त चित्त से सहन करना चाहिये।

९ यह प्रतिमा भी सात अहोरात्र की है। इसमे चौविहार षष्ठभक्त तप (बेले-बेले पारणा) किया जाता है। गाँव के वाहर एकान्त स्थान मे दण्डासन, लगडासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है।

१० यह भी सप्त अहोरात्र की होती है। इसमे चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर गोदोहासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है।

११ यह प्रतिमा एक अहोरात्र की होती है। एक दिन और एक रात तक इसकी साधना की जाती है। चौविहार बेले के द्वारा इसकी आराधना होती है। गाँव के वाहर कायोत्सर्ग किया जाता है।

१२ यह प्रतिमा केवल एक रात्रि की है। इसका आराधन बेले को चढाकर चौविहार तेला करके किया जाता है। गाँव के वाहर खडे होकर, मस्तक को थोडा-सा झुकाकर किसी एक पुद्गल

पर दृष्टि रखकर निर्निमेष नेत्रो से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। देव, मनुष्य एव तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग आने पर उन्हे समभाव से सहन किया जाता है। उपसर्ग से चलायमान नही होना चाहिये। यदि उपसर्ग से चलायमान हो जाय तो पागल अर्थात् बावला बने या दीर्घ-कालिक रोग उत्पन्न हो जाय। यदि स्थिर रहे तो अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान तक प्राप्त करता है।

तेरह क्रियास्थान

क्रिया का अर्थ यहाँ कार्य है। इसके तेरह प्रकार निम्नलिखित है—

१ **अर्थ-क्रिया**—अपने किसी प्रयोजन के लिये जीवो की हिसा करना, कराना या अनुमोदना करना अर्थ-क्रिया है।

२ **अनर्थ-क्रिया**—बिना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला पाप कर्म अनर्थ-क्रिया कहलाता है।

३. **हिसा-क्रिया**—अमुक व्यक्ति मुझे अथवा मेरे स्नेहियो को कष्ट देता है, देगा अथवा उसने दिया है, यह सोचकर किसी प्राणी की हिसा करना।

४ **अकस्मात्-क्रिया**—शीघ्रतावश बिना जाने हो जाने वाला पाप अकस्मात्-क्रिया है।

५ **दृष्टिविपर्याय-क्रिया**—मतिभ्रम से होने वाला पाप यथा—चोरादि के भ्रम मे साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड दे देना।

६ **मृषा-क्रिया**—झूठ बोलना।

७ **अदत्तादान-क्रिया**—चोरी करना।

८ **अध्यात्म-क्रिया**—बाह्य निमित्त के बिना मन मे होने वाला शोक आदि।

९ **मान-क्रिया**—अपनी प्रशसा करना, घमण्ड करना।

१० **मित्र-क्रिया**—प्रियजनो को कठोर दण्ड देना।

११ **माया-क्रिया**—दम्भ करना।

१२ **लोभ-क्रिया**—लोभ करना।

१३ **ईर्यापथिकी-क्रिया**—अप्रमत्त विवेकी सयमी को गमनागमन के निमित्त से लगने वाली क्रिया।

चौदह भूतग्राम—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय, इन सातो के पर्याप्त और अपर्याप्त यो कुल चौदह भेद होते है। इनकी विराधना करना, इन्हे किसी भी प्रकार की पीडा देना अतिचार है।

विवेचन—जैनागमो मे सूक्ष्म रूप से अहिसा का पालन करने के लिए एव हिसा से बचने के लिए अनेक आधारो से जीवो के भेद-प्रभेदो का उल्लेख किया गया है, क्योकि जीव की भली-भाति पहिचान हुए बिना उसकी हिसा से बचा नही सकता। प्रस्तुत मे जीवो के चौदह ग्रामो-समूहो का उल्लेख किया गया है, जिनमे समस्त जागतिक जीवो का समावेश हो जाता है।

सूक्ष्म जीव वे कहलाते हे जो समस्त लोकाकाश मे व्याप्त हे किन्तु चर्म-चक्षुओ से दृष्टि-गोचर नही होते। वे इतने सूक्ष्म होते है कि मारने से मरते नही और काटने से कटते नही है। वे सूक्ष्मनामकर्म के उदय वाले प्राणी हे और सब एकेन्द्रिय स्थावर ही होते हे। ध्यान रहे कि कुथुवा जैसे छोटे शरीर वाले जीवो की इन सूक्ष्म जीवो मे गिनती नही है। कुथुवा आदि जीव बादरनाम-कर्म के उदय वाले है, अतएव उनकी गणना बादर-त्रस जीवो मे होती है।

पर्याप्ति का अभिप्राय हे जीव की शक्ति की पूर्णता। जीव जब नवीन जन्म ग्रहण करता हे तब उस नूतन शरीर, इन्द्रिय आदि के निर्माण के लिये उपयोगी पुद्गलो की आवश्यकता होती है। उन पुद्गलो को ग्रहण करके शरीर, इन्द्रिय, भाषा आदि के रूप मे परिणत करने की शक्ति की परिपूर्णता ही पर्याप्ति कहलाती हे। यह परिपूर्णता प्राप्त कर लेने वाले जीव पर्याप्त कहलाते हैं और जब तक वह शक्ति पूरी नही होती तब तक वे अपर्याप्त कहलाते हे। एकेन्द्रिय जीवो मे चार, द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रियो तक मे पाच और सज्ञी-समनस्क प्राणियो मे छह पर्याप्तिया होती है। जिस जीव मे जितनी पर्याप्तिया सभव है, उनकी पूर्ति एक अन्तर्मुहूर्त काल मे ही हो जाती है।

पद्रह परमाधार्मिक

१ अम्व, २ अम्वरीप, ३ श्याम, ४ शवल, ५ रौद्र, ६ उपरौद्र, ७ काल, ८ महा-काल, ९ असिपत्र, १० धनु, ११ कुम्भ, १२ वालुक, १३ वैतरणि, १४ खरस्वर, १५ महाघोप।

ये परम अधार्मिक, पापाचारी, क्रूर एव निर्दय असुर जाति के देव है। नारकीय जीवो को व्यर्थ ही, केवल मनोविनोद के लिए यातना देते है। इनका विशेष परिचय इस प्रकार है—

१ **अम्ब**—नारक जीवो को आकाश मे ले जाकर नीचे पटकने वाले, गर्दन पकडकर गड्ढे मे गिराने वाले, उल्टे मु ह आकाश मे उछाल कर गिरते समय बर्छी आदि भौकने वाले।

२ **अम्बरीष**—नैरयिको को मुद्गर आदि से कूट कर, करोत, कैंची आदि से टुकडे-टुकडे कर अधमरे कर देने वाले।

३ **श्याम**—कोडा आदि से पीटने वाले, हाथ-पैर आदि अवयवो को बुरी तरह काटने वाले, शूल—सुई आदि से बीधने वाले आदि।

४ **शबल**—मुद्गर आदि द्वारा नारकियो की हड्डी के जोडो को चूर-चूर करने वाले।

५ **रौद्र**—नरकस्थ जीवो को खूब ऊचे उछाल कर गिरते समय तलवार, भाले आदि मे पिरोने वाले।

६ **उपरौद्र**—नारकीय जीवो के हाथ-पैर तोडने वाले।

७ **काल**—कु भी आदि मे पकाने वाले।

८ **महाकाल**—पूर्वजन्म के मासाहारी जीवो को उन्ही की पीठ आदि का मास काट-काट कर खिलाने वाले।

९ **असिपत्र**—तलवार जैसे तीखे पत्तो के वन की विकुर्वणा करके उस वन मे छाया की

इच्छा से आये हुए नारकी जीवो को वैक्रिय वायु द्वारा तलवार की धार जैसे तीखे पत्ते गिराकर छिन्न-भिन्न करने वाले ।

१० **धनुष**—धनुष से छेदने वाले ।

११ **कुम्भ**—ऊटनी आदि के आकार वाली कु भियो मे पकाने वाले ।

१२ **बालुक**—वज्रमय तप्त वालुका मे चनो के समान तडतडाहट करते हुए नारकी जीवो को भूनने वाले ।

१३ **वैतरणी**—अत्यन्त दुर्गन्ध वाली राध—लोहू से भरी हुई एव तपे हुए जस्ता और कथीर की उकलती हुई, अत्यन्त क्षार से युक्त उष्ण पानी से भरी हुई वैतरणी नदी की विकुर्वणा करके उसमे नरक के जीवो को डालकर अनेक प्रकार से पीडित करने वाले ।

१४ **खरस्वर**—तीखे वज्रमय काटे वाले ऊचे-ऊचे शाल्मली वृक्षो पर चढाकर चिल्लाते हुए नारकी जीवो को खीचने वाले, मस्तक पर करोत रखकर चीरने वाले ।

१५ **महाघोष**—अत्यन्त वेदना के डर से मृगो की तरह इधर-उधर भागते हुए नारक जीवो को बाडे मे पशुओ की तरह घोर-गर्जना करके रोकने वाले । इनके द्वारा होने वाले पाप की अनुमोदना आदि से जो अतिचार लगा हो, तो मै उससे निवृत्त होता हूँ ।

गाथा षोडशक

सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन इस प्रकार है—

१ स्वसमय-परसमय, २ वैतालीय, ३ उपसर्ग-परिज्ञा, ४ स्त्री-परिज्ञा, ५ नरकविभक्ति, ६ वीर-स्तुति, ७ कुशील-परिभाषा, ८ वीर्य, ९ धर्म, १० समाधि, ११ मोक्षमार्ग, १२ समवसरण, १३ यथातथ्य, १४ ग्रन्थ, १५ आदानीय, १६ गाथा ।

इनकी श्रद्धा या प्ररूपणा मे लगे अतिचारो का प्रतिक्रमण करता हूँ ।

सत्तरह असयम

१-९ पृथिवीकाय, अप्‌काय, तेजस्काय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो की हिसा करना, कराना, अनुमोदन करना ।

१० **अजीव-असयम**—अजीव होने पर भी जिन वस्तुओ के द्वारा असयम होता है, उन बहुमूल्य वस्त्रपात्र आदि का ग्रहण करना अजीव-असयम है ।

११ **प्रेक्षा-असयम**—जीव-सहित स्थान मे उठना-बैठना आदि ।

१२ **उत्प्रेक्षा-असयम**—गृहस्थो के पापकर्मो का अनुमोदन करना ।

१३ **प्रमार्जन-असयम**—वस्त्र-पात्र आदि का प्रमार्जन न करना ।

१४ **परिष्ठापनिका-असयम**—अविधि से परठना ।

१५ **मन-असयम**—मन मे दुर्भाव रखना ।

१६ **वचन-असयम**—मिथ्या, कटु, कठोर, पीडाकारी वचन बोलना ।

१७ **काय-असयम**—गमनागमनादि कायिक क्रियाओ मे असावधान रहना ।

ये सत्तरह असयम समवायागसूत्र मे कहे गये है। आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक मे 'असजमे' के स्थान मे 'सजमे' का उल्लेख किया है। सजमे का अर्थ सयम है। सयम के भी उपर्युक्त ही पृथ्वीकायसयम आदि सत्तरह भेद है।

किसी भी असयम का आचरण किया हो, सयम का आचरण न किया हो अथवा इनकी विपरीत श्रद्धा प्ररूपणा की हो तो तम्स मिच्छा मि दुक्कड।

अठारह अब्रह्मचर्य

देव सम्बन्धी भोगो का मन, वचन और काय से स्वय सेवन करना, अन्य से सेवन कराना तथा सेवन करते हुए का अनुमोदन करना। इस प्रकार नौ भेद वैक्रिय शरीर सम्वन्धी नथा मनुष्य एव तिर्यञ्च सम्वन्धी ओदारिक भोगो के भी इसी तरह नौ भेद समझ लेने चाहिये। कुल भेद मिलाकर अठारह होते हे।

ज्ञाताधर्म-कथा के १९ अध्ययन

१ मेघकुमार (उत्क्षिप्त), २ धन्ना सार्थबाह (सघाट), ३ मयूराण्ड, ४ कूर्म, ५ शैलक, ६ तुम्बलेप, ७ रोहिणी, ८ मल्ली, ९ माकन्दी, १० चन्द्र, ११ दावदववृक्ष, १२ उदक, १३ मण्डूक, १४ तेतलिप्रधान, १५ नन्दीफल, १६ अवरकका, १७ आकीर्णक, १८ सुसुमा, १९ पुण्डरीक।

उक्त उन्नीस उदाहरणो के भावानुसार साधुधर्म की साधना न करना अतिचार है।

बीस असमाधिस्थान

चित्त की एकाग्रतापूर्वक मोक्षमार्ग मे स्थित होने को समाधि कहते है। इसके विपरीत असमाधि है। असमाधि के वीस स्थान निम्नलिखित है—

१ दवदव—जल्दी-जल्दी चलना।
२ विना पूजे चलना।
३ बिना उपयोग के प्रमार्जन करना।
४ अमर्यादित शय्या और आसन रखना।
५ गुरुजनो का अपमान करना।
६ स्थविरो की अवहेलना करना।
७ भूत पघात—जीवो के घात का चिन्तन करना।
८ क्षण-क्षण मे क्रोध करना।
९ परोक्ष मे अवर्णवाद करना।
१० शकित विपय मे बार-बार निश्चयपूर्वक बोलना।
११ नित्य नया कलह करना।
१२ शान्त हुए कलह को पुन उत्तेजित करना।
१३ अकाल मे स्वाध्याय करना।
१४ सचित्त रज-सहित हाथ आदि से भिक्षा लेना।
१५ प्रहर रात बीतने के बाद जोर से बोलना।

१६ गच्छ आदि मे छेद-भेद, फूट-अनेकता करना ।
१७ गण को दु ख उत्पन्न हो, ऐसी भाषा बोलना ।
१८ हरएक के साथ विरोध करना ।
१९ दिन भर कुछ न कुछ खाते-पीते रहना ।
२० अनेषणीय आहार आदि का सेवन करना ।

इक्कीस शबलदोष

शबल दोष साधु के लिये सर्वथा त्याज्य है । जिन कार्यों के करने से चारित्र कर्बु र (शवल) अर्थात् मलीन होकर नष्ट हो जाता है, उन्हे शबलदोष कहते है । वे इस प्रकार ह—

१ हस्तकर्म करना ।
२ मैथुन—अतिक्रम, व्यतिक्रम एव अतिचार रूप से मैथुन सेवन करना ।
३ रात्रिभोजन करना ।
४ आधाकर्म—साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन लेना ।
५ राजपिण्ड लेना ।

६ औद्दे शिक—साधु के निमित्त अथवा खरीदा हुआ, स्थान पर सामने लाकर दिया हुआ, उधार लाया हुआ आदि भोजन वगैरह लेना ।

७ बार-बार प्रत्याख्यान भग करना ।
८ छह मास के अन्दर गण से गणान्तर मे जाना ।
९ एक महीने मे तीन बार उदक का लेप लगाना । (नदी आदि मे उतरना)
१० एक मास मे तीन बार मातृस्थान (माया का) सेवन करना ।
११ शय्यातरपिड का सेवन करना ।
१२ जान-बूझकर हिसा करना ।
१३ जान-बूझकर झूठ बोलना ।
१४ जान-बूझकर चोरी करना ।
१५ जान-बूझकर सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सचित्त शिला पर सोना आदि ।
१६ जीव सहित पीठ फलक आदि का सेवन करना ।
१७ जान-बूझकर कन्द-मूल, छाल, प्रवाल, पुष्प, फूल, बीज आदि का भोजन करना ।
१८ एक वर्ष मे दश उदक-लेप (सचित्त जल का लेप) लगाना ।
१९ वर्ष मे दस बार माया-स्थानो का सेवन करना ।

२० जान-बूझकर सचित्त जल वाले हाथ से तथा सचित्त जल-सहित कुडछी आदि से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना ।

२१ जान-बूझकर जीवो वाले स्थान पर, बीज, हरित, कीडीनगरा, लीलन-फूलन, कीचड एव मकडी के जालो वाले स्थान पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग करना ।

बाईस परिषह

क्षुधा आदि किसी भी कारण से कष्ट उपस्थित होने पर सयम मे स्थिर रहने के लिए तथा

कर्मो की निर्जरा के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट साधु को सहन करने चाहिये, वे परिषह है, क्योकि साधु-जीवन सुखशीलता का जीवन नही है। वह आरामतलवी से विमुख होकर आत्मा की पूर्ण निर्मलता के लिए जूझने का जीवन है। श्री समवायाग एव उत्तराध्ययन मे २२ परिषहो का वर्णन हे। इन पर विजय पाना—समभाव से सहना चाहिए। विवरण इस प्रकार हे—

१ क्षुधा—भूख का कष्ट सहन करना।
२ पिपासा—निर्दोष पानी नही मिलने पर प्यास का कष्ट सहन करना।
३ शीत—अल्प वस्त्रो के कारण भयकर ठड का कष्ट सहना।
४ उष्ण—गर्मी का कष्ट सहना।
५ दशमशक—डास-मच्छर-खटमल आदि जतुओ का कष्ट सहना।
६ अचेल—वस्त्रो के नही मिलने पर होने वाला कष्ट सहना।
७ अरति—कठिनाइयो से घबराकर सयम के प्रति होने वाली अरुचि का निवारण करना।
८ स्त्रीपरिपह—नारीजन्य प्रलोभन पर विजय पाना। यह अनुकूल परिषह है।
९ चर्यापरिपह—विहार-यात्रा मे होने वाला गमनादि कष्ट सहना।
१० निपद्या—स्वाध्याय-भूमि आदि मे होने वाले उपद्रव को सहन करना।
११ शय्या—अनुकूल मकान नही मिलने पर होने वाले कष्ट को सहना।
१२ आक्रोश—कोई गाली दे, धमकाये या अपमानित करे तो समभाव रखना।
१३ वध—समभाव से लकडी आदि की मार सहना।
१४ याचना—मागने पर कोई तिरस्कार कर दे तो भी क्षुब्ध न होना।
१५ अलाभ—याचना करने पर भी वस्तु नही मिले तो खेद न करना।
१६ रोग—रोग उत्पन्न होने पर धैर्यपूर्वक सहन करना।
१७ तृणस्पर्श—काटा आदि चुभने पर या तृण पर सोने से होने वाले कष्ट को सहना।
१८ जल्ल—शारीरिक मल का परिपह सहन करना।
१९ सत्कार—पूजाप्रतिष्ठा प्राप्त होने पर अहकार न करना, न प्राप्त हौने पर खेद न करना।
२० प्रज्ञा—बुद्धि का गर्व नही करना।
२१ अज्ञान—बुद्धिहीनता का दु ख समभाव से सहन करना।
२२ दर्शन—दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व को भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मतो के मोहक वातावरण से प्रभावित न होना।

सूत्रकृतागसूत्र के २३ अध्ययन

प्रथम श्रुतस्कन्ध के पूर्वोक्त सोलह अध्ययन एव द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन—(१७) पुण्डरीक, (१८) क्रियास्थान, (१९) आहारपरिज्ञा, (२०) प्रत्याख्यानक्रिया, (२१) आचारश्रुत, (१२) आर्द्र कुमार, (२३) नालन्दीय, मिलकर तेईस अध्ययन होते है।

उक्त तेईस अध्ययनो के कथनानुसार सयमी जीवन न होना, अतिचार है।

चौवीस देव

असुरकुमार आदि दश भवनपति, भूत, यक्ष आदि आठ व्यन्तर, सूर्य, चन्द्र आदि पाच ज्योतिष्क और वैमानिक देव, इस प्रकार कुल चौवीस जाति के देव है। ससार मे भोग-जीवन के ये सबसे बडे प्रतिनिधि है। इनकी प्रशसा करना भोगमय जीवन की प्रशसा करना है और निन्दा करना द्वेष भाव है। अत मुमुक्षु को तटस्थ भाव ही रखना चाहिये। यदि कभी तटस्थता का भग किया हो तो अतिचार है।

उत्तराध्ययनसूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शान्तिसूरि यहा देव शब्द से चौवीस तीर्थंकर देवो का भी ग्रहण करते है। इस अर्थ के मानने पर अतिचार होगा कि—उनके प्रति आदर या श्रद्धाभाव न रखना, उनकी आज्ञानुसार न चलना आदि।

पाच मह ो की पच्चीस भावनाएँ

महाव्रतो का शुद्ध पालन करने के लिए शास्त्रो मे प्रत्येक महाव्रत की पाच-पाच भावनाएँ बतलाई गयी है। भावनाओ का स्वरूप बहुत ही हृदयग्राही एव जीवन-स्पर्शी है। श्रमणधर्म का शुद्ध पालन करने के लिए भावनाओ पर अवश्य ही लक्ष्य देना चाहिये।

अहिसा-महाव्रत की पाच भावनाएँ—

१ ईर्यासमिति—उपयोगपूर्वक गमनागमन करना।
२ आलोकितपानभोजन—देख-भालकर प्रकाशयुक्त स्थान मे आहार करना।
३ आदाननिक्षेपसमिति—विवेकपूर्वक पात्रादि उठाना तथा रखना।
४ मनोगुप्ति—मन का सयम।
५ वचनगुप्ति—वाणी का सयम।

सत्य-महाव्रत की पाच भावनाएँ—

१ विचार कर बोलना, २ क्रोध का त्याग, ३ लोभ का त्याग, ४ भय का त्याग, ५ हसी-मजाक का त्याग।

अस्तेय-महाव्रत की पाच भावनाएँ—

१ अठारह प्रकार के शुद्ध स्थान की याचना करके सेवन करना।
२ प्रतिदिन तृण-काष्ठादि का अवग्रह लेना।
३ पीठ-फलक आदि के लिए भी वृक्षादि को नही काटना।
४ साधारण पिण्ड का अधिक सेवन नही करना।
५ साधु की वैयावृत्य करना।

ब्रह्मचर्य-महाव्रत की पाच भावनाएँ—

१ स्त्री-पशु-नपुसक के सान्निध्य से रहित स्थान मे रहना।
२ स्त्री-कथा का वर्जन करना।
३ स्त्रियो के अगोपागो का अवलोकन नही करना।
४ पूर्वकृत कामभोग का स्मरण नही करना।

५ प्रतिदिन सरस भोजन न करना।

अपरिग्रह-महाव्रत की पाच भावनाएँ—

१—५ पाचो इन्द्रियो के विषय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के इन्द्रिय-गोचर होने पर मनोज्ञ पर राग-भाव तथा अमनोज्ञ पर द्वेप-भाव न लाकर उदासीन भाव रखना।

दशाश्रुत आदि सूत्रत्रयो के २६ उद्देशन काल

दशाश्रुनस्कन्ध के दस, बृहत्कल्प के छह और व्यवहारसूत्र के दस, इन छब्बीस अध्ययनो के पठनकाल मे व्यतिक्रम करने से एव उनके अनुसार आचरण न करने से अतिचार होता है।

सत्ताईस अनगार के गुण

सत्ताईस अनगार के गुणो का शास्त्रानुसार भलीभाति पालन न करना अतिचार है। उसकी शुद्धि के लिए मुनि-गुणो का प्रतिक्रमण हे।

१—५ अहिमा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह रूप पाच महाव्रतो का सम्यक् पालन करना, ६ रात्रिभोजन का त्याग करना, ७-११ पाचो इन्द्रियो को वश मे रखना, १२ भावसत्य—अन्त करण की शुद्धि, १३ करणसत्य—वस्त्र, पात्र आदि की भली-भाति प्रतिलेखना करना, १४ क्षमा, १५ वीतरागता—वेराग्य, १६ मन की शुभ प्रवृत्ति, १७ वचन की शुभ प्रवृत्ति, १८ काय की शुभ प्रवृत्ति, १९—२४ छह काय के जीवो की रक्षा, २५ चारित्र से युक्तता, २६ शीत आदि वेदना का सहना और, २७ मारणान्तिक उपसर्ग को भी समभाव से सहना।

उपर्युक्त सत्ताईस गुण, आचार्य हरिभद्र ने अपनी आवश्यकसूत्र की शिष्यहिता टीका मे सग्रहणीकार की एक प्राचीन गाथा के अनुसार वर्णन किए हे। परन्तु समवायागसूत्र मे मुनि के सत्ताईस गुण कुछ भिन्न रूप से अकित है—पाच महाव्रत, पाच इन्द्रियो का निरोध, चार कषायो का त्याग, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, विरागता, मन समाहरणता, वचनसमाहरणता, कायसमाहरणता, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनातिसहनता, मारणान्तिकातिसहनता।

अट्ठाईस आचारप्रकल्प

आचारप्रकल्प की व्याख्या के सम्वन्ध मे विभिन्न मान्यताएँ है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आचार को ही आचार-प्रकल्प कहते है—**'आचार एव आचारप्रकल्प ।'**

आचार का अर्थ प्रथम अगसूत्र है। उसका प्रकल्प अर्थात् अध्ययन-विशेष। निशीथसूत्र आचारप्रकल्प कहलाता है। अथवा ज्ञानादि साधु-आचार का प्रकल्प अर्थात् व्यवस्थापन आचार-प्रकल्प कहा जाता है।

'आचार प्रथमाङ्ग तस्य प्रकल्प अध्ययनविशेषो निशीथमित्यपराभिधानम्। ारस्य वा साध्वाचारस्य ज्ञानादिविषयस्य प्रकल्पो व्यवस्थापनमिति आचारप्रकल्प ।'

—अभयदेव-समवायागसूत्र टीका

आचारागसूत्र के शस्त्रपरिज्ञा आदि २५ अध्ययन है और निशीथसूत्र भी आचारागसूत्र की चूलिका स्वरूप माना जाता है, अत उसके तीन अध्ययन मिलकर आचारागसूत्र के अट्ठाईस अध्ययन होते है—

१ शस्त्रपरिज्ञा, २ लोक-विजय, ३ शीतोष्णीय, ४ सम्यक्त्व, ५ लोकसार, ६ धूताध्ययन, ७ महापरिज्ञा, ८ विमोक्ष, ९ उपधानश्रुत, १० पिण्डैषणा, ११ शय्या, १२ ईर्याध्ययन, १३ भाषा, १४ वस्त्रैषणा, १५ पात्रैषणा, १६ अवग्रहप्रतिमा, १७ सप्त स्थानादि सप्तैकिकाध्ययन, १८ नैषधिकी सप्तैकिकाध्ययन, १९ उच्चारप्रस्रवणसप्तैकिकाध्ययन, २० शब्दसप्तैकिकाध्ययन, २१ रूपसप्तैकिकाध्ययन, २२ परक्रियासप्तैकिकाध्ययन, २३ अन्योन्यक्रियासप्तैकिकाध्ययन, २४ भावना, २५ विमुक्ति, २६ उद्घात, २७ अनुद्घात, २८ आरोपण ।

समवायागसूत्र के अनुसार आचारप्रकल्प के अट्ठाईस भेद इस प्रकार है—

१ एक मास का प्रायश्चित्त, २ एक मास पाच दिन का प्रायश्चित्त, ३ एक मास दस दिन का प्रायश्चित्त । इसी प्रकार पाच दिन बढाते हुए पाच मास तक कहना चाहिये । (इस प्रकार २५ हुए) २६ उपद्घात-अनुपद्घात, २७ आरोपण, २८ कृत्स्नाकृत्स्न । इन अट्ठाईस अध्ययनो की श्रद्धा, प्ररूपणा आदि मे कोई अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

पापश्रुत के २९ भेद

जो आत्मा को दुर्गति मे डालने का कारण हो, उसे 'पाप' कहते है और जो गुरुमुख से सुना जाय उसे 'श्रुत' कहते है । इस प्रकार पापरूप श्रुत को 'पापश्रुत' कहते है । वह मुख्यत उनतीस प्रकार का है—

१ उत्पात—अपने आप होने वाली रुधिर आदि की वृष्टि का शुभाशुभ फल बताने वाला निमित्तशास्त्र ।

२ भौम—भूमिकम्प आदि का फल बताने वाला शास्त्र ।

३ स्वप्नशास्त्र—स्वप्न का शुभाशुभ फल बतलाने वाला शास्त्र ।

४ अन्तरिक्षशास्त्र—आकाश मे होने वाले ग्रहयुद्ध आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र ।

५ अगशास्त्र—शरीर के विभिन्न अगो के फडकने का फल कहने वाला शास्त्र ।

६ स्वरशास्त्र—जीवो के चन्द्रस्वर, सूर्यस्वर आदि स्वर का फल प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ।

७ व्यञ्जनशास्त्र—तिल, मषा आदि के फल का वर्णन करने वाला शास्त्र ।

८ लक्षणशास्त्र—स्त्री और पुरुषो के लक्षणो (मान, उन्मान, प्रमाण आदि) का शुभाशुभ फल कहने वाला शास्त्र ।

ये आठो ही सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से चौवीस हो जाते है ।

२५ विकथानुयोग—अर्थ और काम के उपायो को बताने वाले शास्त्र । जैसे वात्स्यायनकृत कामसूत्र आदि ।

२६ विद्यानुयोग—रोहिणी आदि विद्याओ की सिद्धि के उपाय बताने वाले शास्त्र ।

२७ मन्त्रानुयोग—मन्त्र आदि के द्वारा कार्यसिद्धि बताने वाला शास्त्र ।

२८ योगानुयोग—वशीकरण आदि योग बताने वाले शास्त्र ।

२९ अन्यतीर्थिकानुयोग—अन्य तीर्थिको द्वारा प्रवर्तित एव अभिमत हिसा प्रधान आचार-शास्त्र आदि ।

—समवायागसूत्र

है। कही धन का मोह है तो कही पुत्र का, कही स्त्री का मोह है तो कही वस्त्राभूषणो का। मोह-ममत्व बाहर मे दिखाई देने वाली चीज नही है कि जिसे हाथ मे लेकर बताया जा सके। ये तो एक प्रकार के भाव है। जब कर्मबन्ध होता है चाहे वह मोहनीय का हो, चाहे अन्य कर्मो का, तब आत्मा के साथ अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाओ का होता है। उनकी अनेक पर्याये है, न्यूनाधिक अवस्थाएँ है। मोह बहुरूपिया है। वह अनेक रूपो मे आता है। इन्द्रजाल भी उसके सामने तुच्छ है। उसके सामने रावण की बहुरूपिणी या बहुसारिणी विद्या भी नगण्य है। मोह को पहचानना बडा कठिन है। महामोहनीय कर्म की स्थिति भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट ७० करोडा-करोड सागरोपम की है, जो सब कर्मो की स्थिति से अधिक है। यहाँ महामोहनीय कर्म के बंध के मुख्य तीस स्थान अर्थात् कारण प्ररूपित किए गए है।

इन तीस महामोहनीय के कारणो मे से किसी भी कारण से जो कोई अतिचार किया गया हो तो मै उससे निवृत्त होता हूँ।

सिद्धो के ३१ गुण

आदिकाल अर्थात् सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के प्रथम समय से ही सिद्धो मे रहने वाले गुणो को सिद्धादिगुण कहते है। आठ कर्मो की इकतीस प्रकृतियाँ नष्ट होने से ये गुण प्रकट होते है। वे इकतीस गुण निम्नलिखित है—

१ ज्ञानावरणीय-कर्म की पाच प्रकृति नष्ट होने के कारण—

१ क्षीणमतिज्ञानावरण
२ क्षीणश्रुतज्ञानावरण
३ क्षीणअवधिज्ञानावरण
४ क्षीणमन पर्यवज्ञानावरण
५ क्षीणकेवलज्ञानावरण

२ दर्शनावरणीय-कर्म की नौ प्रकृतियो के क्षय से—

१ क्षीणचक्षुदर्शनावरण
२ क्षीणअचक्षुदर्शनावरण
३ क्षीणअवधिदर्शनावरण
४ क्षीणकेवलदर्शनावरण
५ क्षीणनिद्रा
६ क्षीणनिद्रानिद्रा
७ क्षीणप्रचला
८ क्षीणप्रचलाप्रचला
९ क्षीणस्त्यानगृद्धि

३ वेदनीय-कर्म की दो प्रकृतियो के क्षय से—

१ क्षीणसातावेदनीय
२ क्षीणअसातावेदनीय

४ मोहनीय-कर्म की दो प्रकृतियो के क्षय से—

१ क्षीणदर्शनमोहनीय
२ क्षीणचारित्रमोहनीय

५ आयु-कर्म की चार प्रकृतियो के समूल क्षय से—

१ क्षीण नैरयिकायु, २ तिर्यञ्चायु, ३ मनुष्यायु, ४ देवायु

६ नामकर्म की दो प्रकृतियो के क्षय से—

१ क्षीणशुभनाम, २ क्षीणअशुभनाम

७ गोत्र-कर्म की दो प्रकृतियो के क्षय से—

१ क्षीणउच्चगोत्र
२ क्षीणनीचगोत्र

८ अन्तराय-कर्म की पाच प्रकृतियो के क्षय से—

१ क्षीणदानान्तराय
२ क्षीणलाभान्तराय
३ क्षीणभोगान्तराय
४ क्षीणउपभोगान्तराय
५ क्षीणवीर्यान्तराय। —समवायागसूत्र

इनके विपय मे जो अतिचार किया गया हो तो मै उससे निवृत्त होता हूँ।

बत्तीस योग-सग्रह

१ गुरुजनो के समक्ष दोपो की आलोचना करना।
२ किसी के दोपो की आलोचना सुनकर किसी अन्य से न कहना।
३ आपत्ति आने पर भी धर्म मे दृढ रहना।
४ आसक्तिरहित तप करना।
५ सूत्रार्थ ग्रहण रूप ग्रहणशिक्षा एव प्रतिलेखना आदि रूप आसेवना-आचार शिक्षा का अभ्यास करना।
६ शोभा शृ गार नही करना।
७ पूजा एव प्रतिष्ठा का मोह छोडकर गुप्त तप करना।
८ लोभ का त्याग करना।
९ तितिक्षा—परिषह-उपसर्ग आदि को सहन करना।
१० शुचि—सयम एव सत्य की पवित्रता रखना।
११ आर्जव—सरलता।
१२ सम्यक्त्वशुद्धि।
१३ समाधि—प्रसन्नचित्तता।
१४ आचार-पालन मे माया नही करना।

१५ विनय—अरिहन्तादि सम्बन्धी दश प्रकार का विनय करना।
१६ धैर्य—अनुकूल प्रतिकूल परिषह आने पर धैर्य रखना।
१७ सवेग—सासारिक भोगो से भय अथवा मोक्षाभिलाषा होना।
१८ मायाचार न करना।
१९ सदनुष्ठान मे निरत रहना।
२० सवर—पापाश्रव को रोकना।
२१ दोषो की शुद्धि करना।
२२ काम-भोगो से विरक्ति।
२३ मूलगुणो का शुद्ध पालन।
२४ उत्तरगुणो का शुद्ध पालन।
२५ व्युत्सर्ग—शारीरिक ममता न करना।
२६ प्रमाद न करना।
२७ प्रतिक्षण सयम-यात्रा मे सावधान रहना।
२८ शुभध्यान—धर्म-शुक्लध्यान-परायण होना।
२९ मारणान्तिक वेदना होने पर भी अधीर न होना।
३० सग का परित्याग करना।
३१ कृत दोषो का प्रायश्चित्त करना।
३२ मरणपर्यन्त ज्ञानादि की आराधना करना।

विवेचन—इन बत्तीस योगसग्रहो का सम्यक् आराधन नहा होने से जो कोई अतिचार किया गया हो तो मै उससे निवृत्त होता हूँ।

मन, वचन एव काय के व्यापार को योग कहते है। योग के दो भेद है—शुभ योग एव अशुभ योग। शुभ योग मे प्रवृत्ति और अशुभ योग से निवृत्ति ही सयम है। प्रस्तुत सूत्र मे शुभ प्रवृत्ति रूप योग ही ग्राह्य है। उसी का सग्रह सयमी जीवन की पवित्रता को अक्षुण्ण बनाए रख सकता है।

"युज्यन्ते इति योगा मनोवाक्कायव्यापारा, ते चेह प्रशस्ता एव विवक्षिता।"

—आचार्य अभयदेव समवायाग टीका

तेतीस आशातना

जैनाचार्यो ने आशातना शब्द की निरुक्ति बडी सुन्दर की है। सम्यग्दर्शन आदि आध्यात्मिक गुणो की प्राप्ति को 'आय' कहते है और शातना का अर्थ है खण्डन। देव, गुरु, शास्त्र आदि का अपमान करने से सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणो की शातना—खण्डना होती है।

'आय —सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना-खण्डन निरुक्तादाशातना।'

—आचार्य अभयदेव समवायाग टीका

'आसातणाणाम नाणादिआयस्स सातणा। यकारलोप कृत्वा आशातना भवति।'

—आचार्य जिनदास, आवश्यकचूर्णि

गुरुदेव सम्बन्धी ३३ आशातनाओ का उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है। यहाँ अरिहन्तादि की तेतीस आशातनाओ का निरूपण मूल पाठ मे ही किया गया हे। उनका अर्थ इस प्रकार है—

अरिहंताण आसायणाए—सूत्रोक्त तेतीस आशातनाओ मे पहली आशातना अरिहन्तो की हे। अनन्तकाल से अन्धकार मे भटकते हुए जीवो को सत्य का प्रकाश मूलत अरिहन्त भगवान् ही दिखलाते है। वे ही धर्म का उपदेश करते ह तथा सन्मार्ग का निरूपण करते हे। अत परमोपकारी अरिहन्तो की आशातना नही करनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि भारतवर्ष मे तो अरिहन्त हे ही नही, फिर उनकी आशातना कैसे हो सकती है? समाधान है कि—'अरिहन्त की कोई सत्ता नही हे। उन्होने तो कठोर धर्म का उपदेश दिया है। वे वीतराग होते हुए भी स्वर्ण, सिहासन आदि का उपयोग क्यो करते ह?' इत्यादि दुश्चिन्तन करना अरिहन्तो की आशातना हे।

सिद्धो की आशातना—'सिद्ध कोई होता ही नही हे। जब शरीर ही नही रहा तो फिर अनन्तसुख कैसे मिल सकता है' आदि अवज्ञा करना सिद्धो की आशातना है।

आचार्य-उपाध्याय की आशातना—वह इस प्रकार है—'ये वालक हे, अकुलीन है, अल्पवुद्धि है, औरो को तो उपदेश देते पर स्वय कुछ नही करते' इत्यादि। इसी प्रकार उपाध्याय की आशातना समझनी चाहिये।

साधुओ की आशातना—'कायर जन परिवार का पालन-पोषण न कर सकने के कारण गृह त्याग कर भीख मागने का धधा अख्तियार कर लेते हे। गृहस्थो की कमाई पर गुलछर्रे उडाते हैं' इत्यादि कह कर साधुओ की निदा करना उनकी आशातना है।

साध्वियो की आशातना—स्त्री होने के कारण साध्वियो को नीचा बतलाना। उनको कलह और सघर्ष की जड कहना, इत्यादि रूप से अवहेलना करना साध्वियो की आशातना है।

श्रावक-श्राविकाओ की आशातना—जैनधर्म अतीव उदार और विराट् धर्म हे। यहा केवल अरिहन्त आदि महान् आत्माओ का ही गौरव नही है, अपितु साधारण गृहस्थ होते हुए भी जो स्त्री-पुरुष देशविरति धर्म का पालन करते है उन श्रावको एव श्राविकाओ की अवज्ञा करना भी पाप है। प्रत्येक आचार्य, उपाध्याय और साधु को भी प्रतिदिन प्रात और सायकाल प्रतिक्रमण के समय श्रावक एव श्राविकाओ के प्रति ज्ञात या अज्ञात रूप से की जाने वाली अवज्ञा के लिए पश्चात्ताप करना होता हे। 'मिच्छा मि दुक्कड' देना होता हे। जैनागमो मे श्रावक-श्राविकाओ को 'अम्मा-पियरो' से उपमित किया गया है। जैनधर्म मे गुणो को महत्त्व दिया है। वहा गुणो की पूजा होती है, न कि वेषभेद या लिग आदि के भेद से किसी को ऊचा या नीचा समझा जाता है।

देवो-देवियो की आशातना—वह इस प्रकार है—देवता तो विषय-वासना मे आसक्त, अप्रत्याख्यानी, अविरत है और शक्तिमान् होते हुए भी शासन की उन्नति नही करते है, इत्यादि। इसी प्रकार देवियो की आशातना समझना चाहिये।

इहलोक और परलोक की आशातना—इहलोक और परलोक का अभिप्राय इस प्रकार है—मनुष्य के लिए मनुष्य इहलोक है और नरक, तिर्यञ्च एव देव परलोक है। इहलोक और परलोक

की असत्य प्ररूपणा करना, पुनर्जन्म आदि न मानना, नरकादि चार गतियो के सिद्धान्त पर विश्वास न रखना इत्यादि इहलोक और परलोक की आशातना है।

प्राण-भूत आदि की आशातना—प्राण-भूत आदि शब्दो को एकार्थक माना गया है। सबका अर्थ जीव है। आचार्य जिनदास कहते है—'एगट्ठिता व एते।' परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर और आचार्य हरिभद्र आदि ने उक्त शब्दो के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किए है। द्वीन्द्रिय आदि जीवो को प्राण और पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवो को भूत कहा जाता है। समस्त ससारी प्राणियो के लिए जीव और ससारी तथा मुक्त सब अनन्तानन्त जीवो के लिए सत्त्व शब्द का व्यवहार होता है—

प्राणिन. द्वीन्द्रियादय । भूतानि पृथ्व्यादय ।
जीवन्ति जीवा-आयुःकर्मानुभवयुक्ता सर्व एव ।
सत्त्वा —सासारिक-ससारातीतभेदा ।"

—आवश्यक-शिष्यहिता टीका

विश्व के समस्त अनन्तानन्त जीवो की आशातना का यह सूत्र बडा ही महत्त्वपूर्ण है। जैनधर्म की करुणा का अनन्त प्रवाह केवल परिचित और स्नेही जीवो तक ही सीमित नही है। अपितु समस्त जीव-राशि से क्षमा मागने का महान् आदर्श है। प्राणी निकट हो या दूर, स्थूल हो या सूक्ष्म, ज्ञात हो या अज्ञात, शत्रु हो या मित्र, किसी भी रूप मे हो, उसकी आशातना एव अवहेलना करना साधक के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

केवलिप्ररूपित धर्म की आशातना—साधक केवली होने से पूर्व ही पूर्ण वीतराग हो जाते है। अतएव वीतराग एव सर्वज्ञ होने के कारण उनके द्वारा प्ररूपित धर्म सर्वहितकारी एव सत्य ही होता है। फिर भी उनके द्वारा प्ररूपित धर्म का अवर्णवाद करना केवलिप्ररूपितधर्म का अवर्णवाद है। इसी प्रकार देवो, मनुष्यो और असुरो सहित लोक की असत्य प्ररूपणा रूप आशातना से निवृत्त होता हूँ।

काल की आशातना—'वर्तनालक्षण काल नही है' इस प्रकार की अथवा 'काल ही सब कुछ करता, है जीवो को पचाता है, उनका सहार करता है और ससार के सोये रहने पर भी जागता है, अत काल दुर्निवार है,'[1] इस प्रकार काल को एकान्त कर्ता मानने रूप आशातना से निवृत्त होता हूँ।

भगवान् महावीर के मुख-चन्द्र से निस्सृत, गणधर के कर्णो मे पहुँचे हुए, सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के बोधक और भव्य जीवो को अजर-अमर करने वाले वचनामृत स्वरूप श्रुत की असत्य प्ररूपणा आदि आशातना से निवृत्त होता हूँ।

श्रुत-देवता की आशातना—श्रुतदेवता का अर्थ है—श्रुत-निर्माता तीर्थकर तथा गणधर। वे श्रुत के मूल अधिष्ठाता है, रचयिता है, अत श्रुतदेवता है। उनकी तथा वाचनाचार्य (उपाध्याय के आदेशानुसार शिष्यो को पाठ रूप मे श्रुत का उद्देशादि करते है, उन) की आशातना से निवृत्त होता हूँ।

---

१ काल पचति भूतानि, काल सहरते प्रजा ।
काल सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रम ।।

व्यत्याम्रेडित—वच्चामेलिय का सस्कृत रूप 'व्यत्याम्रेडित' होता है। इसका अर्थ है—शून्य चित्त से दो तीन वार बोलना। कुछ आचार्यो ने व्यत्याम्रेडित का अर्थ भिन्न रूप से भी किया है। यथा भिन्न-भिन्न सूत्रो मे तथा स्थानो पर आए हुए एक जैसे समानार्थक पदो को एक साथ मिलाकर बोलना व्यत्याम्रेडित है।

इन शव्दो का अर्थ पूर्व मे ज्ञान सम्वन्धी अतिचारो मे दिया जा चुका है।

'पडिक्कमामि एवविहे असजमे' से लेकर 'तेतीसाए आसायणाहि' तक के सूत्र मे एकविध असयम का ही विराट् रूप वतलाया गया है। यह सव अतिचार-समूह मूलत असयम का ही विवरण है। 'पडिक्कमामि एगविहे असजमे' यह असयम का सक्षिप्त-प्रतिक्रमण है और यही प्रतिक्रमण आगे 'दोहि ववणेहि' आदि से लेकर 'तेतीसाए आसायणाहि' तक क्रमश विराट् होता गया है।

यह लोकालोक प्रमाण अनन्त विराट् ससार है। इसमे अनन्त ही असयम रूप हिसा, असत्य आदि हेयस्थान हे, अनन्त सयम रूप अहिसा आदि उपादेयस्थान है तथा अनन्त पुद्गल आदि ज्ञेय-स्थान है। साधक को इन सवका प्रतिक्रमण करना होता है। इस प्रकार अनन्त सयम-स्थानो का आचरण न किया हो और असयम-स्थानो का आचरण किया हो तो उसका प्रतिक्रमण है। इस प्रकार एक से लेकर तेतीस तक के बोल के समान ही अन्य अनन्त वोल भी अर्थत सकल्प मे रखने चाहिये, भले ही वे ज्ञात हो या अज्ञात हो। साधक को केवल ज्ञात का ही प्रतिक्रमण नही करना, अपितु अज्ञात का भी प्रतिक्रमण करना है। तभी तो आगे के अन्तिम पाठ मे कहा हे "ज सभरामि, ज च न सभरामि"। अर्थात् जो दोप स्मृति मे आ रहे है उनका प्रतिक्रमण करता हूँ और जो दोष इस समय स्मृति मे नही आ रहे हे, परन्तु हुए है, उन सवका भी प्रतिक्रमण करता हूँ।

प्रतिज्ञा-सूत्र

निर्ग्रन्थ-प्रवचन का पाठ

नमो चउवीसाए तित्थयराण उसभाइमहावीरपज्जवसाणाण।

इणमेव निग्गथ पावयण सच्च, अणुत्तर, केवलिय, पडिपुण्ण, नेयाउय, ससुद्ध, सल्लगत्तण, सिद्धिमग्ग, मुत्तिमग्ग, निज्जाणमग्ग, निव्वाणमग्ग, अवितहमविसधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्ग।

इत्थ ठिआ जीवा सिज्झति, बुज्झति, मुच्चति, परिनिव्वायति सव्वदुक्खाणमत करेंति।

त धम्म सद्दहामि पत्तियामि, रोएमि, फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि।

त धम्म सद्दहतो, पत्तिअतो, रोअतो, फासतो, पालतो, अणुपालतो।

तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए,

असजम परियाणामि, सजम उवसपज्जामि।

अबभ परियाणामि, बभ उवसपज्जामि।

अकप्प परियाणामि, कप्प उवसपज्जामि।

अन्नाण परियाणामि, नाण उवसपज्जामि।

अकिरिय परियाणामि, किरिय उवसपज्जामि।

मिच्छत्त परियाणामि, सम्मत्त उवसपज्जामि ।

अबोहिं परियाणामि, बोहिं उवसपज्जामि ।

अमग्ग परियाणामि, मग्ग उवसपज्जामि ।

ज सभरामि, ज च न सभरामि ।

ज पडिक्कमामि, ज च न पडिक्कमामि ।

तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि । समणोऽह सजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, अनियाणो दिट्ठिसपन्नो माया-मोस-विवज्जिओ ।

अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्दे सु पन्नरससु कम्मभूमीसु, जावति केइ साहू रयहरण-गुच्छ-पडिग्गह-धारा, पचमहव्वय-धारा अट्ठारस्स-सहस्स-सीलगधारा, अक्खयाकारचरित्ता, ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वदामि ।।

भावार्थ—भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर देवो को म नमस्कार करता हूँ ।

यह तीर्थकरोपदिष्ट निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही सत्य है, अनुत्तर—सर्वोत्तम है, कैवलिक-केवलज्ञानियो द्वारा प्ररूपित है, (मोक्षप्रापक गुणो मे) परिपूर्ण है, न्याय, युक्ति, तर्क से अबाधित है, पूर्ण रूप से शुद्ध अर्थात् सर्वथा निष्कलक है, माया आदि शल्यो को नष्ट करने वाला है, सिद्धिमार्ग—सिद्धि की प्राप्ति का उपाय है, कर्म-बन्धन से मुक्ति का साधन है, ससार से छुडाकर मोक्ष का मार्ग है, पूर्ण शान्ति रूप निर्वाण का मार्ग है, मिथ्यात्व रहित है, विच्छेदरहित अर्थात् सनातन-नित्य है तथा पूर्वापरविरोध से रहित है, सब दु खो का पूर्णतया क्षय करने का मार्ग है ।

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन मे स्थित रहने वाले अर्थात् तदनुसार आचरण करने वाले भव्य जीव सिद्ध होते है, बुद्ध—सर्वज्ञ होते है, मुक्त होते है, पूर्ण आत्मशान्ति को प्राप्त करते है, समस्त दु खो का सदाकाल के लिए अन्त करते है ।

मै इस निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप धर्म पर श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ, स्पर्शना करता हूँ, पालना अर्थात् रक्षा करता हूँ । विशेष रूप से निरन्तर पालन करता हूँ ।

मै प्रस्तुत जिन-धर्म की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ, स्पर्शना-आचरण करता हुआ, पालना करता हुआ, विशेष रूप से निरन्तर पालना करता हुआ—

उस केवलिप्ररूपित धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता हूँ और विराधना से विरत-निवृत्त होता हूँ ।

असयम को ज्ञपरिज्ञा से जानता और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागता हूँ तथा सयम को स्वीकार करता हूँ ।

अब्रह्मचर्य को जानता और त्यागता हूँ और ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ ।

अकल्प्य (अकृत्य) को जानता और त्यागता हूँ, कृत्य को स्वीकार करता हूँ ।

अज्ञान को जानता और त्यागता हूँ, ज्ञान को स्वीकार करता हूँ ।

अक्रिया-नास्तिकवाद को जानता तथा त्यागता हूँ, क्रिया-सम्यग्वाद को स्वीकार करता हूँ।

मिथ्यात्व को जानता और त्यागता हूँ, सम्यक्त्व-सदाग्रह को स्वीकार करता हूँ।

अबोधि-मिथ्यात्व को जानता एव त्यागता हूँ, बोधि को स्वीकार करता हूँ।

हिसा आदि अमार्ग को (ज्ञपरिज्ञा से) जानता और (प्रत्याख्यानपरिज्ञा से) त्यागता हूँ। अहिसा आदि मार्ग को स्वीकार करता हूँ।

जिन दोषो को स्मरण कर रहा हूँ, जो याद है और जो स्मृतिगत नही है, जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूँ और जिनका प्रतिक्रमण नही कर पाया हूँ, उन दिवस सम्बन्धी अतिचारो का प्रतिक्रमण करता हूँ।

मै श्रमण हूँ, सयमी हूँ, विरत-सावद्य व्यापारो से एव ससार से निवृत्त हूँ, पापकर्मो को प्रतिहत करने वाला हूँ, निदानशल्य से रहित अर्थात् आसक्ति से रहित हूँ, दृष्टिसम्पन्न-सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ, माया सहित मृषावाद—असत्य का परिहार करने वाला हूँ।

ढाई द्वीप और दो समुद्र परिमित मानव-क्षेत्र मे अर्थात् पद्रह कर्मभूमियो मे जो भी रजोहरण, गुच्छक एव पात्र को धारण करने वाले तथा पाच महाव्रतो, अठारह हजार शीलागो-सदाचार के अगो को धारण करने वाले एव निरतिचार आचार के पालक त्यागी साधु मुनिराज है, उन सबको शिर नमाकर, मन से, मस्तक से वन्दना करता हूँ।

विवेचन—जैनधर्म मूलत पापो से बचने का आदर्श प्रस्तुत करता है। अत वह कृत कर्मो के लिए पश्चात्ताप कर लेना ही पर्याप्त नही समझता, प्रत्युत भविष्य मे पुन पाप न होने पाएँ, इस बात की भी सावधानी रखने का निर्देश करता है।

प्रतिज्ञा करने से पहले सयम-पथ के महान् यात्री आदिनाथ श्री ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थकर देवो को नमस्कार किया है। युद्धवीर युद्धवीरो का तो अर्थवीर अर्थवीरो का स्मरण करते है। यह धर्मयुद्ध है, अत यहा धर्मवीरो का ही स्मरण किया गया है। यह अटल नियम रहा है कि जैसी साधना करनी हो उसी साधना के उपासको एव उसमे सिद्धि प्राप्त करने वालो का स्मरण किया जाता है। अत जैनधर्म के चौवीस तीर्थकरो की स्मृति हमारी आत्म-शुद्धि को स्थिर करने वाली है। तीर्थकर हमारे लिए अन्धकार मे प्रकाशस्तभ है।

भगवान् ऋषभदेव—वर्तमान कालचक्र मे जो चौवीस तीर्थकर हुए है, उनमे भगवान् ऋषभदेव सर्वप्रथम है। आपके द्वारा ही मानव-सभ्यता का आविर्भाव हुआ है। आपसे पहले मानव जगलो मे रहता, वन फल खाता एव सामाजिक जीवन से शून्य घूमा करता था। न उसे धर्म का पता था और न कर्म का ही। आत्मा का स्वरूपदर्शन सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने ही कराया।

भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणीकाल मे जैनधर्म के आदि प्रवर्तक है। जो लोग जैन-धर्म को सर्वथा आधुनिक माने बैठे है, उन्हे इस ओर लक्ष्य देना चाहिये। भगवान् ऋषभदेव के गुणगान वेदो और पुराणो तक मे गाए गए है। वे मानव-सस्कृति के आदि उद्धारक थे, अत वे मानव मात्र के पूज्य रहे है। प्राचीन वैदिक ऋषि उनके महान् उपकारो को नही भूले थे, उन्होने खुले हृदय से भगवान् ऋषभदेव का स्तुति-गान किया है—

अनर्वाण वृषभ मन्द्रजिह्व,
बृहस्पति वर्धया नव्यमर्के। —ऋग् म १ सू १९० म १

अर्थात् मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ को पूजा-साधक मन्त्रो द्वारा वर्धित करो।

भगवान् महावीर—इस युग के प्रारभ मे भगवान् ऋषभदेव के द्वारा सस्थापित जैनधर्म की गरिमा को मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरो ने तथा चरम तीर्थकर भगवान् महावीर ने सवर्द्धना प्रदान की। किन्तु उस समय उन्हे धार्मिक एव सामाजिक दोनो ही क्षेत्रो मे अनेकानेक विकट समस्याओ मे जूझना पडा था। आज से छब्बीस सौ वर्ष से कुछ अधिक वर्ष पूर्व यद्यपि धर्म का दीप प्रज्वलित था, पर देश की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। चारो ओर हिंसा का ताण्डवनृत्य हो रहा था तथा शोषण एव अनाचार की अति से मानवता कराह रही थी। धर्म के नाम पर पशुओ के रक्त की नदिया बहती थी, शूद्रो पर तथा नारी जाति पर भी भयानक अत्याचार होते थे। उस विकट वेला मे जगदुद्धारक वीर प्रभु ने जन्म लिया और अपनी आत्मशक्ति से अहिंसाधर्म की दुन्दुभि बजाई थी। भगवान् महावीर का ऋण भारतवर्ष पर अनन्त है, असीम है, हम किसी भी प्रकार से उनका ऋण अदा नही कर सकते। वे पूर्ण निष्काम थे, बदले मे चाहते भी कुछ नही थे। लेकिन उनके अनुयायी अथवा सेवक होने के नाते हमारा कर्तव्य है कि हम उनके बताए हुए सन्मार्ग पर चले और श्रद्धा एव भक्ति के साथ मस्तक झुकाकर उनके श्रीचरणो मे वन्दन करे।

निग्गथ पावयण—'पावयण' विशेष्य है और 'निग्गथ' विशेषण है। जैन साहित्य मे 'निग्गथ' शब्द प्रसिद्ध है। निग्गथ का सस्कृत रूप 'निर्ग्रन्थ' होता है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—धन-धान्य आदि बाह्य ग्रन्थ और मिथ्यात्व, अविरति तथा क्रोध, मान, माया आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से रहित, पूर्ण त्यागी एव सयमी साधु।

निर्ग्रन्थो अरिहन्तो का प्रवचन, नैर्ग्रन्थ्यप्रावचन है।[1]

मूल मे जो निग्गथ शब्द है, वह निर्ग्रन्थ का वाचक न होकर 'नैर्ग्रन्थ्य' का वाचक है। 'पावयण' शब्द के दो सस्कृत रूपान्तर है—प्रवचन और प्रावचन। आचार्य जिनदास प्रवचन कहते है और हरिभद्र प्रावचन। शब्दभेद होते हुए भी अर्थ दोनो आचार्य एक ही करते है। जिसमे जीवादि पदार्थो का तथा ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है, वह सामायिक से लेकर बिन्दुसार पूर्व तक का आगम-साहित्य निर्ग्रन्थ प्रवचन या नैर्ग्रन्थ्य प्रावचन मे गर्भित हो जाता है।[2]

'प्रकर्षेण अभिविधिना उच्यन्ते जीवादयो यस्मिन् तत्प्रावचनम्।' —आचार्य हरिभद्र।

श्री ऋषभदेव स्वामी से लेकर श्री महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीसो तीर्थकर भगवन्तो को मेरा नमस्कार हो। इस प्रकार नमस्कार करके तीर्थकरप्रणीत प्रवचन की स्तुति करते है—यही निर्ग्रन्थ अर्थात् रजत आदि द्रव्यरूप और मिथ्यात्व आदि भावरूप ग्रन्थ से रहित—मुनि-सम्बन्धी

---

१ 'निर्ग्रन्थानामिद नैर्ग्रन्थ्य प्रावचनमिति।' —आचार्य हरिभद्र

२ 'पावयण सामाइयादि बिन्दुसारपज्जवसाण जत्थ नाण-दसण-चरित्तसाहणवावारा अणेगधा वण्णिज्जति।' —आचार्य जिनभद्र, आवश्यकचूर्णि

सामायिक आदि प्रत्याख्यान पर्यन्त द्वादशाङ्ग गणिपिटक स्वरूप तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट प्रवचन सत्य है ।

सच्च--सत्य आत्मा का स्वभाव, अनुभूति का विषय और आचरण का आदर्श है । जैसे मिश्री की मधुरता का अनुभव, आस्वादन उसे मु ह मे रखने से ही हो सकता हे, उसी प्रकार सत्य का महत्त्व उसे आचरण मे उतारने से ही मालूम होता है । सत्य का उपासक जीवन के हर क्षेत्र मे हर समय सत्य को साथ रखता हे । सत्य एक सार्वभौम सिद्धान्त है । सत्य को धर्म से अलग नही किया जा सकता है ।

सत्य से नीति सुशोभित होती हे । जीवन और व्यवहार मे सत्य की झलक आने पर मनुष्य का जीवन अपने आप धर्ममय हो जाता हे । धर्म और नीति ग्रन्थो मे सर्वत्र सत्य की महिमा का मुक्तकठ से बखान किया गया है । सत्य सर्वोत्तम हे, सर्वोत्कृष्ट हे । सत्य के बिना धर्म की कल्पना नही की जा सकती ।

'नाऽसो धर्मो यत्र न सत्यमस्ति' अर्थात् वह धर्म, धर्म नही है जो सत्य से दूर हे । सत्य साधना का सार, मनुष्य की तत्त्व-चितना का तार और मोक्ष मजिल का द्वार हे । ससार का सम्पूर्ण सार तत्त्व इसमे निहित हे । प्रश्नव्याकरणसूत्र मे सत्य को भगवान् का रूप कहा गया है ।

जीवन का आधार है, सत्य सुखो की खान ।
प्रश्नव्याकरण देखिये, सत्य स्वय भगवान् ।।

केवलिय—मूल मे 'केवलिय' शब्द है, इसके सस्कृत रूपान्तर दो किए जा सकते है—केवल और कैवलिक । केवल का अर्थ अद्वितीय है । सम्यग्दर्शनादि तत्त्व अद्वितीय है, सर्वश्रेष्ठ है ।

कैवलिक का अर्थ हे—केवलज्ञानियो द्वारा प्ररूपित अर्थात् प्रतिपादित ।

पडिपुण्ण—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही जैनधर्म है । वह अपने आप मे सब ओर से प्रतिपूर्ण हे ।

नेयाउय—'नेयाउय' का सस्कृत रूप नैयायिक होता है । आचार्य हरिभद्र नैयायिक का अर्थ करते है—जो नयनशील है, ले जाने वाला है, वह नैयायिक है । सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष मे ले जाने वाले है, अत वे नैयायिक कहलाते है । 'नयनशील नैयायिक मोक्ष-गमकमित्यर्थ ।'

श्रीभावविजयजी न्याय का अर्थ 'मोक्ष' करते है । क्योकि निश्चित आय—लाभ ही न्याय है और ऐसा न्याय एक मात्र मोक्ष ही है तथा साधक के लिए मोक्ष से बढकर अन्य कोई लाभ नही है—

"निश्चित आयो लाभो न्यायो मुक्तिरित्यर्थ , स प्रयोजनमस्येति नैयायिक ।"

—उत्तराध्ययनवृत्ति, अध्य ४, गा ५

इसका एक अर्थ युक्ति-तर्क से युक्त-अबाधित भी हो सकता है ।

---

१ "केवलिय-केवल अद्वितीय एतदेवैक हित नान्यद् द्वितीय प्रवचनमस्ति । केवलिणा वा पण्णत्त केवलिय ।"

—आचाय जिनदास कृत आवश्यकचूर्णि

सल्लकत्तण—आगम की भापा मे शल्य का अर्थ है—'माया, निदान और मिथ्यात्व'। वाहर के शल्य कुछ काल के लिए ही पीडा देते है, परन्तु ये अन्दर के शल्य तो वडे ही भयकर होते हैं। अनादि काल से अनन्त आत्माएँ इन शल्यो के कारण पीडित हो रही हे। स्वर्ग मे पहुंच कर भी इनसे मुक्ति नही मिलती। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र मे लिखा है—'नि शल्यो व्रती'। व्रती के लिए सर्वप्रथम नि शल्य अर्थात् शल्य-रहित होना परम आवश्यक है।

निज्जाणमग्ग—आचार्य हरिभद्र ने निर्याण का अर्थ मोक्षपद किया हे। जहा जाया जाता हे वह यान होता है। निरुपम यान निर्याण कहलाता है। मोक्ष ही ऐसा पद हे जो सर्वश्रेष्ठ यान-स्थान है। अत वह जैन आगमसाहित्य मे निर्याण पदवाच्य भी है।

अविसन्धि—अविसन्धि अर्थात् सन्धि से रहित। सन्धि वीच के अन्तर को कहते ह। भाव यह है कि जिनशासन अनादि काल से निरन्तर अव्यवच्छिन्न चला आ रहा है। भरतादि क्षेत्र मे किसी कालविशेप मे नही भी होता है, परन्तु महाविदेह क्षेत्र मे तो सदा काल अव्यवच्छिन्न वना रहता है। काल की सीमाएँ जैनधर्म की प्रगति मे वाधक नही वन सकती। जिनधर्म निज-धर्म अर्थात् आत्मा का धर्म है। अत वह तीन काल और तीन लोक मे कही न कही मदा सर्वदा मिलेगा ही।

सव्व-दु खपहीणमग्ग—धर्म का अन्तिम विशेपण सर्वदु खप्रहीणमार्ग हे। ससार का प्रत्येक प्राणी दु ख से व्याकुल है, क्लेश से सतप्त है। वह अपने लिए सुख चाहता है, आनन्द चाहता है, परन्तु ससार का कोई भी सुख ऐसा नही है, जो दु ख से असभिन्न हो। क्योकि व्यक्ति अज्ञान और मोह के वशीभूत होकर बाह्य पदार्थो मे सुख ढूँढता है। लेकिन जो पदार्थ आज सुखद और प्रीतिकर प्रतीत होते है, कालान्तर मे वे ही कष्टप्रद, क्लेशजनक एव शोक-सताप-वृद्धि के कारण वन जाते है। जिस धन की प्राप्ति के लिए व्यक्ति छल, कपट और माया का सेवन करता है, जिसे प्राप्त करने के लिए दिन-रात एक करता है, वही धन प्राणो के नाश का कारण भी बन जाता है। कर, टैक्स आदि की चोरी के कारण कारागृह का मेहमान भी बनाता है। जो पुत्र बचपन मे माता-पिता की आखो का तारा, दिल का टुकडा, हृदय का दुलारा होता है, वही बडा होने पर दुराचारी बन जाने के कारण हृदय का शूल, आखो का काटा, कुल का कलक बन जाता है। उसका नाम सुनने मे भी कष्ट होता है। लज्जा से मस्तक झुक जाता है। अगर पदार्थ मे सुख होता तो एक पदार्थ एक समय सुख का और दूसरे समय दु ख का कारण कैसे बन जाता? सच्चे अर्थ मे वह सच्चा सुख नही, सुखाभास है। 'सयोगमूला जीवेन प्राप्ता दु खपरम्परा' सच तो यह कि आत्मभिन्न बाह्य पदार्थो के सयोग के कारण ही जीव अनादि काल से दु खो को भुगत रहा है। सच्चा सुख तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप धर्म की साधना से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए आचार्य हरिभद्र लिखते है—सर्वदु ख-प्रहीणमार्ग—सर्वदु ख-प्रहीणो मोक्षस्तत्कारणमित्यर्थ।

सिज्झति—जैनधर्म मे आत्मा के अनन्त गुणो का पूर्ण विकास हो जाना ही सिद्धत्व माना गया है।

जब तक ज्ञान अनन्त न हो, दर्शन अनन्त न हो, चारित्र अनन्त न हो, वीर्य अनन्त न हो, अर्थात् प्रत्येक गुण अनन्त न हो, तब तक जैनधर्म मोक्ष होना स्वीकार नही करता है। 'सिज्झति' का अर्थ है—भगवान् के बताये हुए मार्ग मे स्थित जीव सिद्ध होते है।

बुज्झति—बुद्ध होते है। बुद्ध अर्थात् पूर्ण ज्ञानी। यहा शका हो सकती है कि—बुद्धत्व तो सिद्ध होने से पहले ही प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक विकास के क्रमस्वरूप चौदह गुणस्थानो मे, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुण तेरहवे गुणस्थान मे ही प्राप्त हो जाते है और मोक्ष, चौदहवे गुणस्थान के बाद होता है। अत 'सिज्झति' के बाद बुज्झति कहने का क्या अभिप्राय है? समाधान—केवलज्ञान तेरहवे गुणस्थान मे प्राप्त हो जाता है, अत विकासक्रम के अनुसार बुद्धत्व का स्थान पहला है और सिद्धत्व का दूसरा, परन्तु यहा सिद्धत्व के बाद जो बुद्धत्व कहा है उसका अभिप्राय यह है कि सिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व बना रहता है, नष्ट नही होता है। कुछ दार्शनिक मुक्तात्माओ मे ज्ञान का अभाव हो जाना कहते है, उनकी मान्यता का निषेध इस विशेषण से हो जाता है।

मुच्चति—'मुच्चति' पद का अर्थ है—कर्मो से मुक्त होना। जब तक एक भी कर्म-परमाणु आत्मा से सम्बन्धित रहता है तब तक मोक्ष नही हो सकता। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के दसवे अध्ययन के प्रथम सूत्र मे लिखा है—"कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष" अर्थात् समस्त कर्मो के नष्ट होने पर मोक्ष होता है।

मोक्षप्राप्ति के लिए जिज्ञासु साधको को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अतराय इन घातिक कर्मो को सर्वप्रथम नष्ट करने के लिए ज्ञानपूर्वक शुभ क्रिया करनी चाहिये, क्योकि आत्मा शुभ से ही शुद्ध की ओर अग्रसर होती है और एक समय ऐसा भी आता है कि कष्टसाध्य साधना के द्वारा आत्मा मे बोध की किरण प्रस्फुटित हो जाती है। जो अघातिक कर्म वेदनीय, नाम, गोत्र एव आयुकर्म जली हुई रस्सी के समान शेष रहते है, उनको पाच लघु अक्षर उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, उतने स्वल्प समय मे नष्ट करके ही आत्मा सिद्धि को प्राप्त हो जाती है।

आशय यह है कि आत्मा के साथ अनादि काल से जो कर्मो का सम्बन्ध है, उनका भेदन करके ही आत्मा स्वदशा मे स्थिर हो सकती है।

महाश्रमण महावीर का कर्मवाद एव आत्मवाद सिद्धान्त अत्यन्त गहन है। प्रत्येक साधक को साधना-पथ पर गतिशील होने से पूर्व सभी तत्त्वो के सम्बन्ध मे सम्यक् प्रकारेण जानकारी कर लेनी चाहिये, जिससे साधक निर्भ्रान्त होकर सहज ही साधना-रत हो सके तथा सिद्ध, बुद्ध हो सके। अर्थात् कर्ममुक्त होकर शाश्वत एव अक्षय मोक्ष-सुख को प्राप्त कर सके।

मोक्ष एक है—आत्मा का कर्म रूप पाश से अलग होना मोक्ष है। यह मोक्ष यद्यपि ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मो मे से तत्-तत् कर्मो के छूटने से आठ प्रकार का है, फिर भी मोचन-सामान्य की अपेक्षा यह एक है। इसमे भेद नही है। जीव की मुक्ति एक ही बार होती है। जो जीव एक बार मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह फिर से ससार मे जन्म के कारणो का अभाव होने से जन्म धारण नही करता, अत जो स्थिति प्राप्त हो गई है वह सादि होकर भी अपर्यवसित है। उसकी पुन प्राप्ति का अभाव है, अत मोक्ष एक ही है।

परिनिव्वायति—आत्मा स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के द्वारा आत्मा शुद्ध, बुद्ध, विशुद्ध, अमल, विमल, उज्ज्वल एव उन्नत बनती है। ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है। इससे भिन्न जितने भी राग-द्वेष, कर्म-शरीर आदि भाव है, वे सब सयोगजन्य बाह्य भाव है।

'अन्नो जीवो अन्न सरीर' अर्थात् आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है ।

—सूत्रकृताग सूत्र (२-१-९)

शब्द, रूप, कामभोगादि जड पदार्थो से रहित आत्मा ही मोक्षगामी हो सकती है । जैन-धर्म की यह दृढ मान्यता है कि हर एक आत्मा मे महान् ज्योति जाज्वल्यमान है । आनन्द और अमर शान्ति का महासागर उसमे हिलोरे मार रहा है । प्रत्येक प्रसुप्त आत्मा का जब चैतन्य जाग उठता है तो वह आत्मा परमात्मा वीतराग एव क्षुद्र से विराट् और लघु से महान् बन जाती है । अन्त मे परिनिर्वाण को प्राप्त हो जाती है ।

निर्वाण की प्रशस्ति नही हो सकती । वह ऐसे अनिर्वचनीय, अनुपम, असाधारण परमानन्द का स्थान है कि जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती ।

सव्वदु णमत करेंति—श्रीमद् आचाराङ्गसूत्र मे बतलाया है—हे गौतम! मोक्ष के सुख का स्वरूप बतलाने के लिए कोई शब्द नही है । जैसे गूगा आदमी गुड के स्वाद को जानता है, लेकिन उसका वर्णन नही कर सकता, इसी प्रकार जो मुक्तात्मा जीव, जिन्हे निरजन पद प्राप्त हुआ है, वे मोक्षसुख का अनुभव तो करते है, मगर उसे प्रकट करने के लिए उनके पास भी कोई शब्द नही है । निरजन पद की प्राप्ति के बाद सभी दुखो का अन्त हो जाता है ।

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिसकी सेवा मे खडे रहते हैं और हाथ जोडे आज्ञा का प्रतीक्षा करते रहते है, उस छह खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती का सुख उत्तम है या मोक्ष का सुख उत्तम है? अगर चक्रवर्ती का सुख उत्तम होता तो स्वय चक्रवर्ती भी अखण्ड षट्खण्ड के महान् साम्राज्य को ठोकर मार कर क्यो भिक्षुजीवन स्वीकार करते? चक्रवर्ती स्वय अपने सुख को मोक्ष-सुख की तुलना मे तुच्छ, अति तुच्छ समझता है अर्थात् धर्माराधक साधक मोक्ष प्राप्त कर शारीरिक एव मानसिक सब प्रकार के दुखो का अन्त कर देता है । आचार्य जिनदास कहते है—"सव्वेसि सारीर-माणसाण दुक्खाण अन्तकरा भवन्ति, वोच्छिण्णसव्वदुक्खा भवन्ति ।" अर्थात् सिद्ध भगवान् समस्त शारीरिक और मानसिक दुखो का अन्त करने वाले है, समस्त क्लेशो से मुक्त हो जाते है ।

सद्दहामि—मै श्रद्धा करता हूँ । श्रद्धा जीवननिर्माण का मूल है । श्रद्धा के बिना कोई भी मनुष्य इस ससार-सागर से पार हो जाए, यह सभव नही । व्यक्ति कितना भी विद्वान् हो, ज्ञानवान् हो, पण्डित हो, दार्शनिक हो किन्तु अगर उसमे सम्यक्त्व नही है, उसकी आत्मा के प्रति श्रद्धा नही है तो विविध भाषाओ का ज्ञान तथा अनेक प्रकार की कलाओ का अभ्यास भी उसे ससार-सागर से पार नही कर सकता । अत श्रद्धा ही जीवन के लिए अमृत है । किसी भी साध्य की प्राप्ति दुर्लभ नही है, किन्तु श्रद्धा अथवा विश्वास दुर्लभ है—

"सद्धा परम दुल्लहा ।" —उत्तरा सू अ ३

श्रद्धा के बिना मनुष्य अपने आपको भी नही पहचान सकता । श्रद्धा के बिना ज्ञान भी पगु के सदृश हो जाता है । मेधावी तथा महान् वही होता है जिसकी रग-रग मे श्रद्धा बसी हुई हो । ध्येय के प्रति एकनिष्ठ रहकर साधना करने से सफलता मिलती है । ध्येयसिद्धि मे एकनिष्ठता

ही वह भूमिका है कि जिस पर सफलता का अंकुर उत्पन्न होता है, पनपता है, बढता है और फलप्रद होकर कृतकृत्य बना देता है। जिस व्यक्ति की अपने ध्येय मे एकनिष्ठा नही, दृढ आस्था नही, अटूट विश्वास नही, उस ढुलमुल साधक का कोई भी कार्य सफल नही हो सकता। चाहे विद्याभ्यास हो, कलासाधना हो, व्यापार हो, उद्योग हो अथवा धार्मिक क्रिया हो, सभी मे एकनिष्ठ बनकर श्रद्धा एव विश्वासपूर्वक पुरुषार्थ करने से ही सफलता प्राप्त हो सकती हे। श्रद्धा के दो रूप होते है—प्रथम सम्यक श्रद्वा एव दूसरी अध श्रद्धा। सम्यक् श्रद्वा विवेकपूर्ण होती है तथा अन्ध श्रद्धा अविवेकमय होती हे। दोनो का उद्‌गमस्थान मानव का हृदय है। जैसे गौ के स्तनो से विवेकी मानव दूध प्राप्त कर लेता है और जोक नामक जीव रक्त प्राप्त करता है। स्थान तो एक ही हे एक ही खान से हीरा और कोयला, एक ही पौधे से फूल और शूल प्राप्त होते है। किसे क्या ग्रहण करना है, यह सब अपनी दृष्टि पर निर्भर करता है।

सम्यक् श्रद्धा दो प्रकार की है— सुगुरु, सुदेव एव सुधर्म पर श्रद्धा होना व्यवहार-समकित (श्रद्धा) हे तथा जो साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्‌चारित्र—इन आत्मिक गुणो मे निष्ठावान् होता है, जिसे आत्मा का असली स्वरूप अवगत हो गया है और आत्मा के अनन्त सामर्थ्य पर विश्वास हे, वह साधक निश्चय सम्यक्त्व का अधिकारी कहलाता है। श्रद्धा मुक्ति-महल मे प्रवेश करने का प्रथम सोपान है।

वास्तव मे साधना का धरातल सम्यग्दर्शन ही है। इसके अभाव मे किसी भी क्रिया के साथ धर्म शब्द नही जुड सकता। साधक प्रस्तुत पाठ मे प्रतिज्ञा करता है कि वीतराग के बताए धर्म पर मै श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ अर्थात् धर्म मे विश्वास करता हूँ, प्रीति करता हूँ एव रुचि करता हूँ आदि।

फासेमि-पालेमि-अणुपालेमि—जैनदर्शन केवल श्रद्धा एव प्रतीति को ही साध्य की सिद्धि मे हेतुभूत नही मानता है। प्रथम सोपान पर चढकर वही जमे रहने से मुक्ति-महल मे प्रवेश नही किया जा सकता। आगमकारो ने साधक को सकेत दिया है कि आत्म-सिद्धि के लिए सम्यक्‌श्रद्धा के साथ आगे बढना होगा, ऊपर चढना होगा और यह प्रतिज्ञा भी करनी होगी कि मै धर्म का स्पर्श करता हूँ, जीवन पर्यन्त प्रत्येक स्थिति मे उसका पालन करता हूँ अर्थात् अनुकूल एव प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी स्वीकृत धर्माचार की रक्षा करता हूँ। पूर्व आप्त पुरुषो द्वारा आचरित धर्म का दृढतापूर्वक प्रतिपल पालन करता हूँ।

इस प्रतिज्ञा की मुमुक्षु साधक बार-बार पुनरावृत्ति करता रहता है। तभी वह अपने ध्येय मे सफल हो सकता है। जैसे दर्जी खण्ड पट को अखण्ड रूप देने के लिए सुई के साथ धागा भी लेता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व (श्रद्धा) के साथ आचरण की भी अनिवार्यता है।

अब्भुट्ठिओमि—प्रस्तुत पाठ मे साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि—मै धर्म की श्रद्धा, प्रीति, प्रतीति, स्पर्शना, पालना तथा अनुपालना करता हुआ धर्म की आराधना मे सम्यक् प्रकारेण अभ्युत्थित होता हूँ अर्थात् तैयार होता हूँ। धर्माराधना के क्षेत्र मे दृढता के साथ खडा होता है।

ज्ञ-परिज्ञा एव प्रत्याख्यान-परिज्ञा—आचाराङ्ग आदि आगम साहित्य मे दो प्रकार की परिज्ञाओ का उल्लेख आता है—एक ज्ञ-परिज्ञा, दूसरी प्रत्याख्यान-परिज्ञा। ज्ञ-परिज्ञा का अर्थ है

हेय-उपादेय-ज्ञेय पदार्थ को स्वरूपत जानना। प्रत्याख्यान-परिज्ञा का अर्थ है हेय का प्रत्याख्यान करना, छोडना। प्रत्याख्यान के भी दो प्रकार होते है—१ सुप्रत्याख्यान एव २ दुष्प्रत्याख्यान।

प्रत्याख्यान का स्वरूप तथा जिसका प्रत्याख्यान किया जाता है उन पदार्थों का स्वरूप जानकर प्रत्याख्यान करना सुप्रत्याख्यान है। इसके विपरीत प्रत्याख्यान अर्थात् स्वरूप जाने-समझे बिना किया जाने वाला प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है।

असयम, प्राणातिपात आदि, अब्रह्मचर्य-मैथुनवृत्ति, अकल्प-अकृत्य, अज्ञान-मिथ्याज्ञान, अक्रिया-असत्क्रिया, मिथ्यात्व आदि आत्मविरोधी प्रतिकूल आचरण को त्याग कर सयम, ब्रह्मचर्य, कृत्य, सम्यग्ज्ञान आदि को स्वीकार करते हुए यह आवश्यक है कि पहले असयम आदि का स्वरूप ज्ञात कर लिया जाय। जब तक यह पता नही चलेगा कि असयम आदि क्या है, उनका स्वरूप क्या है, उनके होने से क्या हानि है तथा उन्हे त्यागने से साधक को क्या लाभ है, तब तक उन्हे त्यागा कैसे जाएगा? अत प्रत्याख्यान-परिज्ञा से पहले ज्ञ-परिज्ञा अत्यन्त आवश्यक है। अज्ञानी साधक की कठोर से कठोर क्रियाएँ एव उग्र से उग्र बाह्य साधना भी ससार-परिभ्रमण का ही कारण होती है।

प्रस्तुत पाठ मे **'असजम परियाणामि, सजम उवसपज्जामि'** इत्यादि पाठ मे जो 'परियाणामि' क्रिया है उसका अर्थ न केवल जानना है और न केवल छोडना, अपितु सम्मिलित अर्थ है 'जानकर छोडना।'

आचार्य जिनदास भी कहते है—

"परियाणामित्ति ज्ञ-परिण्णया जाणामि, पच्चक्खाण-परिण्णया पच्चक्खामि।"

अकप्प-कप्प- कल्प का अर्थ है आचार। अत चरण-करण रूप आचार-व्यवहार को आगम की भाषा मे कल्प कहा जाता है। इसके विपरीत अकल्प होता है। साधक प्रतिज्ञा करता है कि मै अकल्प-अकृत्य को जानता तथा त्यागता हूँ और कल्प-कृत्य को स्वीकार करता हू।[1]

आचार्य जिनदास ने सामान्यत कहे हुए एक-विध असयम के ही विशेष विवक्षा भेद से दो भेद किये है—'मूलगुण-असयम और उत्तरगुण-असयम।' और फिर अब्रह्म शब्द से मूलगुण-असयम का तथा अकल्प शब्द से उत्तरगुण-असयम का ग्रहण किया है।[2] आचार्यश्री के कथनानुसार प्रतिज्ञा का रूप इस प्रकार होता है—"मै मूलगुण-असयम का विवेकपूर्वक परित्याग करता हूँ और मूलगुण सयम को स्वीकार करता हूँ।"

अन्नाण-नाण—अज्ञान का अर्थ यहाँ ज्ञानावरणकर्म के उदय से होने वाला ज्ञान का अभाव नही अपितु मिथ्याज्ञान समझना चाहिये। ज्ञान का अभाव अर्थ लिया जाए तो उसके त्यागने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। जो है ही नही, उसका त्याग कैसा।

---

१ "अकल्पोऽकृत्यमाख्यायते कल्पस्तु कृत्यमिति।"

—आचार्य हरिभद्र

२ "सो य असजमो विसेसतो दुविहो—मूलगुण-असजमो उत्तरगुणअसजमो य। अतो सामण्णेण भणिऊण सवेगात्थं विसेसतो चेव भणति अबभ अबभग्गहणेण मूलगुणा भण्णति त्ति एव अकप्पग्गहणेण उत्तरगुणत्ति।"

—आवश्यकचूर्णि

ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से ज्ञान प्राप्त होता है और मिथ्यात्व का उदय उसे मिथ्या बना देता है । यही मिथ्या ज्ञान यहाँ अज्ञान कहा गया है । सम्यग्दर्शन-सहचर ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है । उसे यहा ज्ञान शब्द से कहा गया है ।

अकिरिया-किरिया—अक्रिया अर्थात् नास्तिवाद को जानता तथा त्यागता हूँ । आचार्य हरिभद्र अक्रिया को अज्ञान का ही विशेष भेद मानते हे और क्रिया को ज्ञान का भेद कहते है—"अक्रिया नास्तिकवाद क्रिया सम्यग्वाद ।" लोक-परलोक, धर्म-अधर्म आदि पर विश्वास न रखना नास्तिक-वाद है । इसके विपरीत लोक-परलोक, धर्म-अधर्म आदि पर विश्वास रखना आस्तिकवाद है ।

आचार्य जिनदास के अनुसार—"अप्पसतथा किरिया अकिरिया, इतरा किरिया इति ।" अर्थात् अयोग्य क्रिया को अक्रिया एव प्रशस्त-योग्य क्रिया को क्रिया कहते हैं ।

मिच्छत्त-सम्मत्त—पाप के अठारह प्रकार हे । उनमे अन्तिम अठारहवा पाप मिथ्यात्व हे । मिथ्यात्व ही एक ऐसा पाप है जो समस्त पापो का पोषक, रक्षक एव वर्धक है । इसी का फल है कि जीव को अनादि काल से जन्म-मरणादि समस्त दु खो को सहन करना पडा हे । जब तक मिथ्यात्व है, तब तक सभी पाप सुरक्षित है ।

मिथ्यात्व, ससार-चक्र मे फसाये रखने वाला है और सम्यक्त्व, मोक्ष का परम सुख प्रदान कर आत्मा को परमात्मा बनाने वाला है । मिथ्यात्व मारक है और सम्यक्त्व तारक है, रक्षक है । इस प्रकार साधक मिथ्यात्व एव सम्यक्त्व का स्वरूप समझकर मिथ्यात्व का त्याग करता है और सम्यक्त्व को स्वीकार करता है ।

अबोहि—बोहि—"अबोधि —मिथ्यात्वकार्य, बोधिस्तु सम्यक्त्वस्येति ।"

— आचार्य हरिभद्र ।

अबोधि मिथ्यात्व का कार्य है और बोधि सम्यक्त्व का कार्य ।

असत्य का दुराग्रह रखना, ससार के कामभोगो मे आसक्ति रखना, धर्म की निदा करना, वीतराग अरिहत भगवान् का अवर्णवाद बोलना इत्यादि मिथ्यात्व के कार्य है । सत्य का आग्रह रखना, ससार के कामभोगो से उदासीन रहना, धर्म के प्रति दृढ आस्था रखना, प्राणिमात्र पर प्रम एव करुणा का भाव रखना इत्यादि सम्यक्त्व के कार्य है । अबोधि को जानकर अर्थात् समझकर त्यागना एव बोधि को स्वीकार करना ।

अमग्ग-मग्ग—अमार्ग—हिसा आदि अमार्ग—कुमार्ग को जानता तथा त्यागता हूँ और अहिसा आदि मार्ग—सन्मार्ग-मोक्षमार्ग को स्वीकार करता हूँ । अथवा जिनमत से विरुद्ध पार्श्वस्थ निह्नव तथा कुतीर्थिक-सेवित अमार्ग को छोडकर ज्ञानादि रत्नत्रय रूप मार्ग को स्वीकार करता हूँ ।

ज सभरामि, ज च न सभरामि

ज पडिक्कमामि, ज च न पडिक्कमामि—मानव के मन की अनादिकालीन कामना यही रही है कि वह अपने कदम प्रगति की ओर बढाये । चाहे विद्यार्थी हो अथवा व्यवसायी, चाहे कलाकार हो अथवा कोई अन्य साधक, वह चाहता यही है कि उसका निरन्तर विकास होता रहे और कदम आगे से आगे बढते रहे । किन्तु एक बात विशेष रूप से ध्यान मे रखने की है कि मनुष्य

की वास्तविक प्रगति धन बढा लेने मे, प्रसिद्धि प्राप्त करने मे, भौतिक ज्ञान प्राप्त करके विद्वान् कहलाने मे अथवा नेता बन जाने मे नही है, अपितु आत्मिक गुणो की वृद्धि करने मे है। आत्मिक गुणो की वृद्धि के लिए अपनी भूलो का अथवा दोषो का अवलोकन करते रहना आवश्यक है। साधक जब तक छद्मस्थ है, घातिकर्मोदय से युक्त है, तब तक जीवन मे दोषो का होना स्वाभाविक है। वह भूल या दोष जानकारी मे हो सकता है अथवा अनजान मे भी, अर्थात् असयम अथवा दोष की स्मृति रहती है और कभी नही भी रहती है। साधक उन सबका प्रतिक्रमण करता है। इस प्रकार ज्ञानपूर्वक प्रतिक्रमण करने से साधक की प्रगति होती है।

'ज सभरामि' आदि से लेकर 'ज च न पडिक्कमामि' तक के सूत्राश का सम्बन्ध 'तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि' से है। प्रस्तुत सूत्र का भाव यह है कि जिनका स्मरण करता हूँ अथवा जिनका स्मरण नही करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण नही करता हूँ, उन सब दैवसिक अतिचारो का प्रतिक्रमण करता हूँ।

शका—जिनका प्रतिक्रमण करता हूँ फिर भी उनका प्रतिक्रमण करता हूँ—इसका अर्थ क्या है? प्रतिक्रमण का भी प्रतिक्रमण करना कुछ सगत प्रतीत नही होता?

आचार्य जिनदास ने उपर्युक्त शका का सुन्दर समाधान किया है। वे—'पडिक्कमामि', का अर्थ 'परिहरामि' करते है—

"सघयणादि-दौर्बल्यादिना ज पडिक्कमामि-परिहरामि करणिज्ज, ज च न पडिक्कमामि अकरणिज्ज। —आवश्यकचूर्णि

अर्थात् शारीरिक दुर्बलता आदि किसी विशेष परिस्थितिवश यदि मैने करने योग्य सत्कार्य छोड दिया हो—अर्थात् न किया हो, और न करने योग्य कार्य किया हो तो उस सब अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ।

समणोऽह सजय-विरय पडिहय० इस सूत्राश का अर्थ है—"मै श्रमण हूँ, सयम-विरत-प्रतिहत—प्रत्याख्यात पापकर्मा हूँ, अनिदान हूँ, दृष्टिसम्पन्न हूँ और मायामृषाविवर्जित हूँ।"

'श्रमण' शब्द 'श्रम्' धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का मर्मोद्घाटन करते हुए श्रमण का अर्थ तपस्वी करते है। जो अपने ही श्रम से तप -साधना से मुक्ति-लाभ करते है वे श्रमण कहलाते है।

सयत का अर्थ है—'सयम मे सम्यक् यतन करने वाला।' अहिसा, सत्य आदि कर्तव्यो मे साधक को सदैव सम्यक् प्रयत्न करते रहना चाहिये। 'सजतो—सम्म जत्तो, करणीयेषु जोगेषु सम्यक्-प्रयत्नपर इत्यर्थ'। —आवश्यकचूर्णि

विरत का अर्थ है— सब प्रकार के सावद्य योगो से विरति—निवृत्ति करने वाला, अर्थात् पहले किये हुए पापो की निन्दा और भविष्य काल के लिए सवर करके सकल पापो से रहित होना।

प्रतिहतप्रत्याख्यानपापकर्मा अर्थात् भूतकाल मे किए गए पापकर्मो की निन्दा एव गर्हा के द्वारा प्रतिहत (विनष्ट) करने वाला और वर्तमान तथा भविष्य मे होने वाले पाप कर्मो को नही करने

का प्रतिज्ञा रूप प्रत्याख्यान के द्वारा परित्याग करने वाला । यह विशेप साधक की त्रैकालिक जीवन-शुद्धि का प्रतीक है । साधना का अर्थ है—पाप कर्मो पर त्रिकाल विजयी होना । कहा भी है—
'पडिहत—अतीतणिदण—गरहणादीहि, पच्चक्खात सेस अकरणतया पावकम्म पावाचार येण स तथा ।' —आचार्य जिनदास ।

अनिदान—निदान का अर्थ है—निश्चय रूप से यथेष्ट प्राप्ति की आकाक्षा । अनिदान का अर्थ है अनासक्त भाव से किया जाने वाला तप आदि अनुष्ठान । जैसे किसी व्यापारी ने लाख रुपये का सामान खरीदना चाहा, यदि उसके पास मे लाख रुपये से अधिक या लाख रुपये हे तब तो वह मनचाहा लाख रुपये का माल खरीद सकेगा । किन्तु उसके पास लाख से कम हे तो वह लाख रुपये का माल नही खरीद सकेगा । इसी प्रकार यदि साधक के पास पुण्य कर्म का आधिक्य है तो निदान करने पर उसे यथेष्ट ऋद्धि प्राप्त हो सकती हे अन्यथा नही । लेकिन वह ऋद्धि निदान करने से उसी जन्म मे परिसमाप्त हो जाती है । निदान के परिणामस्वरूप आगे अधोगति मे उस आत्मा को उत्पन्न होना पडता है । आगमकारो के कथनानुसार वासुदेवो और प्रतिवासुदेवो को निदान से ही त्रिखण्ड के साम्राज्य आदि की ऋद्धि उपलव्ध होती है । तत्पश्चात् उनका अधोगमन ही होता है । इसीलिए लोकोत्तर आप्त पुरुपो का साधको के लिए निर्देश है कि वह निदान रहित तप करे और यह प्रतिज्ञा करे कि मुझे ससार के लुभावने भोगो मे कोई आसक्ति नही है, मेरी साधना केवल आत्मशुद्धि के लिए है, मेरा ध्येय बधन नही, मुक्ति हे । ऐसे दृढ सकल्प को लेकर साधक अपनी साधना के द्वारा साध्य की उपलब्धि कर सकता है ।

दृष्टिसम्पन्न—दृष्टिसपन्न का अर्थ है—सम्यग्दर्शन रूप विशुद्ध दृष्टि से सम्पन्न । मोक्षाभिलापी साधक के लिए शुद्ध दृष्टि का होना अनिवार्य है । क्योकि सम्यग्दर्शन के अभाव मे साधक को हिताहित का सच्चा विवेक नही हो सकता तथा धर्माधर्म, आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान भी नही हो सकता । सम्यग्दृष्टि साधक ही दस प्रकार के मिथ्यावादो से वच सकता है । सत्य और तथ्य का अन्वेषण शुद्ध दृष्टिसम्पन्न साधक ही कर सकता है । सम्यग्दर्शन वस्तुत सब गुणो का मूल है 'दिट्ठिसम्पन्नो'—अर्थात् 'सव्वगुण—मूलभूतगुणयुक्तत्वम् ।' —आचार्य जिनदास ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा ससार मे रहकर भी सब कुछ यथावत् देख सकता है, मिथ्यादृष्टि नही । जेसे निर्मल काच की पेटी मे बन्द होते हुए भी व्यक्ति बाहर के दृश्यमान पदार्थो को देख सकता है, किन्तु लोहे की पेटी मे बन्द व्यक्ति नही देख सकता । कोई तैराक, तैरने की कला जिसको याद हो, गहरे पानी मे तल तक पहुच कर टनो पानी उसके सिर पर होने पर भी डूब नही सकता, किन्तु जो तैरने की कला से अनभिज्ञ है, थोडे-से पानी मे भी डूब सकता है । जैनदर्शन मे साधना अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान मे ही प्रारभ होती है ।

माया-मृषाविवर्जित—माया-मृषा से रहित । माया-मृपा अठारह महापापो मे सत्तरहवा महापाप है । तीन शल्य मे प्रथम शल्य है । जैसे पैर मे शूल गहरा उतर जाता है और दिखाई तो नही देता, किन्तु पथिक के कदम शूल की चुभन के कारण पथ पर बढ नही सकते, इसी प्रकार मायावी अर्थात् अपने दोपो को छिपाने वाले साधक का एक कदम भी अपनी साध्य की सिद्धि के लिए साधना पथ पर नही बढ सकता है । अधेरे मे जैसे साप और रस्सी को नही पहचाना जा

सकता है, इसी प्रकार माया से मूढ बना व्यक्ति अधर्म और धर्म की पहचान भी नही कर सकता। अत साधक को चाहिये कि वह अपने पूर्वकृत पापो की वर्तमान मे आलोचना और प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्धि कर ले। स्वस्थ शरीर मे यदि फोडा हो जाय तो नस्तर के द्वारा डाक्टर आपरेशन करके उसका मवाद निकाल सकता है। बिना आपरेशन के यदि मल्हम पट्टी कर दी जाएगी तो मवाद पूरे शरीर मे भी फैल सकता है।

अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु —प्रस्तुत पाठ के अन्त मे अढाई द्वीप, पन्द्रह कर्मभूमियो मे विद्यमान समस्त साधुओ को मस्तक नमाकर नमस्कार किया गया है। अभिप्राय यह है—

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और अर्ध पुष्करद्वीप तथा अपहरण की अपेक्षा से लवण एव कालोदधि समुद्र और उनमे भी पन्द्रह क्षेत्र—कर्मभूमिया ही श्रमणधर्म की साधना का क्षेत्र है। आगे के क्षेत्रो मे न मानव है और न श्रमणधर्म की साधना है। अत अढाई द्वीप के मानवक्षेत्र मे जो भी साधु, साध्वी रजोहरण, पू जनी और प्रतिग्रह अर्थात् पात्र को धारण करने वाले, पाच महाव्रतो के पालक और अठारह हजार शीलाङ्गरथ के धारक तथा अक्षत आचारवान्—आधाकर्म आदि ४२ दोषो को टालकर आहार लेने वाले, ४७ दोष टालकर आहार भोगने वाले, अखण्ड आचार का पालने वाले ऐसे स्थविरकल्पी, जिनकल्पी मुनिराजो को शिर से, मन से और मस्तक से वन्दना करता हूँ।

शिरसा, मनसा, मस्तकेन—प्रस्तुत सूत्र मे 'सिरसा, मणसा मत्थएण वदामि' पाठ आता है। इसका अर्थ है—शिर से, मन से और मस्तक से वन्दना करता हूँ। प्रश्न हो सकता है कि शिर और मस्तक तो एक ही है, फिर इनका पृथक् उल्लेख क्यो किया गया? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—शिर, समस्त शरीर मे मुख्य है। अत शिर से वन्दना करना अर्थात् शरीर से वन्दन करना। मन अन्त करण है, अत यह मानसिक वन्दना का द्योतक है।

'मत्थएण वन्दामि' का अर्थ है—मस्तक झुकाकर वन्दना करता हूँ। यह वाचिक वन्दना का रूप है, अतएव मानसिक, वाचिक और कायिक त्रिविध वन्दना का स्वरूप-निर्देश होने से पुनरुक्ति दोष नही है।

जैनधर्म के अनुसार अहकार नीचगोत्र-कर्म के बन्ध का कारण है तथा नम्रता से उच्चगोत्र का बध होता है। अत जो साधक नम्र है, वृद्धो का आदर करते है, सद्गुणी के प्रति पूज्य भाव रखते है, वे ही उच्च है, सर्वश्रेष्ठ है। जैनधर्म गुणो का पुजारी है। जैनधर्म मे विनय एव नम्रता को तप कहा है। कहा है—

'विणओ जिणसासणमूल,' 'विणयमूलो धम्मो।'

विनय जिनशासन का मूल है, विनय धर्म का मूल है।

दशवैकालिक सूत्र मे भी विनय का गुणगान किया गया है। विनयाध्ययन मे वृक्ष का रूपक देते हुए कहा है—

मूलाओ खधप्पभवो दुमस्स, खधाओ पच्छा समुवेति साहा।
साह-प्पसाहा विरुहति पत्ता, तओ से पुप्फ च फल रसो य॥

एव धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्ती सुय सिग्घ, निस्सेस चाभिगच्छइ ॥ —दश ९।२।१-२

अर्थात्—जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ और फिर क्रम से पत्र, पुष्प, फल एव रस उत्पन्न होते हे, इसी प्रकार धर्मवृक्ष का मूल विनय हे और उसका अन्तिम फल एव रस मोक्ष हे।

विणओ सासणे मूल, विणीओ सजओ भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥ —आवश्यकचूर्णि।

जिनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा सयमी हो सकता हे। जो विनय से हीन हे, उसका कैसा धर्म और कैसा तप!

शिष्य का अहकार व उद्दण्डता एव अनुशासनहीनता गुरु के मन को खिन्न कर देती हे। उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया है—

रमए पडिए सास, हय भद्द व वाहए।
बाल सम्मइ सासतो, गलियस्स व वाहए ॥

अर्थात्—जैसे उत्तम घोडे का शिक्षक प्रसन्न होता है, वैसे ही विनीत शिष्यो को ज्ञान देने मे गुरु प्रसन्न होते है। किन्तु दुष्ट घोडे का शिक्षक और अविनीत शिष्य के गुरु खेदखिन्न होते है।

नम्रता मानव-जीवन का सुन्दर आभूषण है। इससे मनुष्य के गुण सौरभपूर्ण हो जाते है। विनम्रता जीवन का महान् गुण है। प्रस्तुत सूत्र मे अखण्ड आचार—चारित्र को पालने वाले मुनिराजो को साधक शिर से, मन से और मस्तक से वन्दन करता है, अथवा 'वन्दन करता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा करता है।

अठारह हजार शीलाग—शास्त्रकारो ने अठारह हजार शील-अगो की व्याख्या इस प्रकार की है—

जोगे करणे सण्णा, इदिय भोम्माइ समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहि अब्भत्था, अट्ठारह सीलसहस्साइ ॥

अर्थात्—तीन योग, तीन करण, चार सज्ञाएँ, पाच इन्द्रिया, दस प्रकार के पृथ्वीकाय आदि जीव और दस श्रमणधर्म—इन सबका परस्पर गुणाकार करने से शील के १८ हजार भेद होते है।

'शील' का अर्थ है 'आचार'। भेदानुभेद की दृष्टि से आचार के अठारह हजार प्रकार होते है। दसविध श्रमणधर्म—क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, सयम, तप, त्याग एव ब्रह्मचर्य। दशविध श्रमणधर्म के धारक मुनि, पृथ्वीकाय आदि पाच स्थावरो एव द्वीन्द्रिय आदि चार त्रसो और एक अजीव—इस प्रकार दश का आरभ नही करते है।

अठारह हजार शीलाङ्ग रथ इस प्रकार है—१ पृथ्वीकाय आरभ, २ अप्काय आरभ, ३ तेजस्काय आरभ, ४ वायुकाय आरभ, ५ वनस्पतिकाय आरभ, ६ द्वीन्द्रिय आरभ, ७ त्रीन्द्रिय आरभ, ८ चतुरिन्द्रिय आरभ, ९ पचेन्द्रिय आरभ, १० अजीव आरभ। ये दस भेद क्षान्ति के हुए, इसी प्रकार मुक्ति, आर्जव, यावत् ब्रह्मचर्य के ये सब श्रोत्रेन्द्रिय के साथ १०० भेद हुए, इसी प्रकार

चक्षुरिन्द्रिय के १००, घ्राणेन्द्रिय के १००, रसनेन्द्रिय के १००, स्पर्शेन्द्रिय के १००, ये सब आहार-सज्ञा के ५०० भेद हुए, इसी प्रकार भयसज्ञा के ५००, मैथुनसज्ञा के ५००, परिग्रहसज्ञा के ५००, ये सब २००० भेद हुए, इन्हे न करने, न कराने और न अनुमोदन करने के द्वारा तिगुणा करने पर ६००० भेद हुए, फिर इन्हे मन वचन और काया से तिगुणा करने पर १८००० भेद शीलाङ्गरथ के होते है।

बडी सलेखना का पाठ

अह भते! अपच्छिममारणतिय सलेहणा झूसणा आराहणा पौषधशाला, पू जे, पू जके उच्चार-पासवणभूमिका पडिलेहे, पडिलेह के, गमणागमणे, पडिक्कमे, पडिक्कम के, दर्भादिक सथारा सथारे, सथारके दर्भादिक सथारा दुरूहे, दुरूहके पूर्व तथा उत्तर दिशा सन्मुख पल्यकादिक आसन से बैठे, बैठ के 'करयलसपरिग्गहिय सिरसावत्त मत्थए अजलि कट्टु' एव बयासी 'नमोत्थुण अरिहताण भगवताण जाव सपत्ताण' ऐसे अनन्त सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके, 'नमोत्थु ण अरिहताण भगवताण जाव सपाविउकामाण' जयवन्ते वर्तमान काले महाविदेह क्षेत्र मे विचरते हुए तीर्थकर भगवान् को नमस्कार करके अपने धर्माचार्यजी महाराज को नमस्कार करता हूँ। साधु साध्वी प्रमुख चारो तीर्थ को खमाकर, सर्व जीवराशि को खमाकर, पहले जो व्रत आदरे है उनमे जो अतिचार दोष लगे हो, वे सर्व आलोच के, पडिक्कम के, निन्द के नि शल्य होकर के, सव्व पाणाइवाय पच्चक्खामि, सव्व मुसावाय पच्चक्खामि, सव्व आदिण्णादाण पच्चक्खामि, सव्व मेहुण पच्चक्खामि, सव्व परिग्गह पच्चक्खामि, सव्व कोह माण जाव मिच्छादसणसल्ल पच्चक्खामि, सव्व अकरणिज्ज जोग पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्न न समणुजाणामि मणसा, वयसा, कायसा ऐसे अठारह पापस्थानक पच्चक्ख कर, सव्व असण पाण, खाइम, साइम, चउव्विहपि आहार पच्चक्खामि जावज्जीवाए ऐसे चारो आहार पच्चक्ख कर ज पि य इम शरीर इट्ठ, कत, पिय, मणुण्ण, मणाम, धिज्ज, विसासिय सम्मय, अणुमय, बहुमय भण्डकरण्डसमाण रयणकरण्डभूय, मा ण सीय, मा ण उण्ह, मा ण खुहा, मा ण पिवासा, मा ण बाला, मा ण चोरा, मा ण दसमसगा, मा ण वाइय पित्तिय, कप्फिय, सभीय, सण्णिवाइय विविहा रोगायका परिसहा उवसग्गा फासा फुसन्तु, एव पि य ण चरमेहि उस्सासणिस्सासेहि वोसिरामि त्ति कट्टु ऐसे शरीर को वोसिरा कर काल अणवकखमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा, प्ररूपणा तो है, फरसना करू तब शुद्ध होऊ, ऐसे अपच्छिम मारणतिय सलेहणा, झूसणा, आराहणाए पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा ते आलोऊ इहलोगा-ससप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, जीवियाससप्पओगे, मरणाससप्पओगे, कामभोगाससप्पओगे, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—मृत्यु का समय निकट आने पर सलेखना तप का प्रीति पूर्वक सेवन करने के लिए सर्वप्रथम पौपधशाला का प्रमार्जन करे। मल-मूत्र त्यागने की भूमि का प्रतिलेखन करे। चलने-फिरने की क्रिया का प्रतिक्रमण कर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुह करके पल्यक (पालथी) आदि आसन लगाकर दर्भादिक के आसन पर बैठे और हाथ जोड कर शिर से आवर्तन करता हुआ

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्ती सुय सिग्घ, निस्सेस चाभिगच्छइ॥ —दश ९।२।१-२

अर्थात्—जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओ से प्रशाखाएँ और फिर क्रम से पत्र, पुष्प, फल एव रस उत्पन्न होते है, इसी प्रकार धर्मवृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एव रस मोक्ष है।

विणओ सासणे मूल, विणीओ सजओ भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो॥ —आवश्यकचूर्णि।

जिनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा सयमी हो सकता है। जो विनय से हीन हे, उसका कैसा धर्म और कैसा तप !

शिष्य का अहकार व उद्दण्डता एव अनुशासनहीनता गुरु के मन को खिन्न कर देती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया है—

रमए पडिए सास, हय भद्द व वाहए।
बाल सम्मइ सासतो, गलियस्स व वाहए॥

अर्थात्—जैसे उत्तम घोडे का शिक्षक प्रसन्न होता है, वैसे ही विनीत शिष्यो को ज्ञान देने मे गुरु प्रसन्न होते है। किन्तु दुष्ट घोडे का शिक्षक और अविनीत शिष्य के गुरु खेदखिन्न होते है।

नम्रता मानव-जीवन का सुन्दर आभूषण है। इससे मनुष्य के गुण सौरभपूर्ण हो जाते है। विनम्रता जीवन का महान् गुण है। प्रस्तुत सूत्र मे अखण्ड आचार—चारित्र को पालने वाले मुनिराजो को साधक शिर से, मन से और मस्तक से वन्दन करता है, अथवा 'वन्दन करता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा करता है।

अठारह हजार शीलाग—शास्त्रकारो ने अठारह हजार शील-अगो की व्याख्या इस प्रकार की है—

जोगे करणे सण्णा, इदिय भोम्माइ समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहि अब्भत्था, अट्ठारह सीलसहस्साइ॥

अर्थात्—तीन योग, तीन करण, चार सज्ञाएँ, पाच इन्द्रिया, दस प्रकार के पृथ्वीकाय आदि जीव और दस श्रमणधर्म—इन सबका परस्पर गुणाकार करने से शील के १८ हजार भेद होते है।

'शील' का अर्थ है 'आचार'। भेदानुभेद की दृष्टि से आचार के अठारह हजार प्रकार होते है। दसविध श्रमणधर्म—क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, सयम, तप, त्याग एव ब्रह्मचर्य। दशविध श्रमणधर्म के धारक मुनि, पृथ्वीकाय आदि पाच स्थावरो एव द्वीन्द्रिय आदि चार त्रसो और एक अजीव—इस प्रकार दश का आरभ नही करते है।

अठारह हजार शीलाङ्ग रथ इस प्रकार है—१ पृथ्वीकाय आरभ, २ अप्काय आरभ, ३ तेजस्काय आरभ, ४ वायुकाय आरभ, ५ वनस्पतिकाय आरभ, ६ द्वीन्द्रिय आरभ, ७ त्रीन्द्रिय आरभ, ८ चतुरिन्द्रिय आरभ, ९ पचेन्द्रिय आरभ, १० अजीव आरभ। ये दस भेद क्षान्ति के हुए, इसी प्रकार मुक्ति, आर्जव, यावत् ब्रह्मचर्य के ये सब श्रोत्रेन्द्रिय के साथ १०० भेद हुए, इसी प्रकार

चक्षुरिन्द्रिय के १००, घ्राणेन्द्रिय के १००, रसनेन्द्रिय के १००, स्पर्शेन्द्रिय के १००, ये सब आहार-संज्ञा के ५०० भेद हुए, इसी प्रकार भयसंज्ञा के ५००, मैथुनसंज्ञा के ५००, परिग्रहसंज्ञा के ५००, ये सब २००० भेद हुए, इन्हे न करने, न कराने और न अनुमोदन करने के द्वारा तिगुणा करने पर ६००० भेद हुए, फिर इन्हे मन वचन और काया से तिगुणा करने पर १८००० भेद शीलाङ्गरथ के होते है।

बडी संलेखना का पाठ

अह भते ! अपच्छिममारणतिय सलेहणा झूसणा आराहणा पौषधशाला, पू जे, पू जके उच्चार-पासवणभूमिका पडिलेहे, पडिलेह के, गमणागमणे, पडिक्कमे, पडिक्कम के, दर्भादिक सथारा सथारे, सथारके दर्भादिक सथारा दुरूहे, दुरूहके पूर्व तथा उत्तर दिशा सन्मुख पल्याकादिक आसन से बैठे, बैठ के 'करयलसपरिग्गहिय सिरसावत्त मत्थए अजलि कट्टु' एव वयासी 'नमोत्थुण अरिहताण भगवताण जाव सपत्ताण' ऐसे अनन्त सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके, 'नमोत्थु ण अरिहताण भगवताण जाव सपाविउकामाण' जयवन्ते वर्तमान काले महाविदेह क्षेत्र मे विचरते हुए तीर्थकर भगवान् को नमस्कार करके अपने धर्माचार्यजी महाराज को नमस्कार करता हूँ। साधु साध्वी प्रमुख चारो तीर्थ को खमाकर, सर्व जीवराशि को खमाकर, पहले जो व्रत आदरे है उनमे जो अतिचार दोष लगे हो, वे सर्व आलोच के, पडिक्कम के, निन्द के नि शल्य होकर के, सव्व पाणाइवाय पच्चक्खामि, सव्व मुसावाय पच्चक्खामि, सव्व आदिण्णादाण पच्चक्खामि, सव्व मेहुण पच्चक्खामि, सव्व परिग्गह पच्चक्खामि, सव्व कोह माण जाव मिच्छादसणसल्ल पच्चक्खामि, सव्व अकरणिज्ज जोग पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्न न समणुजाणामि मणसा, वयसा, कायसा ऐसे अठारह पापस्थानक पच्चक्ख कर, सव्व असण पाण, खाइम, साइम, चउव्विहपि आहार पच्चक्खामि जावज्जीवाए ऐसे चारो आहार पच्चक्ख कर ज पि य इम शरीर इट्ठ, कत, पिय, मणुण्ण, मणाम, धिज्ज, विसासिय सम्मय, अणुमय, बहुमय भण्डकरण्डसमाण रयणकरण्डभूय, मा ण सीय, मा ण उण्ह, मा ण खुहा, मा ण पिवासा, मा ण वाला, मा ण चोरा, मा ण दसमसगा, मा ण वाइय पित्तिय, कप्फिय, सभीय, सण्णिवाइय विविहा रोगायका परिसहा उवसग्गा फासा फुसन्तु, एव पि य ण चरमेहि उस्सासणिस्सासेहि वोसिरामि त्ति कट्टु ऐसे शरीर को वोसिरा कर काल अणवकखमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा, प्ररूपणा तो है, फरसना करू तब शुद्ध होऊ, ऐसे अपच्छिम मारणतिय सलेहणा, झूसणा, आराहणाए पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा ते आलोऊ इहलोगा-ससप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, जीवियाससप्पओगे, मरणाससप्पओगे, कामभोगाससप्पओगे, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—मृत्यु का समय निकट आने पर सलेखना तप का प्रीति पूर्वक सेवन करने के लिए सर्वप्रथम पौषधशाला का प्रमार्जन करे। मल-मूत्र त्यागने की भूमि का प्रतिलेखन करे। चलने-फिरने की क्रिया का प्रतिक्रमण कर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुह करके पल्यक (पालथी) आदि आसन लगाकर दर्भादिक के आसन पर बैठे और हाथ जोड कर शिर से आवर्तन करता हुआ

चक्षुरिन्द्रिय के १००, घ्राणेन्द्रिय के १००, रसनेन्द्रिय के १००, स्पर्शेन्द्रिय के १००, ये सब आहार-सज्ञा के ५०० भेद हुए, इसी प्रकार भयसज्ञा के ५००, मैथुनसज्ञा के ५००, परिग्रहसज्ञा के ५००, ये सब २००० भेद हुए, इन्हे न करने, न कराने और न अनुमोदन करने के द्वारा तिगुणा करने पर ६००० भेद हुए, फिर इन्हे मन वचन और काया से तिगुणा करने पर १८००० भेद शीलाङ्गरथ के होते है।

बडी सलेखना का पाठ

अह भते ! अपच्छिममारणतिय सलेहणा झूसणा आराहणा पौषधशाला, पू जे, पू जके उच्चार-पासवणभूमिका पडिलेहे, पडिलेह् के, गमणागमणे, पडिक्कमे, पडिक्कम के, दर्भादिक सथारा सथारे, सथारके दर्भादिक सथारा दुरूहे, दुरूहके पूर्व तथा उत्तर दिशा सन्मुख पल्याकादिक आसन से वैठे, बैठ के 'करयलसपरिग्गहिय सिरसावत्त मत्थए अजलि कट्टु' एव वयासी 'नमोत्थुण अरिहताण भगवताण जाव सपत्ताण' ऐसे अनन्त सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके, 'नमोत्थु ण अरिहताण भगवताण जाव सपाविउकामाण' जयवन्ते वर्तमान काले महाविदेह क्षेत्र मे विचरते हुए तीर्थकर भगवान् को नमस्कार करके अपने धर्माचार्यजी महाराज को नमस्कार करता हूँ। साधु साध्वी प्रमुख चारो तीर्थ को खमाकर, सर्व जीवराशि को खमाकर, पहले जो व्रत आदरे है उनमे जो अतिचार दोष लगे हो, वे सर्व आलोच के, पडिक्कम के, निन्द के नि शल्य होकर के, सव्व पाणाइवाय पच्चक्खामि, सव्व मुसावाय पच्चक्खामि, सव्व आदिण्णादाण पच्चक्खामि, सव्व मेहुण पच्चक्खामि, सव्व परिग्गह पच्चक्खामि, सव्व कोह माण जाव मिच्छादसणसल्ल पच्चक्खामि, सव्व अकरणिज्ज जोग पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्न न समणुजाणामि मणसा, वयसा, कायसा ऐसे अठारह पापस्थानक पच्चक्ख कर, सव्व असण पाण, खाइम, साइम, चउव्विहपि आहार पच्चक्खामि जावज्जीवाए ऐसे चारो आहार पच्चक्ख कर ज पि य इम शरीर इट्ठ, कत, पिय, मणुण्ण, मणाम, धिज्ज, विसासिय सम्मय, अणुमय, बहुमय भण्डकरण्डसमाण रयणकरण्डभूय, मा ण सीय, मा ण उण्ह, मा ण खुहा, मा ण पिवासा, मा ण वाला, मा ण चोरा, मा ण दसमसगा, मा ण वाइय पित्तिय, कप्फिय, सभीय, सण्णिवाइय विविहा रोगायका परिसहा उवसग्गा फासा फुसन्तु, एव पि य ण चरमेहि उस्सासणिस्सासेहि वोसिरामि त्ति कट्टु ऐसे शरीर को वोसिरा कर काल अणवकखमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा, प्ररूपणा तो है, फरसना करू तब शुद्ध होऊ, ऐसे अपच्छिम मारणतिय सलेहणा, झूसणा, आराहणाए पच्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा ते आलोऊ इहलोगा-ससप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, जीवियाससप्पओगे, मरणाससप्पओगे, कामभोगाससप्पओगे, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—मृत्यु का समय निकट आने पर सलेखना तप का प्रीति पूर्वक सेवन करने के लिए सर्वप्रथम पोषधशाला का प्रमार्जन करे। मल-मूत्र त्यागने की भूमि का प्रतिलेखन करे। चलने-फिरने की क्रिया का प्रतिक्रमण कर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुह करके पल्यक (पालथी) आदि आसन लगाकर दर्भादिक के आसन पर बैठे और हाथ जोड कर शिर से आवर्तन करता हुआ

मस्तक पर हाथ जोडकर "नमोत्थुण अरिहताण भगवताण जाव सपत्ताण" इस प्रकार बोलकर सिद्ध भगवान् को नमस्कार करे। तत्पश्चात् "नमोत्थुण अरिहताण भगवताण जाव सपाविउकामाण" ऐसा बोलकर वर्त्तमान काल मे महाविदेह क्षेत्र मे जो तीर्थकर विचर रहे है, उनको नमस्कार करे। फिर अपने धर्माचार्य जी महाराज को नमस्कार करे। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका इस प्रकार चतुर्विध सघ से क्षमायाचना करे, पुन समस्त जीवो से क्षमा मागे। पहले धारण किये हुए व्रतो मे जो अतिचार लगे हो उनकी आलोचना और निन्दा करे। सम्पूर्ण हिसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह—इन पाच पापो का तथा क्रोध, मान, माया, लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शल्य आदि अठारह पापस्थानो का तथा सम्पूर्ण पापजन्य योग का तीन करण और तीन योग से त्याग करे। जीवनपर्यन्त चारो प्रकार के आहार का त्याग करे। इसके पश्चात् जो अपना शरीर मनोज्ञ है, उस पर से ममत्व हटावे और सलेखना सबधी पापो अतिचारो को दूर करके शुद्ध अनशन करे। इस प्रकार श्रद्धा और प्ररूपणा की शुद्धि के लिये नित्य पाठ करे और अन्तिम समय मे स्पर्शना द्वारा शुद्ध हो।

विशिष्ट शब्दो का अर्थ इस प्रकार है—**इट्ठ**—इष्ट, इच्छानुकूल। **कत**—कमनीय। **पिय**—प्रिय, प्यारा। **मणुण्ण**—मनोज्ञ, मनोहर। **मणाम**—अत्यन्त मनोहर। **धिज्ज**—धारण करने योग्य, धैर्यशाली। **विसासिय**—विश्वास करने योग्य। **समय**—सन्मान को प्राप्त। **अणुमय**—विशेष सम्मान को प्राप्त, **बहुमय**—बहुत सन्मान को प्राप्त। **भण्डकरण्डगसमाण**—आभूषणो के करण्डक (डिब्बा) के समान। **रयणकरण्डगभूय**—रत्नो के करण्डक के समान। **मा ण सीय**—शीत (सर्दी) न हो। **मा ण उण्ह**—उष्णता (गर्मी) न हो। **मा ण खुहा**—भूख न लगे। **मा ण पिवासा**—प्यास न लगे। **मा ण वाला**—सर्प न काटे। **मा ण चोरा**—चोरो का भय न हो। **मा ण दसमसगा**—डास और मच्छर न सतावे। **मा ण वाहिय**—व्याधिया न हो। **पित्तिय**—पित्त। **कप्फिय**—कफ। **सभीम**—भयकर। **सन्निवाइय**—सन्निपात। **विविहा**—अनेक प्रकार के। **रोगायका**—रोग और आतक। **परिसहा**—क्षुधा आदि का कष्ट। **उवसग्गा**—उपसर्ग (देव, तिर्यंच आदि द्वारा दिया गया कष्ट।) **फासा फुसन्तु**—सम्बन्ध करे। **चरमेहिं**—अन्त के। **उस्सासनिस्सासेहिं**—उच्छ्वास-निश्वासो (श्वासोच्छ्वासो) से। **वोसिरामि**—त्याग करता हूँ। **त्ति कट्टु**—ऐसा करके। **काल अणवकखमाणे**—काल की आकाक्षा (वाछा) नही करता हुआ। **विहरामि**—विहार करता हूँ, विचरण करता हूँ। **इहलोगाससप्पओगे**—इस लोक के चक्रवर्ती आदि के सुखो की इच्छा करना। **परलोगाससप्पओगे**—परलोक सम्बन्धी इन्द्र के सुखो की इच्छा करना। **जीवियाससप्पओगे**—जीवित रहने की इच्छा करना। **मरणाससप्पओगे**—महिमा, पूजा न देखकर अथवा विशेष दुख होने से मरने की इच्छा करना। **कामभोगाससप्पओगे**—कामभोगो की इच्छा करना। **मा**—मत। **मज्झ**—मेरे। **हुज्ज**—हो। **मरणते वि**—मृत्यु हो जाने पर भी। **सड्डापरूवणम्मि**—श्रद्धा प्ररूपणा मे। **अन्नहाभावो**—विपरीत भाव।

पाचो पदो की वन्दना

पहले पद श्री अरिहन्त भगवान् जघन्य बीस तीर्थकरजी, उत्कृष्ट एक सौ साठ तथा एक सौ सत्तर देवाधिदेवजी, उनमे वर्त्तमान काल मे बीस विहरमान जी महाविदेह क्षेत्र मे विचरते है। एक हजार आठ लक्षण के धरणहार, चौतीस अतिशय, पैतीस वाणी करके विराजमान, चौसठ इन्द्रो के

वन्दनीय, अठारह दोष रहित, बारह गुण सहित, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र, अनन्त बलवीर्य, अनन्त सुख, दिव्यध्वनि, भामण्डल, स्फटिक सिंहासन, अशोक वृक्ष, कुसुमवृष्टि, देवदुन्दुभि, छत्र धरावे, चवर विजावे, पुरुषाकार पराक्रम के धरणहार, अढाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र मे विचरे, जघन्य दो करोड केवली और उत्कृष्ट नव करोड केवली, केवलज्ञान केवलदर्शन के धरणहार, सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के जाननहार—

ऐसे श्री अरिहत भगवन्त महाराज आपकी दिवस एव रात्रि सबधी अविनय आशातना की हो तो हे अरिहत भगवन् ! मेरा अपराध बारबार क्षमा करिये। हाथ जोड, मान मोड, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ।

(यहा तिक्खुत्तो का पाठ बोलना)

आप मगलिक हो, उत्तम हो, हे स्वामिन् ! हे नाथ ! आपका इस भव, परभव एव भव-भव मे सदाकाल शरण हो।

दूसरे पद श्री सिद्ध भगवान् पन्द्रह भेदे अनन्त सिद्ध हुए है—तीर्थसिद्धा, अतीर्थसिद्धा, तीर्थकरसिद्धा, अतीर्थकरसिद्धा, स्वयबुद्धसिद्धा, प्रत्येकबुद्धसिद्धा, बुद्धबोधितसिद्धा, स्त्रीलिगसिद्धा, पुरुषलिगसिद्धा, नपु सकलिगसिद्धा, स्वलिगसिद्धा, अन्यलिगसिद्धा, गृहस्थलिगसिद्धा, एकसिद्धा, अनेकसिद्धा। जहा जन्म नही, जरा नही, मरण नही, भय नही, रोग नही, शोक नही, दु ख नही, दारिद्रय नही, कर्म नहा, काया नही, मोह नही, माया नही, चाकर नही, ठाकर नही, भूख नही, तृषा नही, ज्योत मे ज्योत विराजमान, सकल कार्य सिद्ध करके चवदे प्रकारे पन्द्रह भेदे अनन्तसिद्ध भगवान् हुए है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, क्षायक सम्यक्त्व, अनन्तसुख, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरुलघु, अनन्तवीर्य्य, ये आठ गुण करके सहित है।

ऐसे श्री सिद्ध भगवन्त जी महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो बारम्बार हे सिद्ध भगवान् ! मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड, मान मोड, शीश नमा कर, तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ। यावत् भव-भव सदा काल शरण हो।

तीसरे पद श्री आचार्य महाराज छत्तीस गुण करके विराजमान है, पाच महाव्रत पाले, पाच आचार पाले, पाच इन्द्रिय जीते, चार कषाय टाले, नववाड सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य पाले, पाच समिति, तीन गुप्ति शुद्ध आराधे, ये छत्तीस गुण और आठ सम्पदा (१ आचार सम्पदा, २ श्रुत सम्पदा, ३ शरीर सम्पदा ४ वचन सम्पदा, ५ वाचना सपदा, ६ मति सम्पदा, ७ प्रयोगमति सपदा, ८ परिज्ञा सपदा) सहित है।

ऐसे आचार्य महाराज न्यायपक्षी, भद्रिक परिणामी, त्यागी, वैरागी, महागुणी, गुणानुरागी ऐसे श्री आचार्य जी महाराज आपकी दिवस एव रात्रि सबधी अविनय आशातना की हो तो बारम्बार मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड, मान मोड, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ यावत् भव-भव सदा काल शरण हो।

चौथे पद श्री उपाध्याय जी महाराज पच्चीस गुण करके सहित (ग्यारह अङ्ग, बारह उपाग चरणसत्तरी, करणसत्तरी इन से युक्त) है तथा अङ्ग-उपाग सूत्रो को मूल अर्थ सहित जाने।

ग्यारह अग—आचाराग, सूयगडाग, ठाणाग, समवायाग, विवाह-पन्नत्ति (भगवती), णायाधम्मकहा (ज्ञाताधर्मकथा), उपासकदसा, अतगडदसा, अणुत्तरोववाई, पण्हावागरणा (प्रश्नव्याकरण), विवाग-सुय (विपाकश्रुत)।

बारह उपाग—उववाई, रायप्पसेणी, जीवाजीवाभिगम, पन्नवणा, जम्बुदीवपन्नत्ति, चन्दपन्नत्ति, सूरपन्नत्ति, निरयावलिया, कप्पवडसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वह्निदशा।

चार मूलसूत्र—उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन), दसवेयालियसुत्त (दशवैकालिकसूत्र) णदी-सुत्त (नन्दीसूत्र) अणुओगद्दार (अनुयोगद्वार)।

चार छेदसूत्र—दसासुयक्खधो (दशाश्रुतस्कध), विहक्कप्पो (बृहत्कल्प), ववहारसुत्त (व्यवहारसूत्र), णिसीहसुत्त (निशीथसूत्र) और बत्तीसवा आवस्सग (आवश्यक) तथा सात नय, चार निक्षेप, स्वमत और परमत के जानकार, जिन नही पर जिन सरीखे, केवली नही पर केवली सरीखे।

ऐसे श्री उपाध्याय जी महाराज मिथ्यात्व रूप अधकार के मेटनहार, समकित रूप उद्योत के करनहार, धर्म से डिगते हुए प्राणी को स्थिर करे, सारए, वारए, धारए, इत्यादि अनेक गुण करके सहित है ऐसे श्री उपाध्याय जी महाराज आपकी दिवस एव रात्रि सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो बारम्बार हे उपाध्यायजी महाराज! मेरा अपराध क्षमा करिये, हाथ जोड, मान मोड, शीश नमाकर, तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ (करती हूँ)। यावत् भव-भव सदा काल शरण हो।

पाचवे पद 'णमो लोए सव्वसाहूण' अढाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र रूप लोक मे सर्व साधुजी महाराज जघन्य दो हजार करोड, उत्कृष्ट नव हजार करोड जयवन्त विचरे, पाच महाव्रत, पाच इन्द्रिय जीते चार कषाय टाले, भावसच्चे, करणसच्चे, जोगसच्चे, क्षमावन्ता वैराग्यवन्ता, मन समाधारणिया, वयसमाधारणिया, कायसमाधारणिया, नाणसपन्ना, दसणसपन्ना, चारित्रसपन्ना, वेदनीयसमाअहियासनीया, मरणान्तियसमाअहियासनीया, ऐसे सत्ताईस गुण करके सहित है। पॉच आचार वाले, छ काय की रक्षा करे, आठ मद छोडे, दश प्रकार यति धर्म धारे, बारह भेदे तप करे, सत्रह भेदे सयम पाले, बावीस परिषह जीते, बयालीस दोष टालकर आहार पानी लेवे, सैतालीस दोष टालकर भोगवे, बावन अनाचार टाले, तेडिया आवे नही, नेतिया जीमे नही, सचित्त के त्यागी, अचित्त के भोगी इत्यादि मोह ममता रहित है।

ऐसे मुनिराज महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो बारम्बार हे मुनिराज! मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड, मान मोड, शीश नमाकर, तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार नमस्कार करता हूँ (करती हूँ), यावत् भव-भव मे सदा काल शरण हो।

दर्शनसम्यक्त्व का पाठ

अरिहन्तो मह देवो, जावज्जीव सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्त तत्त, इय सम्मत्त मए गहिय॥
परमत्थसथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावण्ण-कुदसण-वज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा॥

इअ सम्मत्तस्स पच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तजहा ते आलोउ—सका, कखा, वितिगिच्छा, पर-पासडपससा, परपासडसथवो ।

इस प्रकार श्री समकित रत्न पदार्थ के विषय मे जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊ—

१ श्री जिनवचन मे शका की हो,
२ परदर्शन की आकाक्षा की हो,
३ परपाखडी की प्रशसा की हो,
४ परपाखडी का परिचय किया हो,
५ धर्मफल के प्रति सन्देह किया हो,

ऐसे मेरे सम्यक्त्व-रत्न पर मिथ्यात्व रूपी रज-मैल लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

भावार्थ—राग-द्वेष आदि आभ्यन्तर शत्रुओ को जीतने वाले वीतराग अरिहत भगवान् मेरे देव है, जीवन पर्यन्त सयम की साधना करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु है तथा वीतरागकथित अर्थात् श्री जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट अहिसा, सत्य आदि ही मेरा धर्म है । यह देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा-स्वरूप सम्यक्त्व व्रत मैने यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया है एव मुझको जीवादि पदार्थो का परिचय हो, भली प्रकार जीवादि तत्त्वो को तथा सिद्धान्त के रहस्य को जानने वाले साधुओ की सेवा प्राप्त हो, सम्यक्त्व से भ्रष्ट तथा मिथ्यात्वी जीवो की सगति कदापि न हो, ऐसी सम्यक्त्व के विषय मे मेरी श्रद्धा बनी रहे ।

मैने वीतराग के वचन मे शका की हो, जो धर्म वीतराग द्वारा कथित नही है, उसकी आकाक्षा की हो, धर्म के फल मे सदेह किया हो, या साधु-साध्वी आदि महात्माओ के वस्त्र, पात्र, शरीर आदि को मलिन देखकर घृणा की हो, परपाखण्डी का चमत्कार देखकर उसकी प्रशसा की हो तथा पर-पाखण्डी से परिचय किया हो तो मै उसकी आलोचना करता हूँ । मेरा वह सब पाप निष्फल हो ।

गुरु-गुण-स्मरणसूत्र

पचिदिय-सवरणो, तह नवविह बभचेर-गुत्तिधरो ।
चउविह-कसाय-मुक्को, इअ अट्ठारस-गुणेहि सजुत्तो ।।
पच महव्वय-जुत्तो, पचविहायार-पालण-समत्थो ।
पच-समिओ-तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरू मज्झ ।।

भावार्थ—पाच इन्द्रियो के वैषयिक चाचल्य को रोकने वाले, ब्रह्मचर्य की नवविध गुप्तियो को—नौ वाडो को धारण करने वाले, क्रोध आदि चार प्रकार के कषायो से मुक्त इस प्रकार अठारह गुणो से सयुक्त, अहिसा आदि पाच महाव्रतो से युक्त, पाच आचारो को पालने मे समर्थ, पाच समिति और तीन गुप्ति को धारण करने वाले, इस प्रकार उक्त छत्तीस गुणो वाले श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु है ।

दोहा

अनन्त चौबीसी जिन नमू, सिद्ध अनन्ते कोड ।
केवलज्ञानी गणधरा, वन्दू वे कर जोड ।। १ ।।

दोय कोडि केवलधरा, विहरमान जिन वीस ।
सहस्र युगल कोडि नमू, साधु नमू निशदीश ।। २ ।।
धनसाधु, धनसाध्वी, धन-धन है जिनधर्म ।
ये समर्‍या पातक झरे, टूटे आठो कर्म ।। ३ ।।
अरिहन्त सिद्ध समरु सदा, आचारज उपाध्याय ।
साधु सकल के चरण को, वन्दू शीश नवाय ।। ४ ।।
शासननायक सुमरिये, भगवन्त वीर जिणद ।
अलिय विघन दूरे हरे, आपे परमानन्द ।। ५ ।।
अगुष्ठे अमृत वसे, लब्धि तणा भण्डार ।
श्री गुरु गौतम सुमरिये, वछित फल दातार ।। ६ ।।
गुरु गोविन्द दोनो खडे, किसके लागू पाय ।
वलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो वताय ।। ७ ।।
लोभी गुरु तारे नही, तिरे सो तारणहार ।
जो तू तिरियो चाह तो, निर्लोभी गुरु धार ।। ८ ।।
साधु सती ने शूरमा, ज्ञानी ने गजदन्त ।
इतना पीछा ना हटे, जो जुग जाय पडन्त ।। ९ ।।
गुरु दीपक गुरु चादणी, गुरु विन घोर अन्धार ।
पलक न विसरू तुम भणी, गुरु मुझ प्राण आधार ।। १० ।।

क्षामणासूत्र

आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
जे मे केई कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ।। १ ।।
सव्वस्स समणसघस्स, भगवओ अजलि करिअ सीसे ।
सव्व खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयपि ।। २ ।।
सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्मनिहियनियचित्तो ।
सव्व खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयपि ।। ३ ।।
(मरणसमाधि प्रकीर्णक और सस्तारक-प्रकीर्णक)
रागेण व दोसेण व, अहवा अकयण्णुणा पडिनिवेसेण ।
ज मे किं चि वि भणिअ, तमह तिविहेण खामेमि ।। ४ ।।

भावार्थ—आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गण, इनके ऊपर मैने जो कुछ कषाय किये हो, उन सब से मैं मन, वचन और काया से क्षमा चाहता हूँ ।। १ ।।

अञ्जलिवद्ध दोनो हाथ जोडकर समस्त पूज्य मुनिगण से मै अपराध की क्षमा चाहता हूँ और मै भी उन्हे क्षमा करता हूँ ।। २ ।।

धर्म मे चित्त को स्थिर करके सम्पूर्ण जीवो से मै अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ और स्वय भी उनके अपराध को क्षमा करता हूँ ।। ३ ।।

राग-द्वेष, अकृतज्ञता अथवा आग्रह वश मैने जो कुछ भी कहा हो, उसके लिए मे मन, वचन, काया से सभी से क्षमा चाहता हूँ ॥ ४ ॥

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु[1], वेर मज्भ न केणइ ॥
एवमह आलोइय, निदिय गरिहिय दुगछिय सम्म।
तिविहेण पडिक्कतो, वदामि जिणे चउव्वीस ॥

भावार्थ—मैने किसी जीव का अपराध किया हो तो मै उससे क्षमा चाहता हूँ। सभी प्राणी मुझे क्षमा करे। ससार के प्राणिमात्र से मेरी मित्रता है, मेरा किसी से वैर-विरोध नही हे।

मै अपने पापो की आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काय से प्रतिक्रमण कर, पापो से निवृत्त होकर चौवीस तीर्थकर देवो को वन्दना करता हूँ।

विवेचन—मन भावनाओ का भण्डार है। इसमे असख्य शुभाशुभ भावनाएँ विद्यमान रहती है और इन शुभाशुभ भावनाओ के फलस्वरूप हर क्षण अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओ का आत्मा के साथ बन्ध होता रहता है। शुभ भावनाओ से शुभ कर्मो का और अशुभ भावनाओ से अशुभ कर्मो का। इन बन्धनो के कारण ही आत्मा अनादि काल से चौदह राजू परिमित लोक मे, चौरासी लाख जीवयोनियो मे परिभ्रमण करता हुआ पौद्गलिक अस्थायी सुख-दु खो का भोग भी करता आ रहा है। सुख को अपेक्षा आत्मा ने दु ख एव पीडाएँ बहुत सहन की है। कोटानुकोटि जन्मो के बाद आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, मानव जन्म, आदि दस बोलो की जीव को प्राप्ति हुई है और साथ ही वीतराग वाणी श्रवण करने का तथा सत-समागम का सुअवसर भी प्राप्त हुआ है। अब आवश्यकता है अटल आस्था के साथ कर्म और आत्मा अर्थात् जड-चेतन के स्वरूप को समझकर आत्म-उत्थान के हेतुओ को जीवन मे उतारने की।

आत्मकल्याण के कारणो मे प्रथम हेतु क्षमा-धर्म ही है। शास्त्र का वचन है—

दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तजहा—१ खती, २. मुत्ती, ३ अज्जवे, ४ मद्दवे, ५ लाघवे, ६ सच्चे, ७ सयमे, ८. तवे, ९ चियाए, १० बभचेरवासे। —समवायागसूत्र

क्षमाश्रमण भगवान् महावीर ने दस प्रकार के यतिधर्मो मे सर्वप्रथम क्षमा को ही बताया है। साधक जीवन मे क्षमाधर्म की अनिवार्य आवश्यकता है। क्षमा के अभाव मे व्यक्ति किसी भी क्षेत्र मे सुख-शान्तिमय जीवन नही जी सकता है। वास्तव मे 'क्षमा' मनुष्य का नैसर्गिक गुण है, इसे किसी भी परिस्थिति मे मनुष्य को छोडना नही चाहिये। क्षमा तथा प्रेम के प्रभाव से क्रूर हृदय भी वदले जा सकते है। कहा भी है—

"क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया कि न साध्यते ?" —सुभाषितसचय

अर्थात् क्षमा ससार मे वशीकरण मत्र है, क्षमा से क्या सिद्ध नही होता ? सबसे बडा तप क्षमा ही है। 'क्षान्तितुल्य तपो नास्ति'—क्षमा के बरावर दूसरा तप नही है।

---

१ सव्व जीवेसु, इति जिनदास महत्तरा ।

अपनी आत्मा के अभ्युदय का दृढ सकल्प रखने वाले साधक निश्चय ही मन को सयत बनाने मे अर्थात् क्षमा करने मे समर्थ होते हे । भोगो के प्रलोभन उन्हे आकर्षित नही कर सकते, लालसाएँ उन्हे भावित नही कर पाती तथा भीषण विपत्तिया और सकट उन्हे व्याकुल नही कर सकते । सयत व्यक्ति के हृदय पर लोभ के आक्रमण-प्रहार बेअसर हो जाते है तथा क्रोध की अग्नि उसके क्षमा-सागर मे आकर समाप्त हो जाती हे । ऐसा पुरुष शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तो का समन्वय करके जिन-प्ररूपित नियमो के अनुसार साधना-रत रहता है । साधना-निरत व्यक्ति से कभी छद्मस्थ अवस्था के कारण जाने-अनजाने यदि भूल हो जाए तो वह तत्काल अपने अपराधो की सरल हृदय से क्षमायाचना कर लेता हे ।

प्रतिक्रमण की परिसमाप्ति पर प्रस्तुत क्षमापना सूत्र का उच्चारण करते समय मनोयोग, वचनयोग और काययोग—इन तीनो का समन्वय होना आवश्यक हे । जीवन को निष्कलुष और निर्मल बनाने के लिए विगत भूलो पर पश्चात्ताप करना आवश्यक है, किन्तु पश्चात्ताप यदि कोरा पश्चात्ताप ही रहे तो उससे कुछ भी लाभ नही होता । पश्चात्ताप होने पर भूल को सुधारने का मन मे ध्रुव सकल्प भी होना चाहिये और जो भूले पहले हो चुकी हे, उन्हे फिर न दोहराने का प्रयत्न करना चाहिये । तभी साधक का सच्चा क्षमापनासूत्र जीवन-उत्थान मे उपयोगी बन सकता हैं । इस क्षमायाचना से जीवन के अपराधी सस्कार समाप्त हो जाते है और जीवन मे शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है तथा हृदय मे नवीन प्रकाश की किरणे स्फुटित हो जाती है । जैसे करोडो वर्षो से अन्धकाराच्छादित तामस गुफा मे चक्रवर्ती का मणिरत्न (छह खण्ड की विजय करते समय) क्षण भर मे आलोक फैला देता है, इसी प्रकार क्षमा गुण से सयुक्त सयत के जीवन मे आत्मज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित हो जाता है ।

चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ—

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायुकाय, दश लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख चतुरिन्द्रिय, चार लाख नारकी, चार लाख देवता, चार लाख तिर्यञ्च पचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य, ऐसे चार गति मे चौरासी लाख जीवयोनि के सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त किसी जीव का हालते-चालते, उठते-बैठते, जानते-अजानते हनन किया हो, कराया हो, हनता प्रति अनुमोदन किया हो, छेदा-भेदा हो, किलामणा उपजाई हो, मन, वचन, काया करके अठारह लाख चौवीस हजार एक सौ बीस (१८,२४,१२०) [1] प्रकारे तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

विवेचन—चार गति मे जितने भी ससारी जीव है, उनकी चौरासी लाख योनिया है । योनि का अर्थ है—जीवो के उत्पन्न होने का स्थान । समस्त जीवो के ८४ लाख प्रकार के उत्पत्ति-स्थान है ।

१ जीव तत्त्व के ५६३ भेदो को अभिहयादि दशो के साथ गुणाकार करने से ५६३० भेद होते ह । फिर इनको राग और द्वेष के साथ द्विगुण करने से ११२६० भेद बनते ह । फिर इन्ही को मन, वचन, काया के साथ त्रिगुणा करने से ३३७८० भेद हो जाते ह । फिर तीन करणो के साथ गुणाकार करने से १०१३४० भेद बन जाते हे, इनको पुन तीन काल के साथ गुणाकार करने से ३०४०२० भेद होते हे । फिर अरिहन्त, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय, गुरु और आत्मा, इस प्रकार छह से गुणा करने पर १८२४१२० भेद बनते हे । इस प्रकार से मै मिच्छा मि दुक्कड देता हूँ और फिर पापकर्म न करने की प्रतिज्ञा करता हूँ ।

यद्यपि स्थान तो इससे भी अधिक है, परन्तु वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान के रूप मे जितने भी स्थान परस्पर समान होते है, उन सबका मिलकर एक ही स्थान माना जाता है।

पृथ्वीकायिक जीवो के मूल भेद ३५० है। पाँच वर्ण से उक्त भेदो को गुणा करने से १७५० भेद होते है। पुन दो गन्ध से गुणा करने पर ३५००, पुन पाच रस मे गुणा करने पर १७५००, पुन आठ स्पर्श से गुणा करने पर १,४०,०००, पुन पाच सस्थान से गुणा करने पर कुल सात लाख भेद होते है।

पृथ्वीकाय के समान ही जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय के भी प्रत्येक के मूल भेद ३५० है। उनको पाच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की सात लाख योनिया हो जाती है। प्रत्येक वनस्पति के मूल भेद ५०० है। उनको पाच वर्ण आदि से गुणा करने से कुल दस लाख योनिया हो जाती है। कन्दमूल की जाति के मूल भेद ७०० है, अत उनको पाच वर्ण आदि से गुणा करने पर कुल १४,००,००० योनिया होती है।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय रूप विकलत्रय के प्रत्येक के मूल भेद १००-१०० है। उनको पाच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की कुल चार-चार लाख योनिया होती है। मनुष्य जाति के मूल भेद ७०० है, अत पाँच वर्ण आदि से गुणा करने से मनुष्य की कुल १४,००,००० योनिया हो जाती है।

कुल कोडी खमाने का पाठ—

पृथ्वीकाय के बारह लाख कुलकोडी, अप्काय के सात लाख कुलकोडी, तेजस्काय के तीन लाख कुलकोडी, वायुकाय के सात लाख कुलकोडी, वनस्पतिकाय के अट्ठाईस लाख कुलकोडी, द्वीन्द्रिय के सात लाख कुलकोडी, त्रीन्द्रिय के आठ लाख कुलकोडी, चतुरिन्द्रिय के नव लाख कुलकोडी, जलचर के साढे बारह लाख कुलकोडी, स्थलचर के दस लाख कुलकोडी, खेचर के बारह लाख कुलकोडी, उर-परिसर्प के दस लाख कुलकोडी, भुजपरिसर्प के नव लाख कुलकोडी, नरक के पच्चीस लाख कुलकोडी, देवता के छब्बीस लाख कुलकोडी, मनुष्य के बारह लाख कुलकोडी, यो एक करोड साढे सत्तानवे लाख कुलकोडी की विराधना की हो तो देवसी सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

प्रणिपात-सूत्र

नमोत्थुण
अरिहताण, भगवताण ॥ १ ॥
आइगराण, तित्थयराण, सयसबुद्धाण ॥ २ ॥
पुरिसुत्तमाण, पुरिस-सीहाण,
पुरिसवरपु डरीयाण, पुरिसवरगधहत्थीण ॥ ३ ॥
लोगुत्तमाण, लोगनाहाण, लोगहियाण,
लोगपईवाण, लोगपज्जोयगराण ॥ ४ ॥
अभयदयाण, चक्खुदयाण, मग्गदयाण,
सरणदयाण, जीवदयाण, वोहिदयाण ॥ ५ ॥

धम्मदयाण, धम्मदेसयाण, धम्मनायगाण,
धम्मसारहीण, धम्मवर-चाउरत-चक्कवट्टीण ।। ६ ।।
दीवो ताण-सरण-गई-पइट्ठाण,
अप्पडिहय-वरनाण-दसणधराण, वियट्टछउमाण ।। ७ ।।
जिणाण, जावयाण, तिण्णाण, तारयाण,
बुद्धाण बोहयाण, मुत्ताण, मोयगाण ।। ८ ।।
सव्वन्नूण, सव्वदरिसीण,
सिव-मयलमरुय-मणत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति-सिद्धिगइनामधेय ठाण सपत्ताण,
नमो जिणाण, जियभयाण ।।

भावार्थ—श्री अरिहन्त भगवन्तो को नमस्कार हो। (अरिहत भगवान् कैसे है ?) धर्म की आदि करने वाले है। धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले है, (परोपदेश विना) स्वय ही प्रवुद्ध हुए है।

पुरुषो मे श्रेष्ठ हे, पुरुपो मे सिह (के समान पराक्रमी) है, पुरुषो मे श्रेष्ठ पुण्डरीक– श्वेत कमल के समान हैं, पुरुपो मे श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती है। लोक मे उत्तम है लोक के नाथ है, लोक के हितकर्ता है, लोक मे दीपक है, लोक मे उद्योत करने वाले है।

अभय देने वाले है, ज्ञान रूपी नेत्र देने वाले है, धर्ममार्ग को देने वाले है, शरण देने वाले है, मयम रुप जीवन के दाता है, धर्म के उपदेशक हे, धर्म के नेता है, धर्म के सारथी—सचालक है।

चार गति का अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती है, अप्रतिहत एव श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले है, ज्ञानावरण आदि घातिकर्मो से अथवा प्रमाद से रहित है।

स्वय राग-द्वेष को जीतने वाले हे, दूसरो को जिताने वाले है, स्वय ससार-सागर से तर गए है, दूसरो को तारने वाले है, स्वय बोध पा चुके है, दूसरो को बोध देने वाले है, स्वय कर्म से मुक्त है, दूसरो को मुक्त कराने वाले है।

सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है तथा शिव—कल्याणरूप, अचल—स्थिर, अरुज—रोग रहित, अनन्त– अन्त रहित, अक्षय—क्षय रहित, अव्याबाध—वाधा-पीडा रहित, अपुनरावृति—पुनरागमन से रहित अर्थात् जन्म-मरण से रहित, सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके है, भय को जीतने वाले है, राग-द्वेष को जीतने वाले है—ऐसे जिन भगवन्तो को मेरा नमस्कार हो।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अरिहन्त और सिद्ध भगवान् को नमस्कार किया गया है। अनादि काल से अब तक अनन्त अरिहन्त और सिद्ध हो चुके है, इस कारण तथा उनकी महत्ता—उत्कृष्टता प्रकट करने के लिए मूल पाठ मे बहुवचन का प्रयोग किया गया है। रागादि आन्तरिक रिपुओ को विनष्ट करने वाले अरिहन्त कहलाते है और आत्मा के साथ बधे आठ कर्मो को समूल भस्म कर देने वाले लोकोत्तर महापुरुष सिद्ध कहे जाते है। उन जैसा पद प्राप्त करने एव जिस प्रशस्त पथ पर प्रयाण करके उन्होने परमोत्तम पद प्राप्त किया है, उसी पथ पर चलकर उस पद को प्राप्त करने के लिए अपने अन्त करण मे सकल्प एव सामर्थ्य जागृत करने के लिए उन्हे नमस्कार किया जाता है।

मूल पाठ मे कतिपय विशेषण ऐसे भी है जिनका रहस्य हमे विशेष रूप से ध्यान मे रखना चाहिये। भगवान् को 'अभयदयाण' आदि कहा गया है, अर्थात् भगवान् अभयदाता है, चक्षुदाता है, मार्ग के दाता है, बोधि के दाता है, इत्यादि। किन्तु जैनदर्शन के अनुसार, भगवान् के स्वय के कथनानुसार कोई किसी को शुभ या अशुभ फल प्रदान नही कर सकता। आगम मे कहा है—'अप्पा कत्ता विकत्ता य।' अर्थात् पुरुष स्वय अपने कर्मो का कर्ता-हर्ता और सुख-दु ख का जनक है। आचार्य अमितगति ने इसी तथ्य को स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया है—

स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा॥

अर्थात् अतीत काल मे आत्मा ने स्वय जो शुभ या अशुभ कर्म किए है, उन्ही का शुभ या अशुभ फल वह प्राप्त करता है। यदि दूसरे के द्वारा दिया फल मिलता हो तो स्पष्ट है कि अपने किए कर्म निष्फल हो जाये।

आगे वही कहते है—

निजार्जित कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसो परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥

अर्थात् अपने उपार्जित कर्मो के सिवाय कोई किसी को कुछ भी नही देता। ऐसा विचार करके अनन्यमनस्क बनो—अपनी ओर दृष्टि लगाओ। दूसरा कोई कुछ देता है, इस बुद्धि का परित्याग कर दो।

जैनदर्शन का यह सच्चा आत्मवाद है और यह आत्मा के अनन्त, असीम पुरुषार्थ को जगाने वाला है। यह किसी के समक्ष दैन्य दिखला कर भिखारी न बनने का महामूल्य मत्र है। यही पारमार्थिक दृष्टि है, तो फिर भगवान् को अभय आदि का दाता क्यो कहा गया है?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य के कारण दो प्रकार के होते है—उपादान और निमित्त। कार्य की निष्पत्ति दोनो प्रकार के कारणो से होती है, एक से नही। घट बनाने के लिए जैसे उपादान मृत्तिका आवश्यक है, उसी प्रकार कुम्भकार, चाक आदि निमित्तकारण भी अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इस नियम के अनुसार अपने उत्कर्ष का—मोक्ष का उपादान कारण स्वय आत्मा है और निमित्तकारण अरिहन्त भगवान् एव तत्प्ररूपित धर्म सघ आदि है। व्यवहारनय से निमित्त-कारण को भी कर्त्ता कहा जाता है, जैसे कुभार को घट का कर्त्ता कहा जाता है। अत प्रस्तुत पाठ मे भी व्यवहारनय की दृष्टि की प्रधानता से अरिहन्त भगवान् को 'दाता' कहा है, क्योकि अरिहन्त भगवान् उस पथ के उपदेष्टा है, जिसका अनुसरण करने से जीव सदा काल के लिए अभय—भयमुक्त बनता है। 'अभय' शब्द का अर्थ 'सयम' भी है। भगवान् सयमोपदेष्टा होने से भी अभयदाता है। इसी प्रकार चक्षुदाता आदि विशेषणो के विषय मे भी समझ लेना चाहिये।

विशिष्ट शब्दो का अर्थ—भगवताण—भगवन्तो को। 'भग' शब्द के छह अर्थ है—१ ऐश्वर्य—

वैभव, २ रूप, ३ यश कीर्ति, ४ श्री—शोभा, ५ धर्म और ६ प्रयत्न-पुरुषार्थ ।[1] ये छह विशेषताएँ जिनमे समग्र सर्वोत्कृष्ट रूप मे विद्यमान हो, वे भगवान् कहलाते है ।

आइगर—आदिकर—आदि करने वाले । धर्म यद्यपि वस्तु का स्वभाव होने के कारण अनादि-अनन्त है, तथापि अहिसा, तप, सयम आदि रूप व्यवहार धर्म की मर्यादाओ मे विभिन्न युगो मे जो विकृति आ जाती है, उसे दूर करके धर्म के वास्तविक स्वरूप को, उसकी मर्यादाओ को काल के अनुरूप प्रस्थापित करने के कारण भगवान् आदिकर कहलाते है ।

पुरिससीह—पुरुषसिह—वन्य पशुओ मे सिह सबसे अधिक पराक्रमशाली गिना जाता है और निर्भय होकर विचरता है । इसी प्रकार भगवान् अनन्त पराक्रमी और निर्भय होने के कारण पुरुषसिह—पुरुषो मे सिह के समान है ।

पुरिसवरगधहत्थी—पुरुषवरगन्धहस्ती—गन्धहस्ती वह कहलाता है जिसके गण्डस्थल से सुगन्धित मद झरता रहता है । उस मद की सुगन्ध की अतिशय उग्रता के कारण अन्य हस्ती घबरा जाते है—दूर भाग जाते है । गधहस्ती मागलिक भी माना जाता है । भगवान् के सन्मुख जाते ही अन्य वादी निर्मद हो जाते है—टिक नही सकते है और भगवान् परम मागलिक भी है, अतएव पुरुषो मे श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान है ।

लोगनाह—लोकनाथ—योग अर्थात् अप्राप्त पदार्थ को प्राप्त कराने वाला तथा क्षेम अर्थात् प्राप्त पदार्थ की रक्षा करने वाला 'नाथ' कहलाता है—'योगक्षेमकरो नाथ ।' भगवान् अप्राप्त मगलमय धर्म की प्राप्ति कराने वाले और प्राप्त धर्म की विविध विधियो के उपदेश द्वारा रक्षा करने वाले है । भगवान् विश्व के समस्त प्राणियो को समभाव से धर्म का उपदेश करते है, अतएव समग्र लोक के नाथ है ।

लोगपईव—लोकप्रदीप—लोक मे अथवा लोक के लिए उत्कृष्ट दीपक । लौकिक दीपक परिमित क्षेत्र मे बाह्य अन्धकार को विनष्ट करके प्रकाश करता है, परन्तु भगवान् प्र-दीप-प्रकृष्ट दीप है, जो अनादिकाल से आत्मा मे रहे हुए मिथ्यात्वजन्य अज्ञानान्धकार को सदा के लिए दूर करते है । दीप-प्रकाश मे अत्यल्प और स्थूल दृष्टिगोचर हो सकने वाले पदार्थ ही भासित होते है, किन्तु भगवान् के केवलज्ञान रूपी लोकोत्तर प्रदीप मे त्रिकाल सबधी, सूक्ष्म-स्थूल, इन्द्रियगम्य, अतीन्द्रिय, सभी पदार्थ प्रतिभासित होते है । द्रव्य-दीप मे स्थूल पदार्थ भी अपने सम्पूर्ण रूप मे दिखाई नही देते, केवल उनका रूप और आकार ही दृष्टिगोचर होता है, भगवान् के ज्ञानप्रदीप मे प्रत्येक पदार्थ अपने अनन्त-अनन्त गुण-पर्यायो समेत प्रतिबिम्बित होता है । द्रव्य-दीप तैलक्षय, पवन के वेग आदि कारणो से बुझ जाता है, परन्तु भगवान् का ज्ञानप्रदीप एक बार प्रज्वलित होकर सदैव प्रज्वलित ही रहता है । अतएव वह दीप नही प्रदीप—लोकोत्तर दीपक है । भगवान् का ज्ञान भगवान् से अभिन्न है और वह समग्र लोको के लिए प्रकाश-प्रदाता है, अतएव भगवान् लोकप्रदीप है ।

अपुणरावित्ति—अपुनरावृत्ति—सिद्धिगति-स्थान के लिए अनेक विशेषणो का यहाँ प्रयोग किया गया है । वे विशेषण सुगम है । मोक्ष शिव अर्थात् सब प्रकार के उपद्रवो से रहित है, अचल—

---

१ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशस श्रिय ।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णा भग इतीङ्गना । —दशवैकालिकचूर्णि—जिनदास

स्थिर है, अरुज—सभी प्रकार के बाह्याभ्यन्तर रोगो से रहित है, अनन्त है—उसका कदापि अन्त नही होता, अक्षत है, अर्थात् उसमे कभी कोई क्षति—न्यूनता नही आती, अव्याबाध है समस्त बाधाओ से विवर्जित है और अपुनरावृत्ति है, अर्थात् एक बार सिद्धि प्राप्त हो जाने पर फिर कभी वहाँ से वापिस नही लौटना पडता।

यहाँ विचारणीय है कि अनन्त और अक्षत (अक्षय) विशेषणो का प्रयोग करने के पश्चात् 'अपुनरावृत्ति' विशेषण के प्रयोग की क्यो आवश्यकता हुई ? समाधान यह है कि कतिपय दार्शनिको की ऐसी मान्यता है कि मुक्तात्मा जब अपने तीर्थ की अवहेलना होते देखते है तो उसके रक्षण के लिए मोक्ष को छोडकर पुन ससार मे आ जाते है। इस मान्यता को भ्रान्त बतलाने के लिए इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। जैसे बीज के दग्ध हो जाने पर उसमे अकुर उत्पन्न नही होता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भव-अकुर उत्पन्न नही हो सकता। तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती कर्म ही नवीन कर्म को उत्पन्न करता है, एक बार कर्म का समूल नाश हो जाने पर नवीन कर्मो का उद्भव सभव नही है और कर्म के अभाव मे पुन ससार मे जन्म होना सभव नही। वस्तुत मोक्ष-पद सादि और अनन्त है। इस आशय को व्यक्त करने के लिए 'अपुनरावृत्ति' पद का प्रयोग किया गया है।

'नमोत्थुण' पाठ दो बार पढा जाता है—अरिहन्त भगवन्तो को लक्ष्य करके और सिद्ध भगवन्तो को लक्ष्य करके। जब अरिहन्तो को लक्ष्य करके पढा जाता है तो **'ठाण सपाविउकामाण'** ऐसा बोला जाता है और जब सिद्ध भगवन्तो की स्तुति की जाती है तो **'ठाण सपत्ताण'** ऐसा पाठ बोला जाता है। दोनो पाठो के अर्थ मे अन्तर इस प्रकार है—'ठाण सपाविउकामाण' अर्थात् मुक्ति पद को प्राप्त करने का लक्ष्य रखने वाले—ध्येय वाले। 'ठाण सपत्ताण' का अर्थ है—मुक्ति पद को जो प्राप्त कर चुके है। □

व्रतों की उपयोगिता

१ जीवन को सुघड बनाने वाली ओर आलोक की ओर ले जाने वाली मर्यादाएँ नियम कहलाती है अथवा जो मर्यादाएँ सार्वभौम है, प्राणिमात्र के लिए हितावह ह और जिनसे स्वपर का हितसाधन होता है, उन्हे नियम या व्रत कहा जा सकता है।

२ अपने जीवन के अनुभव मे आने वाले दोपो को त्यागने का दृढ सकल्प उत्पन्न होता है, तभी व्रत की उत्पत्ति होती हे।

३ सरिता के सतत गतिशील प्रवाह को नियत्रित रखने के लिए दो किनारे आवश्यक होते है, इसी प्रकार जीवन को नियंत्रित, मर्यादित और गतिशील बनाये रखने के लिए व्रतो की आवश्यकता है। जेसे किनारो के अभाव मे प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है, इसी प्रकार व्रतविहीन मनुष्य की जीवनशक्ति भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवनशक्ति को केन्द्रित और योग्य दिशा मे उसका उपयोग करने के लिए व्रतो की अत्यन्त आवश्यकता है।

४ आकाश मे ऊचा उडने वाला पतग सोचता है मुझे डोर के बन्धन की क्या आवश्यकता है। यह डोर न हो तो मै स्वच्छन्द भाव से गगन-विहार कर सकता हूँ। किन्तु हम जानते है कि डोर टूट जाने पर पतग की क्या दशा होती है। डोर टूटते ही पतग के उन्मुक्त व्योमविहार का स्वप्न भग हो जाता है और उसे धूल मे मिलना पडता हे। इसी प्रकार जीवन रूपी पतग को उन्नत रखने के लिए व्रतो की डोर साथ बधे रहने की आवश्यकता है।

चार प्रकार से व्रतो मे दोप लगता है—

१ अतिक्रम—स्वीकृत व्रत को भग करने की इच्छा होना।
२ व्यतिक्रम—स्वीकृत व्रत को भग करने हेतु तत्पर होना।
३ अतिचार—स्वीकृत व्रत को एकदेश भग करना।
४ अनाचार—स्वीकृत व्रत को सर्वथा भग करना।

इन दोषो से व्रतो की रक्षा करना आवश्यक है और प्रमादवश कदाचित् दोष लग जाए तो उसका प्रतिक्रमण करके शुद्धि कर लेना चाहिए। इसी दृष्टि से यहाँ अतिचारो का पाठ दिया गया है। स्मरण रहे कि यह प्रतिक्रमण-पाठ श्रावक-श्राविकाओ के व्रतो से सबधित है। □

बारह व्रतों के अतिचारों का प्रतिक्रमण

१ अहिंसाणुव्रत के अतिचार

पहला अणुव्रत—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमण, त्रस जीव वेइन्दिय, तेइन्दिय, चउरिन्दिय, पचिदिय, जान के पहचान के सकल्प करके उसमे स्व सम्बन्धी शरीर के भीतर मे पीडाकारी, सापराधी को छोडकर निरपराधी को आकुट्टी (हनने) को बुद्धि से हनने का पच्चक्खाण जावज्जीवाए दुविह तिविहेण—न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा। ऐसे पहले स्थूल प्राणातिपात वेरमण व्रत के पच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा ते आलोउ—वधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाणविच्छेह, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—श्रावक के व्रत बारह है, उनमे पाच अणुव्रत मूल और सात उत्तर गुण कहलाते है। गृहीत व्रतो का देशत उल्लघन अतिचार कहलाता है। प्रत्येक व्रत के पाच-पाच अतिचार है। उनमे यहाँ अहिसाणुव्रत के पाच अतिचारो की शुद्धि का विधान किया गया है। मैं स्व, सम्बन्धी (अपने और अपने सबधी जनो) के शरीर मे पीडाकारी अपराधी जीवो को छोडकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय त्रस जीवो की हिसा सकल्प करके मन, वचन और काया से न करूंगा और न कराऊगा। मैने किसी जीव को यदि वन्धन से बाधा हो, चाबुक, लाठी आदि से मारा हो, पीटा हो, किसी जीव के चर्म का छेदन किया हो, अधिक भार लादा हो तथा अन्न-पानी का विच्छेद किया हो तो वे सब पाप निष्फल हो।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ श्रावक अहिसाणुव्रत मे निरपराध त्रस जीवो की सकल्पी हिसा का ही त्याग करता है। वह स्थावर जीवो की हिसा का त्यागी नही होता। किन्तु उनकी भी निरर्थक हिसा का त्याग करता है। त्रस जीवो मे भी अपराधी की हिसा का नही, केवल निरपराध जीवो की हिसा त्यागता है और निरपराधो की भी सकल्पी हिसा का—'मै इसे मार डालू' इस प्रकार की बुद्धि से घात करने का त्याग करता है। कृषि, गृह-निर्माण, व्यवसाय आदि मे निरपराध त्रस जीवो का भी हनन होता है, तथापि वह आरभी हिसा है, सकल्पी नही। अतएव गृहस्थ श्रावक उसका त्यागी नही। इस कारण उसका पहला व्रत स्थूल प्राणातिपातविरमण कहलाता है। यह दो करण और तीन योग से स्वीकार किया जाता है।

२ मृषावादविरमणव्रत के अतिचार

दूजा अणुव्रत—थूलाओ मुसावायाओ वेरमण, कन्नालीए, गोवालीए, भोमालीए, णासावहारो (थापणमोसो), कूडसक्खिज्जे (कूडी साख) इत्यादिक मोटा झूठ बोलने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए दुविहतिविहेण—न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा एव दूजा स्थूल मृषावाद वेरमण व्रत के पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा ते आलोउ—सहसब्भक्खाणे, रहस्सब्भक्खाणे, सदारमन्तभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—मैं जीवनपर्यन्त मन, वचन, काया से स्थूल झूठ नहीं बोलूंगा और न बोलाऊंगा। कन्या-वर के संबंध में, गाय, भैंस आदि पशुओं के विषय में तथा भूमि के विषय में कभी असत्य नहीं बोलूंगा। किसी की रखी हुई धरोहर (सौंपी हुई रकम आदि) के विषय में असत्यभाषण नहीं करूंगा और न धरोहर को हीनाधिक बताऊंगा तथा झूठी साक्षी नहीं दूंगा। यदि मैंने किसी पर झूठा कलंक लगाया हो, एकान्त में मंत्रणा करते हुए व्यक्तियों पर झूठा आरोप लगाया हो, अपनी स्त्री के गुप्त विचार प्रकाशित किए हों, मिथ्या उपदेश दिया हो, झूठा लेख (स्टाम्प, बही-खाता आदि) लिखा हो तो मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

३ अदत्तादानविरमणाणुव्रत के अतिचार

तीजा अणुव्रत—थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमण खात खनकर, गांठ खोलकर, ताले पर कूंची लगाकर, मार्ग में चलते को लूटकर, पड़ी हुई धणियाती मोटी वस्तु जानकर लेना, इत्यादि मोटा अदत्तादान का पच्चक्खाण, सगे सम्बन्धी व्यापार सम्बन्धी तथा पड़ी निर्भ्रमी वस्तु के उपरान्त अदत्तादान का पच्चक्खाण जावज्जीवाए दुविह तिविहेण—न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं तीजा स्थूल अदत्तादान वेरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोउं—तेनाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्धरज्जाइक्कमे, कूडतुल्लकूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ—मैं किसी के मकान में खात लगाकर अर्थात् भींत (खोदकर) फोड़कर, गांठ खोलकर, ताले पर कूंची लगाकर अथवा ताला तोड़कर किसी की वस्तु को नहीं लूंगा, मार्ग में चलते हुए को नहीं लूटूंगा, किसी की मार्ग में पड़ी हुई मोटी वस्तु को नहीं लूंगा, इत्यादि रूप से सगे सम्बन्धी, व्यापार सम्बन्धी तथा पड़ी हुई शंका रहित वस्तु के उपरान्त स्थूल चोरी को मन-वचन-काया से न करूंगा और न कराऊंगा। यदि मैंने चोरी की वस्तु ली हो, चोर को सहायता दी हो, या चोरी करने का उपाय बतलाया हो, लड़ाई के समय विरुद्ध राज्य में आया-गया होऊं, झूठा तोल व माप रखा हो, अथवा उत्तम वस्तु दिखाकर खराब वस्तु दी हो (वस्तु में मिलावट की हो), तो मैं इन कुकृत्यों (बुरे कामों) की आलोचना करता हूँ। वे मेरे सब पाप निष्फल हों।

४ ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

चौथा अणुव्रत—थूलाओ मेहुणाओ वेरमण सदारसंतोसिए[1] अवसेस मेहुणविहिं पच्चक्खामि जावज्जीवाए देव देवी सम्बन्धी दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा तथा मनुष्य तिर्यञ्च सम्बन्धी एगविहं एगविहेणं न करेमि कायसा एवं चौथा स्थूल स्वदारसंतोष, परदारविवर्जन रूप मैथुनवेरमणव्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोउं—इत्तरिय परिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अनंगक्रीडा, परविवाहकरणे, कामभोग-तिव्वाभिलासे, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

---

१ 'स्वदारसंतोष' ऐसा पुरुष को बोलना चाहिये और स्त्री को 'स्वपतिसंतोष' ऐसा बोलना चाहिये।

भावार्थ— चौथे अणुव्रत मे स्थूल मैथुन से विरमण किया जाता है। मै जीवनपर्यन्त अपनी विवाहिता स्त्री मे ही सतोष रखकर शेष सब प्रकार के मैथुन-सेवन का त्याग करता हूँ अर्थात् देव-देवी सम्बन्धी मैथुन का सेवन मन, वचन, काया मे न करू गा और न कराऊगा। मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुनसेवन काया से न करू गा। यदि मैने इत्वरिका परिगृहीता अथवा अपरिगृहीता से गमन करने के लिये आलाप-सलापादि किया हो, प्रकृति के विरुद्ध अगो मे कामक्रीडा करने की चेष्टा की हो, दूसरे के विवाह करने का उद्यम किया हो, कामभोग की तीव्र अभिलापा की हो तो मै इन दुष्कृत्यो की आलोचना करता हूँ। वे मेरे सब पाप निष्फल हो।

५ परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार

पाचवा अणुव्रत— थूलाओ परिग्गहाओ वेरमण, खेत्तवत्थु का यथापरिमाण, हिरण्ण-सुवण्ण का यथापरिमाण, धन-धान्य का यथापरिमाण, दुपय-चउप्पय का यथापरिमाण, कुविय धातु का यथापरिमाण, जो परिमाण किया है उसके उपरान्त अपना करके परिग्रह रखने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए एगविह तिविहेण न करेमि मणसा, वयसा, कायसा एव पाचवा स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत के पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, त जहा ते आलोऊ— खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे, हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे, धणधरणप्पमाणाइक्कमे, दुपयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे, कुवियप्पमाणाइक्कमे तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—खेत—खुली जगह, वास्तु—महल-मकान आदि, सोना-चादी, दास-दासी, गाय, हाथी, घोडा, चौपाये आदि, धन-धान्य तथा सोना-चादी के सिवाय कासा, पीतल, तावा, लोहा आदि धातु तथा इनसे बने हुए बर्तन आदि और शैय्या, आसन, वस्त्र आदि घर सम्बन्धी वस्तुओ का मैने जो परिमाण किया है, इसके उपरान्त सम्पूर्ण परिग्रह का मन, वचन, काया से जवन पर्यन्त त्याग करता हूँ। यदि मैने खेत, वास्तु—महल—मकान के परिमाण का उल्लघन किया हो, सोना, चादी के परिमाण का उल्लघन किया हो, धन, धान्य के परिमाण का उल्लघन किया हो, दास, दासी आदि द्विपद और हाथी, घोडा आदि चतुष्पद की सख्या के परिमाण का उल्लघन किया हो, (इनके अतिरिक्त) दूसरे द्रव्यो की मर्यादा का उल्लघन किया हो तो मै उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे वे सब पाप निष्फल हो।

६ दिग्व्रत के अतिचार

छठा दिशिव्रत—उड्ढदिसि का यथापरिमाण, अहोदिसि का यथापरिमाण, तिरियदिसि का यथापरिमाण किया हो, उसके उपरान्त स्वेच्छा से काया से आगे जाकर पाच आश्रव सेवन का पच्चक्खाण जावज्जीवाए छठे एगविह तिविहेण—न करेमि मणसा, वयसा, कायसा एव छठे दिशिव्रत के पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा ते आलोऊ—उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे, अहोदिसिप्पमाणइक्कमे, तिरियदिसिप्पमाणाइक्कमे, खित्तवुड्ढी, सइअन्तरद्धा, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—जो मैने ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक्दिशा का परिमाण किया है, उसके आगे गमनागमन आदि क्रियाओ को मन, वचन, काया से न करू गा। यदि मैने ऊर्ध्वदिशा,

अधोदिशा और तिर्यक्‌दिशा का जो परिमाण किया है उसका उल्लघन किया हो, क्षेत्र को बढाया हो, क्षेत्रपरिमाण की सीमा मे सदेह होने पर आगे चला होऊ तो मै उसकी आलोचना करता हूँ। मेरे वे सब पाप मिथ्या हो।

ऊची, नीची, तिरछी दिशाओ के उल्लघन को यहाँ अतिचार कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मर्यादा की हुई भूमि से बाहर जाने की इच्छा कर रहा है लेकिन बाहर गया नही है तब तक अतिचार है, बाहर चले जाने पर अनाचार है।

७ उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत के अतिचार

सातवा व्रत—उवभोग-परिभोगविहिं पच्चक्खायमाणे—१ उल्लणियाविहि, २ दतणविहि, ३. फलविहि, ४ अब्भगणविहि, ५ उवट्टणविहि, ६ मज्जणविहि, ७ वत्थविहि, ८ विलेवणविहि, ९ पुप्फविहि, १० आभरणविहि, ११ धूवविहि, १२ पेज्जविहि, १३ भक्खणविहि, १४ ओदणविहि, १५ सूपविहि, १६. विगयविहि, १७ सागविहि, १८ महुरविहि, १९ जीमणविहि, २० पाणीअविहि, २१ मुखवासविहि, २२ वाहणविहि, २३ उवाहणविहि, २४ सयणविहि, २५ सचितविहि, २६ दव्वविहि, इत्यादि का यथापरिमाण किया है, इसके उपरान्त उवभोग-परिभोग वस्तु को भोगनिमित्त से भोगने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए, एगविह तिविहेण न करेमि मनसा, वयसा, कायसा एव सातवा उवभोग-परिभोग दुविहे पन्नत्ते, त जहा—भोयणाओ य, कम्मओ य। भोयणाओ समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा ते आलोउ—सचिताहारे, सचित्तपडिबद्धाहारे, अप्पउलिओसहिभक्खणया, दुप्पउलिओसहिभक्खणया, तुच्छोसहिभक्खणया। कम्मओ य ण समणोवासएण पण्णरस कम्मादाणाइ जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइ, त जहा ते आलोउ—इगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दतवाणिज्जे, लक्खवाणिज्जे, रसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, जतपीलणकम्मे, निल्लछण-कम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईजणपोसणया, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—मैने शरीर पोछने के अगोछे आदि वस्त्र का, दातौन करने का, आवला आदि फल से बाल धोने का, तेल आदि की मालिश करने का, उबटन करने का, स्नान करने के जल का, वस्त्र पहनने का, चन्दनादि का लेपन करने का, पुष्प सू घने का, आभूषण पहनने का, धूप जलाने का, दूध आदि पीने का, चावल-गेहू आदि का, मू ग आदि की दाल का, विगय (दूध, दही, घी, गुड आदि) का, शाक-भाजी का, मधुर रस का, जीमने का, पीने के पानी का, इलायची-लोग इत्यादि मुख को सुगन्धित करने वाली वस्तुओ का, घोडा, हाथी, रथ आदि सवारी का, जूते आदि पहनने का, शय्या-पलग आदि का, सचित वस्तु के सेवन का तथा इनसे बचे हुए बाकी के सभी पदार्थो का जो परिमाण किया है, उसके सिवाय उपभोग तथा परिभोग मे आने वाली सब वस्तुओ का त्याग करता हूँ।

उपभोग-परिभोग दो प्रकार का है—भोजन (भोग्य पदार्थ) सम्बन्धी और कर्म (जिन व्यापारो से भोग्य पदार्थ की प्राप्ति होती है उन वाणिज्य) सम्बन्धी। भोजन सम्बन्धी उपभोग-परिभोग के पाच और कर्म सम्बन्धी उपभोग-परिभोग के पन्द्रह, इस तरह इस व्रत के कुल बीस अतिचार

होते है । वे निम्न प्रकार है, उनकी आलोचना करता हूं । यदि मैंने १ मर्यादा मे अधिक सचित्त वस्तु का आहार किया हो, २ सचित्त वृक्षादि के साथ लगे हुए गोद आदि पदार्थो का आहार किया हो, ३ अग्नि से विना पकी हुई वस्तु का भोजन किया हो, ४ अधपकी वस्तु का भोजन किया हो, ५ तुच्छ औषधि का भक्षण किया हो तथा पन्द्रह कर्मादान का सेवन किया हो तो मैं उनकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा सब पाप निष्फल हो ।

एक बार उपयोग मे आने वाली वस्तु आहारादि की गणना उपभोग मे और बार-बार काम मे आने वाली वस्त्र आदि वस्तु परिभोग मे गिनी जाती है । जिनसे तीव्रतर कर्मो का आदान—ग्रहण-बन्धन होता है, वे व्यवसाय या धन्धे कर्मादान है । उनकी सख्या पन्द्रह है और अर्थ इस प्रकार है—

१ **इगाल-कर्म**—लकडियो के कोयले बनाने का, भडभू जे का, कु भार का, लोहार का, सुनार का, ठठेरे-कसेरे का और ई ट पकाने का धन्धा करना 'अगार-कर्म' कहलाता है ।

२ **वन-कर्म**—वनस्पतियो के छिन्न या अच्छिन्न पत्तो, फूलो या फलो को बेचना तथा अनाज को दलने या पीसने का धन्धा करना[1] 'वन-जीविका' है ।

३ **शकट-कर्म**—छकडा, गाडी आदि या उनके पहिया आदि अगो को बनाने, बनवाने, चलाने तथा बेचने का धन्धा करना 'शकट-जीविका' है ।

४ **भाटक-कर्म**—गाडी, बैल, भैसा, ऊ ट, गधा, खच्चर आदि पर भार लादने की अर्थात् इनसे भाडा-किराया कमाकर आजीविका चलाना 'भाटक-जीविका' है ।

५ **स्फोट-कर्म**—तालाब, कूप, बावडी आदि खुदवाने और पत्थर फोडने-गढने आदि पृथ्वी-काय की प्रचुर हिसा रूप कर्मो से आजीविका चलाना[2] 'स्फोट-जीविका' है ।

६ **दन्त-वाणिज्य**—हाथी के दात, चमरी गाय आदि के बाल, उलूक आदि के नाखून, शख आदि की अस्थि, शेर-चीता आदि के चर्म और हस आदि के रोम और अन्य त्रस-जीवो के अगो को उनके उत्पत्ति स्थान मे जाकर लेना या पेशगी द्रव्य देकर खरीदना 'दन्त-वाणिज्य' कहलाता है ।

७ **लाक्षा-वाणिज्य**—लाख, मेनसिल, नील, धातकी के फूल, छाल आदि, टकण-खार आदि पाप के कारण है, अत उनका व्यापार भी पाप का कारण है । यह 'लाक्षा-वाणिज्य' कर्मादान कहलाता है ।

८-९ **रस केश-वाणिज्य**—मक्खन, चर्बी, मधु और मद्य आदि बेचना 'रस-वाणिज्य' कहलाता है और द्विपद एव चतुष्पद अर्थात् पशु-पक्षी आदि का विक्रय करने का धन्धा करना 'केश-वाणिज्य' कहलाता है ।

१० **विष-वाणिज्य**— विष, शस्त्र, हल, यत्र, लोहा और हरताल आदि प्राणघातक वस्तुओ का व्यापार करना 'विष-वाणिज्य' कहलाता है ।

---

१ वन मे से घास, लकडी काट कर लाना और बेचना ।

२ जमीन फोडकर खनिज पदार्थ निकालना बेचना ।

११ यत्रपीडन-कर्म—तिल, ईख, सरसो और एरड आदि को पीलने का तथा रहँट आदि चलाने का धधा करना, तिलादि देकर तेल लेने का धधा करना और इस प्रकार के यत्रो को बनाकर आजीविका चलाना 'यत्रपीडन-कर्म' कहलाता है।

१२ निर्लांछन-कर्म—जानवरो की नाक बीधना—नत्थी करना, आकना—डाम लगाना, बधिया—खस्सी करना, ऊट आदि की पीठ गालना और कान तथा गल-कबल का छेदन करना 'निर्लांछन-कर्म' कहा गया है।

१३ असती-पोषण-कर्म—मना, तोता, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा एव मयूर को पालना, दासी का पोषण करना—किसी को दास-दासी बनाकर रखना और पैसा कमाने के लिए दुश्शील स्त्रियो को रखना 'असती-पोषण-कर्म' कहलाता है।

१४-१५ दवदाव तथा सर-शोषण-कर्म—आदत के वश होकर या पुण्य समझ कर दव-जगल मे आग लगाना 'दव-दाव' कहलाता है और तालाब, नदी, द्रह आदि को सुखा देना 'सर शोष-कर्म' है।

टिप्पण—उक्त पन्द्रह कर्मादान दिग्दर्शन के लिए है। इनके समान विशेष हिसाकारी अन्य व्यापार-धधे भी है जो श्रावक के लिए त्याज्य है। यही बात अन्यान्य व्रतो के अतिचारो के सबध मे भी समझनी चाहिए। एक-एक व्रत के पाच-पाच अतिचारो के समान अन्य अतिचार भी व्रत-रक्षा के लिए त्याज्य है।
—योगशास्त्र, तृतीय प्र १०१-११३

८ अनर्थदण्डविरमणव्रत के अतिचार

आठवा अणट्ठादण्डविरमणव्रत—चउव्विहे अणट्ठादडे पण्णत्ते त जहा—अवज्झाणायरिए, पमायायरिए, हिसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे (जिसमे आठ आगार—आए वा, राए वा, नाए वा, परिवारे वा, देवे वा, नागे वा, जक्खे वा, भूए वा, एत्तिएहि आगारेहि अण्णत्थ) जावज्जीवाए दुविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा कायसा एव आठवा अणट्ठादडविरमणव्रत के पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा ते आलोऊ—कदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, सजुत्ताहिगरणे, उवभोग-परिभोगाइरित्ते तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—बिना प्रयोजन दोषजनक-हिसाकारी कार्य करना अनर्थदड है। इसके चार भेद है—अपध्यान, प्रमादचर्या, हिसादान और पापोपदेश। इष्ट सयोग एव अनिष्ट वियोग की चिता करना, दूसरो को हानि पहुँचाने आदि का विचार करना अर्थात् मन मे किसी भी प्रकार का दुर्ध्यान करना अपध्यान है। असावधानी से काम करना, धार्मिक कार्यो को त्याग कर दूसरे कार्यो मे लगे रहना प्रमादचर्या है। दूसरो को हल, ऊखल-मूसल, तलवार-बन्दूक आदि बिना प्रयोजन हिसा के उप-करण देना हिसादान है। पाप कार्यो का दूसरो को उपदेश देना पापोपदेश है।

मै इन चारो प्रकार के अनर्थदण्ड का त्याग करता हूँ। (यदि आत्मरक्षा के लिए, राजा की आज्ञा से, जाति के तथा परिवार के, कुटुम्ब के मनुष्यो के लिए, यक्ष, भूत आदि देवो के वशीभूत होकर अनर्थदण्ड का सेवन करना पडे तो इनका आगार (अपवाद—छूट) रखता हूँ। इन आगारो के सिवाय) मै जन्मपर्यन्त अनर्थदण्ड का मन, वचन, काया से स्वय सेवन नही करूगा और न कराऊगा।

यदि मैने काम जागृत करने वाली कथाएँ की हो, भाडो की तरह दूसरो को हसाने के लिए हसी-दिल्लगी की हो या दूसरो की नकल की हो, निरर्थक वकवाद किया हो, तलवार, ऊखल, मूसल आदि हिंसाकारी हथियारो या औजारो का निष्प्रयोजन सग्रह किया हो, मकान बनाने आदि आरभ-हिंसा का उपदेश दिया हो, अपनी तथा कुटुम्बियो की आवश्यकताओ के सिवाय अन्न, वस्त्र आदि का सग्रह किया हो तो मै उसकी आलोचना करता हूँ ओर मै चाहता हूँ कि मेरे सब पाप निष्फल हो।

९ सामायिकव्रत के अतिचार

नववा सामायिकव्रत—सावज्ज जोग पच्चक्खामि जावनियम पज्जुवासामि, दुविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा, ऐसी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, सामायिक का अवसर आए सामायिक करू तब फरसना करके शुद्ध होऊ एव नवमे सामायिकव्रत के पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा ते आलोउ—मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ अकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—मैं मन-वचन-काया की दुष्ट प्रवृत्ति को त्याग कर जितने काल का नियम किया है, उसके अनुसार सामायिकव्रत का पालन करूँगा। मन मे बुरे विचार उत्पन्न नही होने से, कठोर या पापजनक वचन नही बोलने से, काया की हलन-चलन आदि क्रिया को रोकने से आत्मा मे जो शाति-समाधि उत्पन्न होती है, उसको सामायिक कहते हैं। इसलिए मैं नियमपर्यन्त मन, वचन, काया से पापजनक क्रिया न करूगा और न दूसरो से कराऊगा। यदि मैने सामायिक के समय मे बुरे विचार किए हो, कठोर वचन या पापजनक वचन बोले हो, अयतनापूर्वक शरीर से चलना-फिरना, हाथ पाव को फैलाना-सकोचना आदि क्रियाए की हो, सामायिक करने का काल याद न रखा हो तथा अल्प-काल तक या अनवस्थित रूप से जैसे-तैसे ही सामायिक की हो तो (तस्स मिच्छा मि दुक्कड) मै आलोचना करता हूँ। मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

१० देशावकाशिकव्रत के अतिचार

दसवा देसावगासिकव्रत—दिन प्रति प्रभात से प्रारभ करके पूर्वादिक छहो दिशा मे जितनी भूमिका की मर्यादा रक्खी हो, उसके उपरात आगे जाने का तथा दूसरो को भेजने का पच्चक्खाण जाव अहोरत्त दुविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा। जितनी भूमिका की मर्यादा रक्खी है, उसमे जो द्रव्यादिक की मर्यादा की है, उसके उपरान्त उपभोग-परिभोग निमित्त से भोगने का पच्चक्खाण जाव अहोरत्त एगविह, तिविहेण न करेमि मणसा, वयसा, कायसा, एव दसवे देसावगासिक व्रत के पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा ते आलोउ—आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहिया पुग्गलपक्खेवे, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—छठे दिग्व्रत मे सदा के लिए जो दिशाओ का परिमाण किया है, देशावकाशिक व्रत मे उसका प्रतिदिन सकोच किया जाता है। मै उस सकोच किये गये दिशाओ के परिमाण से बाहर के क्षेत्र मे जाने का तथा दूसरो को भेजने का त्याग करता हूँ। एक दिन और एक रात तक

परिमाण की गई दिशाओ से आगे मन, वचन, काया मे न स्वय जाऊगा और न दूसरो को भेजू गा। मर्यादित क्षेत्र मे द्रव्यादि का जितना परिमाण किया है, उस परिमाण के सिवाय उपभोग-परिभोग निमित्त से भोगने का त्याग करता हूँ। मन, वचन, काया मे मै उनका सेवन नही करू गा। देशावकाशिक व्रत की आराधना मे यदि मैने मर्यादा मे बाहर की कोई वस्तु मगाई हो, मर्यादा से बाहर के क्षेत्र मे किसी वस्तु को मगाने के लिए या लेन-देन करने के लिए किसी को भेजा हो, मर्यादा से बाहर के क्षेत्र मे रहने वाले मनुष्य को शब्द करके अपना ज्ञान कराया हो, मर्यादा से बाहर के मनुष्यो को बुलाने के लिए अपना या पदार्थ का रूप दिखाया हो या ककर आदि फेककर अपना ज्ञान कराया हो तो मै आलोचना करता हूँ। मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

११ पौषधव्रत के अतिचार

ग्यारहवा पडिपुण्णपौषधव्रत—असण पाण खाइम साइम का पच्चक्खाण, अबभसेवन का पच्चक्खाण, अमुक मणि-सुवर्ण का पच्चक्खाण, माला-वन्नग-विलेवण का पच्चक्खाण, सत्थ मुसलादिक सावज्ज जोग सेवन का पच्चक्खाण जाव अहोरत्त पज्जुवासामि दुविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि मणसा, वयसा, कायसा, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, पौषध का अवसरे पौषध करू तब फरसना करके शुद्ध होऊ एव ग्यारहवा प्रतिपूर्णपौषधव्रत का पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा ते आलोउ—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सेज्जासथारए, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सेज्जासथारए, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमि, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चारपासवणभूमि, पोसहस्स सम्म अणणुपालणया, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—मै प्रतिपूर्ण पौषधव्रत के विषय मे एक दिन एव रात के लिए अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अब्रह्मचर्य सेवन का, अमुक मणि-सुवर्ण आदि के आभूषण पहिनने का, फूलमाला पहिनने का, चूर्ण और चन्दनादि के लेप करने का, तलवार आदि शस्त्र और हल, मूसल आदि ओजारो के प्रयोग सबधी जितने सावद्य व्यापार है, उन सबका त्याग करता हूँ। यावत् एक दिन-रात पोषधव्रत का पालन करता हुआ मै उक्त पाप-क्रियाओ को मन, वचन, काया से नही करू गा और न अन्य से करवाऊगा, ऐसी मेरी श्रद्धा-प्ररूपणा तो है किन्तु पौषध का समय आने पर जब उसका पालन करू गा तब शुद्ध होऊगा। पौषधव्रत के समय शय्या के लिए जो कुश, कम्बल आदि आसन हे उनका मैने प्रतिलेखन और प्रमार्जन नही किया हो अथवा यतनापूर्वक अच्छी तरह प्रतिलेखन और प्रमाजन न किया हो, मल-मूत्र त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन न किया हो अथवा अच्छी तरह से न किया हो तथा सम्यक् प्रकार आगमोक्त मर्यादा के अनुसार पोषध का पालन न किया हो तो मै उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा सब पाप निष्फल हो।

१२ अतिथिसविभागव्रत के अतिचार

बारहवा अतिथिसविभागव्रत—समणे निग्गथे फासुयएसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइम-वत्थ-पडिग्गह-कबल-पायपु छणेण पडिहारिय-पीढ-फलक-सेज्जा-सथारएण ओसह-भेसज्जेण पडिलाभेमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा है, साधु-साध्वी का योग मिलने पर निर्दोष दान दू

तब शुद्ध होऊ एव बारहवे अतिथिसविभागव्रत के पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा ते आलोऊ—सचित्तनिक्खेवणया, सचित्तपिहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिआए। जो मे देवासिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—मै अतिथिसविभागव्रत का पालन करने के लिए निर्ग्रन्थ साधुओ को अचित्त दोष रहित अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का, वस्त्र पात्र कम्बल पाद-पोछन, चौकी, पट्टा, सस्तारक औषधि आदि का साधु-साध्वी का योग मिलने पर दान दू तब शुद्ध होऊ, ऐसी मेरी श्रद्धा प्ररूपणा है। यदि मैने साधु के योग्य अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रखा हो, अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढका हो, भोजन के समय से पहले या पीछे साधु को भिक्षा के लिए प्रार्थना की हो, दान देने योग्य वस्तु को दूसरे की बता कर साधु को दान नही दिया हो, दूसरे को दान देते ईर्ष्या की हो, मत्सरभाव से दान दिया हो, तो मै उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हू कि मेरा वह सब पाप निष्फल हो। □□

५

पञ्चमाध्ययन : कायोत्सर्ग

पाचवा आवश्यक कायोत्सर्ग है। निर्ग्रन्थ-परम्परा का यह एक पारिभाषिक शब्द है।। यो 'काय' और 'उत्सर्ग' शब्दो के मिलने से यह शब्द निष्पन्न हुआ है, किन्तु इसका अर्थ काय—शरीर का उत्सर्ग—त्याग करना नही, वरन् शरीर के ममत्व का त्याग करना है। समस्त जागतिक वस्तुओ पर जो ममत्वभाव उत्पन्न होता है, उसका मूल शरीर ही है। जिस साधक के मन मे शरीर के प्रति ममता न रह जाए, अन्य प्रत्यक्षत भिन्न दिखने वाले पदार्थो पर उसमे ममता रह ही नही सकती। मुक्तिपथ का पथिक साधक प्रभु के समक्ष इसीलिए यह प्रार्थना—कामना करता है—

शरीरत कर्त्तुमनन्तशक्ति,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र! कोषादिव खड्गयष्टि,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्ति ।। —आचार्य अमितगति

अर्थात् हे जिनेन्द्र! आपके प्रसाद से मुझमे ऐसी शक्ति आविर्भूत हो जाए कि मैं अपने आपको—अपने आत्मा को उसी प्रकार शरीर से पृथक् कर सकू, जिस प्रकार म्यान मे तलवार को पृथक् कर लिया जाता है।

इस प्रकार की कामना करते-करते साधक एक दिन उस उच्च स्थिति पर पहुँच जाता है, जिसके लिए आगम निर्देश करता है—

'अवि अप्पणो वि देहमि नायरति ममाइय।' —दशवैकालिक

अर्थात् अपने देह पर भी साधक का ममभाव नही रहता।

इस प्रकार देह मे रहते हुए भी देहातीत दशा प्राप्त हो जाना महत्त्वपूर्ण साधना है। इसी को प्राप्त करने के स्पृहणीय उद्देश्य से कायोत्सर्ग किया जाता है और इसे आवश्यको मे परिगणित किया है। यह एक प्रकार का प्रायश्चित्त भी है, जिसके द्वारा पूर्वकृत पापो का विनाश होता है और साधना मे निर्मलता आती है—

तस्स उत्तरीकरणेण, पायच्छित्तकरणेण, विसोहीकरणेण, विसल्लीकरणेण पावाण कम्माण णिग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्ग।

अर्थात् (सयम को अधिक उच्च बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्धि करने के लिए, आत्मा को शल्यरहित करने के लिए और पाप-कर्मो का समूल नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ)

कायोत्सर्ग दो प्रकार का है—द्रव्यकायोत्सर्ग और भावकायोत्सर्ग। शारीरिक चेष्टाओ—व्यापारो का त्याग करके, जिन-मुद्रा से एक स्थान पर निश्चल खडे रहना द्रव्यकायोत्सर्ग है। आर्त्त

और रौद्र ध्यानो का त्याग कर धर्मध्यान एव शुक्लध्यान मे निरत होना, मन मे शुभ भावनाओ का प्रवाह बहाना, आत्मा को अपने शुद्ध मूलस्वरूप मे प्रतिष्ठित करना—

'सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति, दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाण।'
—आचार्य जिनदास

उत्तराध्यनसूत्र मे कायोत्सर्ग को समस्त दु खो से सर्वथा मुक्त करने वाला कहा गया है।

कायोत्सर्ग हो अथवा अन्य कोई क्रिया, भावपूर्वक करने पर ही वास्तविक फलप्रद होती ह। ऊपर कायोत्सर्ग का जो महत्त्व प्रदर्शित किया गया है, वह वस्तुत भावपूर्वक किये जाने वाले कायोत्सर्ग का ही महत्त्व है। भावविहीन मात्र द्रव्यकायोत्सर्ग आत्मविशुद्धि का कारण नही होता। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए एक आचार्य ने कायोत्सर्ग के चार रूपो का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

१ **उत्थित-उत्थित**—कायोत्सर्ग करने वाला साधक जब द्रव्य के साथ भाव से भी खडा होता है अर्थात् दुर्ध्यान से हट कर जब धर्म-शुक्लध्यान मे रमण करता है, तब वह उत्थित-उत्थित कायोत्सर्ग करता है। यह रूप सर्वथा उपादेय है।

२ **उत्थित-निविष्ट**—द्रव्य से खडा होना, भाव से खडा न होना अर्थात् दुर्ध्यान करना। यह रूप हेय है।

३ **उपविष्ट-उत्थित**—कोई अशक्त या अतिवृद्ध साधक खडा नही हो सकता, किन्तु भाव से खडा होता है—शुभध्यान मे लीन होता है, तब वह कायोत्सर्ग उपविष्ट-उत्थित कहलाता है। यह रूप भी उपादेय है।

४ **उपविष्ट-निविष्ट**—कोई प्रमादशील साधक जब शरीर से भी खडा नही होता और भाव से भी खडा नही होता तब कायोत्सर्ग का यह रूप होता है। यह वास्तव मे कायोत्सर्ग नही, किन्तु कायोत्सर्ग का दम्भमात्र है।

पचम आवश्यकरूप कायोत्सर्ग करते समय यद्यपि अन्यान्य पाठो का भी उच्चारण किया जाता है, परन्तु 'लोगस्स' का ध्यान ही इसका प्रमुख अग है। अन्यत्र उल्लिखित विधि से यह सब स्पष्ट हो जाएगा। □

[६]

षष्ठाध्ययन : प्रत्याख्यान

दसविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, त जहा—

'अणागयमइक्कत, कोडीसहिय नियटिय चेव।

सागारमणागार, परिमाणकड निरवसेस।

सकेय चेव अद्धाए, पच्चक्खाण भवे दसहा ॥'

पिछले अध्ययनो मे प्रतिक्रमण एव कायोत्सर्ग द्वारा पूर्वसञ्चित कर्मो का क्षय कहा गया है। इस छठे अध्ययन मे नवीन बधने वाले कर्मो का निरोध कहा जाता है। अथवा पाचवे अध्ययन मे कायोत्सर्ग द्वारा अतिचार रूप व्रत की चिकित्सा का निरूपण किया गया है। चिकित्सा के अनन्तर गुण की प्राप्ति होती है, अत 'गुणधारण' नामक इस प्रत्याख्यान अध्ययन मे मूलोत्तर गुण की धारणा कहते है।

भविष्य मे लगने वाले पापो से निवृत्त होने के लिए गुरुसाक्षी या आत्मसाक्षी से हेय वस्तु के त्याग करने को प्रत्याख्यान कहते है। प्रत्याख्यान भविष्यत्कालिक पापो का निरोधक है। वह दस प्रकार का है—

(१) अनागत—वैयावृत्य आदि किसी अनिवार्य कारण से, नियत समय से पहले ही तप कर लेना।

(२) अतिक्रान्त—कारणवश नियत समय के बाद तप करना।

(३) कोटिसहित—जिस कोटि (चतुर्थभक्त आदि के क्रम) से तप प्रारम्भ किया, उसी मे समाप्त करना।

(४) नियन्त्रित—वैयावृत्य आदि प्रबल कारणो के हो जाने पर भी सकल्पित तप का परित्याग न करना। (यह प्रत्याख्यान वज्रऋषभनाराचसहननधारी अनगार ही कर सकते है।)

(५) साकार—जिसमे उत्सग (अवश्य रखने योग्य अण्णत्थणाभोग और सहसागाररूप) तथा अपवाद रूप आगार रखे जाते है, उसे साकार या सागार कहते है।

(६) अनाकार—जिस तप मे अपवादरूप आगार न रखे जाए, उसे अनाकार कहते है।

(७) परिमाणकृत—जिसमे दत्ति आदि का परिमाण किया जाय।

(८) निरवशेष—जिसमे अशनादि का सर्वथा त्याग हो।

(९) सकेत—जिसमे मुट्ठी खोलने आदि का सकेत हो, जैसे—"मै जब तक मुट्ठी नही खोलूँगा तब तक मेरे प्रत्याख्यान है" इत्यादि।

(१०) अद्धाप्रत्याख्यान—मुहूर्त, पौरुषी आदि काल की अवधि के साथ किया जाने वाला प्रत्याख्यान ।

१ नमस्कारसहित-सूत्र

उग्गए सूरे नमोक्कारसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं। अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, वोसिरामि ।

भावार्थ—सूर्य उदय होने पर नमस्कारसहित—दो घडी दिन चढे तक का (नोकारसी का) प्रत्याख्यान ग्रहण करता हूँ और अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम—इन चारो ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान मे दो आगार अर्थात् अपवाद है—अनाभोग—अत्यन्त विस्मृति और सहसाकार—शीघ्रता (अचानक) । इन दो आगारो के सिवा चारो आहार वोसिराता हूँ—त्याग करता हूँ ।

विवेचन—नमस्कारसहित अर्थात् सूर्योदय से लेकर दो घडी दिन चढे तक यानी मुहूर्त भर के लिये नमस्कार पढे बिना आहार ग्रहण नही करना । साधारण बोलचाल की भाषा मे इसे 'नवकारसी' (नोकारसी) कहते है ।

चार प्रकार का आहार

(१) **अशन**—इसमे रोटी, चावल आदि सभी प्रकार का भोजन आ जाता है ।

(२) **पान**—दूध, पानी आदि सभी पीने योग्य चीजे पान मे समाविष्ट है । किन्तु परम्परा के अनुसार यहाँ पान से केवल जल ही ग्रहण किया जाता है ।

३ **खादिम**—मेवा, फल आदि । कुछ आचार्य मिष्टान्न को अशन मे ग्रहण करते है और कुछ खादिम मे ।

४ **स्वादिम**—लौग, इलायची, सुपारी आदि मुखवास को स्वादिम माना है । इस आहार मे उदरपूर्ति की दृष्टि न होकर मुख्यतया मुख के स्वाद की दृष्टि होती है ।

सस्कृत भाषा का 'आकार' ही प्राकृत भाषा मे 'आगार' कहलाता है । आकार का अर्थ—अपवाद माना जाता है । अपवाद का अर्थ है—यदि किसी विशेष स्थिति मे त्याग की हुई वस्तु सेवन कर ली जाए या करनी पड जाए तो प्रत्याख्यान भग नही होता है । अतएव व्रत अगीकार करते समय आवश्यक आगार रखना चाहिये । ऐसा न करने पर व्रत भग की सभावना रहती है—

'आक्रियते विधीयते प्रत्याख्यानभगपरिहारार्थमित्याकार '—'प्रत्याख्यान च अपवादरूपाकार-सहित कर्त्तव्यम्, अन्यथा तु भग स्यात् ।' —आचार्य हेमचन्द्र (योगशास्त्र)

अनाभोग और सहसाकार दोनो ही आगारो के सम्बन्ध मे यह बात है कि जब तक पता न चले, तब तक तो व्रत भग नही होता । परन्तु पता चल जाने के बाद भी मुख मे ग्रास ले लिया हो और उसे थूके नही एव आगे खाना बन्द नही करे तो व्रत भग हो जाता है । अत साधक का कर्त्तव्य है कि जैसे ही पता चले, भोजन बन्द कर दे और जो कुछ मुख मे हो, वह सब यतना के साथ थूक दे । ऐसा न करे तो व्रत भग हो जाता है ।

२ पौरुषी-सूत्र

उग्गए सूरे पोरिसि पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहार—असण, पाण, खाइम, साइम।

अन्नत्थऽणाभोगेण, सहसागारेण, पच्छन्नकालेण, दिसामोहेण, साहुवयणेण, सव्वसमाहिवत्तियागारेण, वोसिरामि।

भावार्थ—पौरुषी का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूर्योदय से लेकर अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारो ही प्रकार के आहार का एक प्रहर दिन चढे तक त्याग करता हूँ।

इस व्रत के आगार छह है— (१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) प्रच्छन्नकाल, (४) दिशामोह, (५) साधुवचन, (६) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। इन छह आकारो के सिवाय पूर्णतया चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—सूर्योदय से लेकर एक प्रहर दिन चढे तक चारो प्रकार के आहार का त्याग करना, पौरुषी-प्रत्याख्यान है।

पौरुषी का शाब्दिक अर्थ है—'पुरुष-प्रमाण छाया।' एक प्रहर दिन चढने पर मनुष्य की छाया घटते-घटते अपने शरीर प्रमाण लम्बी रह जाती है। इसी भाव को लेकर 'पौरुषी' शब्द प्रहर-परिमित कालविशेष के अर्थ मे लक्षणा वृत्ति के द्वारा रूढ हो गया है।

पौरुषी के छह आगार इस प्रकार ह—

(१) **अनाभोग**—प्रत्याख्यान की विस्मृति—उपयोगशून्यता हो जाने से भोजन कर लेना।
(२) **सहसाकार**—अकस्मात् जल आदि का मुख मे चले जाना।
(३) **प्रच्छन्नकाल**—बादल अथवा आधी आदि के कारण सूर्य के ढक जाने से पौरुषी पूर्ण हो जाने की भ्रान्ति से आहार कर लेना।

(४) **दिशामोह**—पूर्व को पश्चिम समझ कर पौरुषी न आने पर भी सूर्य के ऊचा चढ आने को भ्रान्ति मे अशनादि सेवन कर लेना।

(५) **साधुवचन**—'पौरुषी आ गई' इस प्रकार किसी आप्त पुरुष के कहने पर बिना पौरुषी आए ही पौरुषी का पारण कर लेना।

(६) **सर्वसमाधिप्रत्ययाकार**—किसी आकस्मिक शूल आदि तीव्र रोग की उपशाति के लिए औषधि आदि ग्रहण करना।

प्रच्छन्नकाल, दिशामोह और साधुवचन, उक्त तीनो आगारो का अभिप्राय यह है कि भ्राति के कारण पौरुषी पूर्ण न होने पर भी पूर्ण समझकर भोजन कर ले तो व्रत भग नही होता है। यदि भोजन करते समय यह मालूम हो जाए कि अभी पौरुषी पूर्ण नही हुई है तो उसी समय भोजन करना छोड देना चाहिए।

पौरुषी के समान ही सार्धपौरुषी-प्रत्याख्यान, भी होता है। इसमे डेढ प्रहर दिन चढे तक आहार का त्याग करना होता है। अत जब उक्त सार्धपौरुषी का प्रत्याख्यान करना हो तब 'पोरिसि' के स्थान पर 'सड्ढपोरिसि' पाठ बोलना चाहिए।

३. पूर्वार्ध-सूत्र

उग्गए सूरे, पुरिमड्ढ पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहार—असण, पाण, खाइम, साइम। अन्नत्थऽणाभोगेण, सहसागारेण, पच्छन्नकालेण, दिसामोहेण, साहुवयणेण, महत्तरागारेण, सव्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरामि।

भावार्थ—सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्ध तक अर्थात् दो प्रहर तक चारो प्रकार के आहार—अशन, पान, खादिम, स्वादिम का प्रत्याख्यान करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, महत्तराकार और सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार, इन सात आगारो के सिवाय पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—यह पूर्वार्ध-प्रत्याख्यान का सूत्र है। इसमे सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्व भाग तक अर्थात् दो प्रहर दिन चढे तक चारो तरह के आहार का त्याग किया जाता है।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान मे सात आगार माने गए है। छह तो पूर्वोक्त पौरुषी के ही आगार है, सातवा आगार महत्तराकार है। 'महत्तराकार' मे 'महत्तर' शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया गया है—महत्तर अर्थात् अपेक्षाकृत महान् पुरुष आचार्य, उपाध्याय आदि गच्छ या सघ के प्रमुख तथा अपेक्षाकृत महान् निर्जरा वाला कोई प्रयोजन या कार्य, तदनुसार अर्थ है कि महान्—अपेक्षाकृत अधिक निर्जरा को ध्यान मे रखकर रोगी आदि की सेवा के लिए या श्रमण-सघ के किसी अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए निश्चित समय से पहले ही प्रत्याख्यान पार लेना। यहाँ महत्तर का अर्थ है—महान् निर्जरा-साधक प्रयोजन। यथा आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—

'महत्तर—प्रत्याख्यानपालनवशाल्लभ्यनिर्जरापेक्षया बृहत्तरनिर्जरालाभहेतुभूत, पुरुषान्तरेण साधयितुमशक्य ग्लानचैत्यसघादि-प्रयोजन, तदेव आकार—प्रत्याख्यानापवादो महत्तराकार।'

अर्थात्—प्रत्याख्यान के पालन से जितनी निर्जरा होती है, उससे भी महान् निर्जरा का कारण एव किसी अन्य पुरुष से जो न हो सकता हो, ऐसा कोई रुग्णमुनि की सेवा या सघ सबधी कोई प्रयोजन उपस्थित हो जाना महत्तराकार है। ऐसी स्थिति मे यदि समय से पूर्व आहार ग्रहण कर लिया जाए तो व्रतभग नही होता। इस अर्थ के अनुसार आचार्यादि के आदेश के बिना भी व्रतधारी अपने विवेक से ही इस आगार का सेवन कर सकता है।

किन्तु आचार्य नमि प्रतिक्रमण-सूत्र वृत्ति मे लिखते है—

"अतिशयेन महान् महत्तर आचार्यादिस्तस्य वचनेन मर्यादया करण महत्तराकारो, यथा केनापि साधुना भक्त प्रत्याख्यात, ततश्च कुल-गण-सघादि-प्रयोजनमनन्यसाध्यमुत्पन्न, तत्र चासौ महत्तरेराचार्याद्यैर्नियुक्त, ततश्च यदि शक्नोति तथैव कर्तुं तदा करोति, अथ न, तदा महत्तर-कादेशेन भुञ्जानस्य न भग इति।"

तात्पर्य यह है—जो बहुत महान् हो, वे आचार्यादि महत्तर कहलाते है। उनके आदेश से मर्यादापूर्वक जो किया जाए वह महत्तरागार कहलाता है। यथा—किसी साधु ने आहार का त्याग किया। उसके पश्चात् कुल, गण या सघ आदि का कोई कार्य आ पडा और वह कार्य भी ऐसा कि

दूसरे के द्वारा हो नही सकता। ऐसी स्थिति मे यदि प्रत्याख्यान का पालन करता हुआ उस कार्य को कर सके तो करे। यदि प्रत्याख्यान के साथ वह कार्य सम्पन्न न कर सके तो आहार कर ले। इस अवस्था मे प्रत्याख्यान भग नही होता। इस अर्थ के अनुसार आचार्यादि महान् पुरुप 'महत्तर' हे। उनके आदेश से ही यह आगार सेवन किया जा सकता हे।

पूर्वार्ध-प्रत्याख्यान के समान ही अपार्ध-प्रत्याख्यान भी होता हे। अपार्ध-प्रत्याख्यान का अर्थ है—तीन प्रहर दिन चढे तक आहार ग्रहण न करना। अपार्ध-प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय 'पुरिमड्ढ' के स्थान मे 'अवड्ढ' पाठ बोलना चाहिये। शेप पाठ दोनो प्रत्याख्यानो का समान हे।

४. एकासन-सूत्र

एगासण पच्चक्खामि तिविह पि आहार असण, खाइम, साइम।

अन्नत्थऽणाभोगेण, सहसागारेण, सागारियागारेण, आउटण-पसारणेण, गुरु-अब्भुट्ठाणेण, पारिट्ठावणियागारेण, महत्तरागारेण, सव्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरामि।

भावार्थ—मै एकाशन तप स्वीकार करता हूँ। फलत अशन, खादिम और स्वादिम—इन तीनो प्रकार के आहारो का प्रत्याख्यान करता हूँ। इस व्रत के आगार आठ है, यथा—

(१) अनाभोग, (२) सहसागार, (३) सागारिकाकार, (४) आकुञ्चनप्रसारण, (५) गुर्वभ्युत्थान, (६) पारिष्ठापनिकाकार, (७) महत्तराकार, (८) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। उक्त आठ आगारो के सिवा आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—दिन मे एक वार भोजन करना, एकाशन तप कहलाता है। एकाशन का अर्थ है—एक+अशन,[1] अर्थात् एक वार भोजन करना।

प्रत्याख्यान, गृहस्थ तथा लाधु दोनो के लिए समान ही है। फिर भी गृहस्थ को ध्यान रहे कि वह एकाशन मे अचित्त अर्थात् प्रासुक आहार-पानी ही ग्रहण करे। साधु को तो यावज्जीवन के लिए अप्रासुक आहार का त्याग ही है। श्रावक को मूल पाठ बोलते समय **'पारिट्ठावणियागरेण'** पाठ नही बोलना चाहिए।

एकाशन और द्विकाशन मे भोजन करते समय तो यथेच्छ चारो आहार लिए जा सकते हे, परन्तु भोजन के वाद शेषकाल मे भोजन का त्याग होता है। यदि एकाशन तिविहार करना हो तो शेषकाल मे पानी पिया जा सकता है। यदि चउविहार करना हो तो पानी भी नही पिया जा सकता। यदि दुविहार करना हो तो भोजन के वाद पानी तथा स्वादिम—मुखवास लिया जा सकता है। आज-

---

१ 'एगासण' प्राकृत-शब्द है, जिसके सस्कृत रूपान्तर दो होते हे—'एकाशन' ओर 'एकासन'।

(१) 'एकाशन' का अर्थ है—एक बार भोजन करना।

(२) 'एकासन' का अथ है—एक आसन से भोजन करना।

'एगासण' मे दोनो ही अथ ग्राह्य हे। **'एक सकृत् अशन—भोजन एक वा आसन—पुताचलनतो यत्र प्रत्याख्याने तदेकाशनमेकासन वा, प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपम्।** —प्रवचनसारोद्धारवृत्ति।

आचाय हरिभद्र एकासन की व्याख्या करते है कि एक वार बैठकर फिर न उठते हुए भोजन करना। **'एकाशन नाम सकृदुपविष्ट पताचालनेन भोजनम्।** —आवश्यकवृत्ति।

कल तिविहार एकाशन की प्रथा ही प्रचलित है, अत मूलपाठ मे 'तिविह' पाठ दिया है। यदि चउविहार करना हो तो **'चउविह पि आहार असण, पाणं, खाइम, साइम'** ऐसा पाठ बोलना चाहिए।

दुविहार-एकाशन की परम्परा प्राचीनकाल मे थी। आज के युग मे इसका प्रचलन बहुत कम है, यद्यपि सर्वथा का अभाव नही है।

एकाशन मे आठ आगार होते है। चार पहले आ चुके है, शेष चार इस प्रकार है—

१ सागारिकाकार—आगम की भाषा मे सागारिक गृहस्थ को कहते है। गृहस्थ के आ जाने पर उसके सम्मुख भोजन करना निषिद्ध है। अत सागारिक के आने पर साधु को भोजन करना छोडकर यदि बीच मे ही उठकर, एकान्त मे जाकर पुन दूसरी बार भोजन करना पडे तो व्रत भग नही होता है।

१ आकुञ्चनप्रसारण—भोजन करते समय सुन्न पड जाने पर हाथ, पैर आदि अगो का सिकोडना या फैलाना।

३ गुर्वभ्युत्थान—गुरुजन एव किसी अतिथिविशेप के आने पर उनका विनय-सत्कार करने के लिए उठना, खडे होना।

प्रस्तुत आगार का आशय बडा ही महत्त्वपूर्ण है। गुरुजन एव अतिथिजन के आने पर अवश्य ही उठकर खडा हो जाना चाहिए। उस समय यह भ्राति नही रखनी चाहिए कि 'एकासन मे उठकर खडे होने का विधान नही है। अत उठने या खडे होने से व्रत भग के कारण मुझे दोष लगेगा।' गुरुजनो के लिए उठने मे कोई दोष नही है, इससे व्रत भग नही होता, प्रत्युत विनय तप की आराधना होती है। आचार्य सिद्धसेन लिखते है—

गुरूणामभ्युत्थानार्हत्वादवश्य भुञ्जानेनाऽप्युत्थान कर्त्तव्यमिति, न तत्र प्रत्याख्यानभङ्ग ।'

—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

४ पारिष्ठापनिकाकार—जैन मुनि के लिए विधान है कि वह अपनी आवश्यक क्षुधापूर्ति के लिए परिमित मात्रा मे ही आहार लाए, अधिक नही। तथापि कभी भ्रातिवश यदि किसी मुनि के पास आहार अधिक आ जाय और वह परठना—डालना पडे तो उस आहार को गुरुदेव की आज्ञा से तपस्वी मुनि को ग्रहण कर लेना चाहिए।

आचार्य सिद्धसेन ने कहा है—आहार को परठ देने मे बहुत दोषो की सभावना रहती है और उसे ग्रहण—भक्षण कर लेने मे आगमिक न्याय के अनुसार गुण-लाभ है, अतएव गुरु की आज्ञा से पुन उसका उपभोग कर लेने से व्रत-भग नही होता।[१]

५ एगट्ठाणपच्चक्खाण

एक्कासण एगट्ठाण पच्चक्खामि, तिविह[२] पि आहार—असण, खाइम, साइम।

अन्नत्थऽणाभोगेण, सहसागारेण, सागारियागारेण, गुरुअब्भुट्ठाणेण, पारिट्ठावणियागारेण, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरामि।

---

१ प्रवचनसारोद्धारवृत्ति।

२ चारो प्रकार के आहार का त्याग करना हो तो 'चउव्विह पि' ऐसा पाठ बोलना चाहिए।

भावार्थ—एकाशन रूप एकस्थान व्रत को ग्रहण करता हूँ। अशन, खादिम और स्वादिम तीनो प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) सागारिकाकार, (४) गुर्वभ्युत्थान, (५) पारिष्ठापनिकाकार, (६) महत्तराकार और (७) सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार—उक्त सात आगारो के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हू।

विवेचन—यह एकस्थान का सूत्र है। एकस्थानान्तर्गत 'स्थान' शब्द 'स्थिति' का वाचक है। अत एक स्थान का फलितार्थ है—'दाहिने हाथ एव मुख के अतिरिक्त शेष सब अगो को हिलाए बिना, दिन मे एक ही आसन से और एक ही वार भोजन करना। अर्थात् भोजन प्रारभ करते समय जो स्थिति, जो अगविन्यास हो, जो आसन हो, उसी स्थिति, अगविन्यास एव आसन से भोजन की समाप्ति तक बैठे रहना चाहिए।'

आचार्य जिनदास ने आवश्यकचूर्णि मे एक स्थान की यही परिभाषा की है—'एकट्ठाणे ज जथा अगुवग ठविय तहेव समुद्दिसितव्व, आगारे से आउटणपसारण नत्थि, सेसा सत्त तहेव।'

एक स्थान की अन्य विधि सब 'एकाशन' के समान है। केवल हाथ, पैर आदि के आकुचन-प्रसारण का आगार नही रहता। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे 'आउटणपसारणेण' का उच्चारण नही किया जाता है।

६ आचाम्ल—आयंबिलप्रत्याख्यानसूत्र

आयबिल पच्चक्खामि, अन्नत्थऽणाभोगेण, सहसागारेण, लेवालेवेण, उक्खित्तविवेगेण, गिहिससट्ठेण, पारिट्ठावणियागारेण, महत्तरागारेण, सव्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरामि।

भावार्थ—आयबिल अर्थात् आचाम्ल तप ग्रहण करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, उत्क्षिप्तविवेक, गृहस्थससृष्ट, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त आठ आकार अर्थात् अपवादो के अतिरिक्त अनाचाम्ल आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—आचाम्ल व्रत मे दिन मे एक बार रूक्ष, नीरस एव विकृति-रहित आहार ही ग्रहण किया जाता है, दूध, दही, घी, तेल, गुड, शक्कर, पक्वान्न आदि किसी भी प्रकार का स्वादु भोजन, आचाम्ल-व्रत मे ग्रहण नही किया जा सकता। प्राचीन आचारग्रन्थो मे चावल, उडद अथवा सत्तू आदि मे से किसी एक के द्वारा ही आचाम्ल करने का विधान है।

एकाशन और एकस्थान की अपेक्षा आयबिल का महत्त्व अधिक है। एकाशन और एकस्थान मे तो एक बार के भोजन मे यथेच्छ सरस आहार भी ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु आयबिल के एक बार के भोजन मे तो केवल उबले हुए उडद के बाकले आदि लवण रहित, नीरस आहार ही ग्रहण किया जाता है। भावार्थ यह है कि आचाम्ल तप मे रसलोलुपता पर विजय प्राप्त करने का महान् आदर्श है। जिह्वेन्द्रिय का सयम, एक बहुत बडा सयम है।

आयबिल भी साधक की इच्छानुसार चतुर्विधाहार एव त्रिविधाहार किया जाता है। चतुर्विधाहार करना हो तो 'चउव्विह पि आहार असण, पाण, खाइम, साइम' बोलना चाहिए और त्रिविध मे पाण नही बोलना चाहिये।

आयविल मे आठ आगार माने गए है। आठ मे से पाच आगार तो पूर्व प्रत्याख्यानो के समान ही है, नवीन तीन आगार इस प्रकार है—

१ लेपालेप—आचाम्लव्रत मे ग्रहण न करने योग्य शाक तथा घृत आदि विकृति से यदि पात्र अथवा हाथ आदि लिप्त हो और दाता गृहस्थ यदि उसे पोछकर उसके द्वारा आचाम्ल-योग्य भोजन वहराए तो ग्रहण कर लेने पर व्रत भग नही होता है।

'लेपालेप' शब्द 'लेप' और 'अलेप' मिलकर समस्त होकर बना है। लेप का अर्थ घृतादि से पहले लिप्त होना है। अलेप का अर्थ है बाद मे उसको पोछकर अलिप्त कर देना। पोछ देने पर भी विकृति का कुछ अश लिप्त रहता ही है। अत आचाम्ल मे लेपालेप का आगार रखा जाता है।

'लेपश्च अलेपश्च लेपालेप तस्मादन्यत्र, भाजने विकृत्याद्यवयवसद्भावेऽपि न-भङ्ग इत्यर्थ ।'
—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति

२ उत्क्षिप्त-विवेक—शुष्क ओदन एव रोटी आदि पर गुड तथा शक्कर आदि अद्रव-सूखी विकृति पहले से रखी हो, आचाम्लव्रतधारी मुनि को यदि कोई वह विकृति उठाकर रोटी आदि देना चाहे तो ग्रहण की जा सकती है। उत्क्षिप्त का अर्थ उठाना है और विवेक का अर्थ है—हटाना—उठाने के बाद उसका न लगा रहना।

३ गृहस्थससृष्ट—घृत अथवा तैल आदि विकृति से छौंके हुए कुल्माष आदि लेना गृहस्थ-ससृष्ट आगार है। उक्त आगार मे यह ध्यान रखने की बात है कि यदि विकृति का अश स्वल्प हो, तब तो व्रत भग नही होता, परन्तु विकृति यदि अधिक मात्रा मे हो तो वह ग्रहण कर लेने से व्रत भग का निमित्त बनती है।

कुछ आचार्यो की मान्यता है कि लेपालेप, उत्क्षिप्त-विवेक, गृहस्थससृष्ट और पारिष्ठापनिकागार—ये चार आगार साधु के लिए ही है, गृहस्थ के लिए नही।

७ अभक्तार्थ—उपवास-सूत्र

उग्गए सूरे, अभत्तट्ठ पच्च मि, चउव्विह पि आहार—असण, पाण, खाइम, साइम।

अन्नत्थऽणाभोगेण, सहसागारेण पारिट्ठावणियागारेण, महत्तरागारेण, सव्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरामि।

भावार्थ—सूर्योदय से लेकर अभक्तार्थ—उपवास ग्रहण करता हूँ, फलत अशन, पान, खादिम, स्वादिम, चारो ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त पाच आगारो के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन—अभक्तार्थ—भक्त का अर्थ भोजन है। 'अर्थ' का अर्थ 'प्रयोजन' है। 'अ' का अर्थ 'नही' है। तीनो मिलाकर अर्थ होता है—भक्त का प्रयोजन नही है जिस व्रत मे वह, अर्थात् उपवास। **'न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्याने सोऽभक्तार्थ स उपवास ।'** —श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति, देवेन्द्र कृत

चउव्विहाहार और तिविहाहार के रूप मे उपवास दो प्रकार का होता है। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक चारो प्रकार के आहारो का त्याग करना 'चउव्विहाहार अभत्तट्ठ' कहलाता हे।

तिविहाहार अर्थात् त्रिविधाहार उपवास मे पानी लिया जाता है। अत जल सम्बन्धी छह आगार मूल पाठ मे 'सव्वसमाहिवत्तियागारेण' के आगे इस प्रकार वढाकर बोलना चाहिये—**"पाणस्स लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहलेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरामि।"**

उक्त छह आगारो का उल्लेख जिनदासमहत्तर, हरिभद्र और सिद्धसेन आदि प्राय सभी प्राचीन आचार्यो ने किया है। केवल उपवास मे ही नही अन्य प्रत्याख्यानो मे भी जहाॅ त्रिविधाहार करना हो, सर्वत्र उपर्युक्त पाठ बोलने का विधान हे। यद्यपि आचार्य जिनदास आदि ने इस का उल्लेख अभक्तार्थ के प्रसग पर ही किया हे।

उक्त जल सम्वन्धी आगारो का भावार्थ इस प्रकार है —

१ **लेपकृत**—दाल आदि का माॅड तथा इमली, खजूर, द्राक्षा आदि का पानी। वह सव पानी जो पात्र मे उपलेपकारक हो, लेपकृत कहलाता हे। त्रिविधाहार मे इस प्रकार का पानी ग्रहण किया जा सकता हे।

२ **अलेपकृत**—छाछ आदि का निथरा हुआ और काॅजी आदि का पानी अलेपकृत कहलाता है। अलेपकृत पानी से वह धोवन लेना चाहिए, जिसका पात्र मे लेप न लगता हो।

३ **अच्छ**—अच्छ का अर्थ स्वच्छ हे। गर्म किया हुआ स्वच्छ पानी ही अच्छ शब्द से ग्राह्य है। हा, प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के रचयिता आचार्य सिद्धसेन उष्णोदकादि का कथन करते है। 'अपिच्छलात् उष्णोदकादे।' परन्तु आचार्यश्री ने स्पष्टीकरण नही किया कि 'आदि' शब्द से उष्ण जल के अतिरिक्त और कौन सा जल ग्राह्य है? सभव है फल आदि का स्वच्छ धोवन ग्राह्य हो। एक गुजराती अर्थकार ने ऐसा लिखा भी है।

४ **बहल**—तिल, चावल और जौ आदि का चिकना माॅड बहल कहलाता है। बहल के स्थान पर कुछ आचार्य वहुलेप शव्द का भी प्रयोग करते है।

५ **ससिक्थ**—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदिका वह धोवन जिसमे सिक्थ अर्थात् आटे आदि के कण भी हो। इस प्रकार का जल त्रिविधाहार उपवास मे लेने से व्रत भग नही होता।

६ **असिक्थ**—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन, जो छना हुआ हो, फलत जिसमे आटे आदि के कण न हो।

पण्डित सुखलाल जी का कहना है—प्रारम्भ से ही चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेण' बोलना चाहिए। यदि प्रारम्भ मे त्रिविधाहार किया हो, परन्तु पानी न लेने के कारण सायकाल के समय तिविहाहार से चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेण' नही बोलना चाहिए।

८ दिवसचरिम-सूत्र

दिवसचरिम (भवचरिम वा) पच्चक्खामि चउव्विह पि आहार—असण, पाण, खाइम, साइम। अन्नत्थणाभोगेण, सहसागारेण, महत्तरागारेण सव्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरामि।

भावार्थ—दिवसचरम का (अथवा भवचरम का) व्रत ग्रहण करता हूँ, फलत अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ । अनाभोग, सहसागार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार, उक्त चार आगारो के सिवाय आहार का त्याग करता हूँ ।

विवेचन—यह चरमप्रत्याख्यान-सूत्र है । 'चरम' का अर्थ 'अन्तिम' है । वह दो प्रकार का है—दिवस का अन्तिम भाग और भव अर्थात् आयु का अन्तिम भाग । सूर्य अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए चारो अथवा तीनो आहारो का त्याग करना, दिवसचरम-प्रत्याख्यान है ।

भवचरमप्रत्याख्यान का अर्थ है—जब साधक को यह निश्चय हो जाए कि आयु थोडी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारो या तीनो प्रकार के आहार का त्याग कर दे और सथारा ग्रहण करके सयम की आराधना करे । भवचरम का प्रत्याख्यान, जीवन भर की सयमसाधना सम्बन्धी सफलता का उज्ज्वल प्रतीक है ।

'भवचरम' का प्रत्याख्यान करना हो तो 'दिवसचरिम' के स्थान पर 'भवचरिम' बोलना चाहिए । शेष पाठ दिवसचरिम के समान ही है ।

मुनि के लिए जीवनपर्यन्त त्रिविध त्रिविधेन रात्रिभोजन का त्याग होता है । अत उनको दिवसचरम के द्वारा शेष दिन के भोजन का त्याग होता है और रात्रिभोजन-त्याग का अनुवादकत्वेन स्मरण हो जाता है। रात्रिभोजन-त्यागी गृहस्थो के लिए भी यही बात है। जिनको रात्रि-भोजन का त्याग नही है, उनको दिवसचरम के द्वारा शेष दिन और रात्रि के लिए भोजन का त्याग हो जाता है ।

९ अभिग्रह-सूत्र

अभिग्गह पच्चक्खामि चउव्विह पि आहार असण, पाण, खाइम, साइम ।

अन्नत्थऽणाभोगेण, सहसागारेण महत्तरागारेण, सव्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरामि ।

भावार्थ—मै अभिग्रह का व्रत ग्रहण करता हूँ, अतएव अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारो ही प्रकार के आहार का (सकल्पित समय तक) त्याग करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार इन चार आगारो के सिवाय अभिग्रहपूर्ति तक चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ ।

विवेचन—उपवास आदि के बाद अथवा बिना उपवास आदि के भी अपने मन मे निश्चित प्रतिज्ञा कर लेना कि अमुक बातो के मिलने पर ही पारणा अर्थात् आहार ग्रहण करूगा, अन्यथा व्रत, बेला, आदि सकल्पित दिनो की अवधि तक आहार ग्रहण नही करूगा । इस प्रकार की प्रतिज्ञा को 'अभिग्रह' कहते है ।

अभिग्रह मे जो बाते धारण करनी हो, उन्हे मन मे निश्चय कर लेने के बाद ही उपर्युक्त पाठ के द्वारा प्रत्याख्यान करना चाहिये । अभिग्रह की प्रतिज्ञा कठिन होती है । धीर एव वीर साधक ही अभिग्रह का पालन कर सकते है । जैन इतिहास के विद्यार्थी जानते है कि एक साधु ने सिह केस-रिया मोदको का अभिग्रह कर लिया था और वह अभिग्रह जब पूरा न हुआ तो पागल होकर रात-

दिन का विचार न रखकर पात्र लिए घूमने लगा। कल्पसूत्र की टीकाओ मे उक्त उदाहरण आता है, अत अभिग्रह करते समय अपनी शक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिये।

१० निर्विकृतिक सूत्र

निव्विगइय पच्चक्खामि, अन्नत्थणाभोगेण, सहसागारेण, लेवालेवेण, गिहत्थसंसिट्ठेण, उक्खित्तविवेगेण, पडुच्चमक्खिएण, महत्तरागारेण सव्वसमाहिवत्तियागारेण, वोसिरामि।

भावार्थ—मै विकृतियो का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थ-संसृष्ट, उत्क्षिप्तविवेक, प्रतीत्यम्रक्षित, पारिष्ठापनिक, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार इन नौ आगारो के सिवाय विकृति का परित्याग करता हूँ।

विवेचन—मन मे विकार उत्पन्न करने वाले भोज्य पदार्थो को विकृति कहते हैं—

'मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विकृतय'—आचार्य हेमचन्द्र-कृत योगशास्त्रवृत्ति (तृतीय प्रकाश)।

विकृति मे दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड, मधु आदि भोज्य पदार्थ सम्मिलित हैं।

भोजन का वास्तविक उद्देश्य है शरीर और साथ ही मन को सबल बनाना। मन की सबलता से तात्पर्य है उसे शुद्ध अर्थात् दोष रहित रखना। स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मन रहता है। किंतु इस बात से इकार नही कर सकते कि मन के स्वस्थ न रहने पर भी काफी सीमा तक, जिसे हम केवल शारीरिक स्वस्थता कहते है, वह बनी रहती है। पर उससे आत्मा को कोई लाभ नही होता बल्कि हानि ही होती है। अत आवश्यक है कि शरीर को ऐसी शुद्ध खुराक दी जाए जिससे शरीर भी स्वस्थ रहे और मन भी तथा इन दोनो की शुद्धता से आत्मा उन्नत हो सके। इसलिए शास्त्रकारो ने बतलाया है कि भोजन मे सात्त्विकता रखनी चाहिये। विकारजनक भोजन सयम को दूषित किए बिना नही रह सकता।

निर्विकृति के नौ आगार है। आठ आगारो का वर्णन तो पहले के पाठो मे यथास्थान आ चुका है। *'प्रतीत्यम्रक्षित'* नामक आगार नया है। भोजन बनाते समय जिन रोटी आदि पर सिर्फ उगली से घी आदि चुपडा गया हो ऐसी वस्तुओ को ग्रहण करना, प्रतीत्यम्रक्षित आगार कहलाता है। इस आगार का यह भाव है कि घृत आदि विकृति का त्याग करने वाला साधक धारा के रूप मे घृत आदि नही खा सकता है। घी से अत्यल्प रूप मे चुपडी हुई रोटिया खा सकता है।

'प्रतीत्य सर्वथा रूक्षमण्डकादि, ईषत्सौकुमार्य प्रतिपादनाय यदगुल्या ईषद् घृत गृहीत्वा म्रक्षित तदा कल्पते, न तु धारया।' —देवेन्द्र प्रतिक्रमणवृत्ति, तिलकाचार्य

११ प्रत्याख्यान पारणा-सूत्र

उग्गए सूरे नमुक्कार-सहिय पच्चक्खाणकय। त पच्चक्खाण सम्म काएण फासिय, पालिय, तीरिय, किट्टिय, सोहिय, आराहिय। ज च न आराहिय, तस्स मिच्छा मि दुक्कड।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर जो नमस्कार सहित या प्रत्याख्यान किया था, वह प्रत्याख्यान (मन, वचन) शरीर के द्वारा सम्यक् रूप मे स्पृष्ट, पालित, शोधित, तीर्ण, कीर्तित एव आराधित किया और जो सम्यक् रूप से आराधित न किया हो, उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।

विवेचन—यह प्रत्याख्यानपूर्ति का सूत्र है। कोई भी प्रत्याख्यान किया हो, उसकी समाप्ति प्रस्तुत सूत्र के द्वारा करनी चाहिये। ऊपर मूल पाठ मे 'नमुक्कारसहिय' नमस्कारिका का सूचक सामान्य शब्द है। इसके स्थान मे जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रखा हो, उसका नाम लेना चाहिये। जैसे कि पौरुषी ली हो तो 'पौरुसीपच्चक्खाण कय' ऐसा कहना चाहिये।

प्रत्याख्यान पालने के छह अग है—

(१) **फासिय** (स्पृष्ट अथवा स्पर्शित)—गुरुदेव से या स्वय विधिपूर्वक प्रत्याख्यान लेना।

(२) **पालिय** (पालित)—प्रत्याख्यान को बार-बार उपयोग मे लाकर सावधानी के साथ उसकी सतत रक्षा करना।

(३) **सोहिय** (शोधित)—कोई दूषण लग जाए तो सहसा उसकी शुद्धि करना। अथवा 'सोहिय' का सस्कृत रूप शोभित भी होता है। इस दशा मे अर्थ होगा—

गुरुजनो को, साथियो को अथवा अतिथि जनो को भोजन देकर स्वय भोजन करना।

(४) **तीरिय** (तीरित)—लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहरकर भोजन करना।

(५) **किट्टिय** (कीर्तित)—भोजन प्रारभ करने से पहले लिए हुए प्रत्याख्यान को विचार कर उत्कीर्तन-पूर्वक कहना कि मैने अमुक प्रत्याख्यान अमुक रूप से ग्रहण किया था, वह भली-भाति पूर्ण हो गया है।

(६) **आराहिय** (आराधित)[1]—सब दोषो से सर्वथा दूर रहते हुए ऊपर कही हुई विधि के अनुसार प्रत्याख्यान की आराधना करना। □□

---

१ आचार्य जिनदास ने 'आराधित' के स्थान पर 'अनुपालित' कहा है। अनुपालित का अर्थ किया है—तीर्थंकर देव के वचनो का बार-बार स्मरण करते हुए प्रत्याख्यान का पालन करना—'**अनुपालिय नाम अनुस्मृत्य अनुस्मृत्य तीर्थंकरवचन प्रत्याख्यान पालियत्व।**'

—आवश्यकचूर्णि

आवश्यक की विधि

जीव-जन्तुरहित निरवद्य स्थान का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके आसन बिछावे। फिर उस पर खडे होकर शासनपति भगवान् महावीर स्वामी को एव अपने वर्तमान गुरु महाराज को 'तिक्खुत्तो' के पाठ से तीन वार वदना करके चौवीसस्तव की आज्ञा लेकर चौवीसस्तव करे। चौवीसस्तव मे 'इच्छाकारेण' और 'तस्स उत्तरी' के पाठ कह कर काउस्सग्ग करे। काउस्सग्ग मे दो 'लोगस्स' का ध्यान करे। 'नमो अरिहताण' कह कर 'काउस्सग्ग' पारे। 'काउस्सग्ग' मे मन, वचन, काया चलित हुए हो तो, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान ध्याया हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड' बोल कर एक 'लोगस्स' प्रकट रूप मे बोले। फिर नीचे बैठकर बायाँ घुटना खडा रखकर 'नमोत्थुण' का पाठ दो बार बोले। फिर प्रतिक्रमण करने की आज्ञा ले। 'इच्छामि ण भते' एक नवकार कह कर पहले आवश्यक की आज्ञा ले।

पहले आवश्यक मे करेमि भते, इच्छामि ठामि तथा तस्स उत्तरी की पाटी बोलकर काउस्सग्ग करे। काउस्सग्ग मे आगमे तिविहे, दसण-समकित, अतिचार की पाटिया (पाच समिति, तीन गुप्ति, छ काय, पाच महाव्रत, छठा रात्रिभोजन-त्याग व्रत) छोटी सलेखणा, अठारह पापस्थान, इच्छामि ठामि और एक नवकार मत्र का मन मे चिन्तन करे। सब पाटियो मे "मच्छमि दुक्कड" के बदले 'तस्स आलोऊ' कहे, 'नमो अरिहताण' कहकर काउस्सग्ग पारे। चार ध्यान का पाठ बोल कर पहला आवश्यक समाप्त करे। फिर दूसरे आवश्यक की आज्ञा ले।

दूसरे आवश्यक मे एक लोगस्स प्रकट कहे। फिर तीसरे आवश्यक की आज्ञा ले।

तीसरे आवश्यक मे 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ दो बार बोले। जहाँ 'निसीहियाए' शब्द आवे वहाँ दोनो घुटनो को खडे कर के दोनो हाथ जोड कर बैठे और जब 'तित्तीसन्नयराए' शब्द आवे तब खडे होकर पाठ समाप्त करे। इसी तरह दूसरी बार 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ बोले। फिर चौथे आवश्यक की आज्ञा लेवे।

चौथे आवश्यक मे खडे होकर आगमे तिविहे, दसण समकित, अतिचार की पाटिया, छोटी सलेखना, अठारह पापस्थान, इच्छामि ठामि—जिनका काउस्सग्ग मे चितन किया था, उन्हे यहाँ प्रकट कहे। सभी पाटियो मे 'मिच्छा मि दुक्कड' कहे। फिर 'तस्स सव्वस्स' का पाठ कहे। फिर 'श्रमणसूत्र' की आज्ञा लेकर दाहिना घुटना खडा करके बैठे, तदनन्तर एक नवकार, करेमि भते, चत्तारि मगल, इच्छामि ठामि, इच्छाकारेण, आगमे तिविहे, दसण समकित, कहे। बाद मे निद्रादोष-निवृत्ति (पगामसिज्जाए) का, भिक्षादोषनिवृत्ति (गोयरग्गचरियाए) का, स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन (चउकालसिज्जाए) का और तेतीस बोल का पाठ कहे। पश्चात् दोनो घुटने खडे कर, दोनो हाथ जोड कर, सिर झुकाकर निर्ग्रंथप्रवचन (नमो चउवीसाए) का पाठ कहे। जहाँ 'अब्भुट्ठिओमि' शब्द हो वहाँ खडा होकर सर्व पाठ कहना चाहिए। फिर पालथी लगाकर बैठे और बडी सलेखना,

अठारह पापस्थान कहे, फिर खडे होकर 'तस्स धम्मस्स' का पाठ कह कर पूर्ववत् दो वार 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ कहे। फिर दोनो घुटने नमा कर, घुटनो के ऊपर दोनो हाथ जोड कर मस्तक को नीचा नमा कर, एक नवकार मन्त्र कह कर, पाच पदो की वदना कहे। फिर नीचे वैठ कर अनन्त चौवीस, आयरिउ वज्झाए ढाई द्वीप, चौरासी लाख जीवयोनि, कुल कोडी का पाठ, खामेमि सव्वे जीवा, अठारह पापस्थानक कहे। फिर पाचवे आवश्यक की आज्ञा ले।

पाचवे आवश्यक मे प्रायश्चित्त का पाठ, एक नवकार, करेमि भते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी की पाटी बोल कर काउस्सग्ग मे लोगस्स का ध्यान करे (देवसिय-राइसिय प्रतिक्रमण मे चार, पक्खी प्रतिक्रमण मे आठ, चौमासी प्रतिक्रमण मे बारह और सावत्सरिक प्रतिक्रमण मे वीस लोगस्स का काउस्सग्ग करना चाहिये)। 'नमो अरिहताण' कह कर काउस्सग्ग पारे। फिर एक लोगस्स प्रकट कह कर दो वार 'इच्छामि खमासमणो' बोले। फिर छठे आवश्यक की आज्ञा ले।

छठे आवश्यक मे खडे होकर साधुजी महाराज से अपनी शक्ति अनुसार पच्चक्खाण ग्रहण करे। यदि साधुजी महाराज न हो, तो ज्येष्ठ श्रावक से पच्चक्खाण ग्रहण करे। यदि वे भी नही हो, तो स्वयमेव दश प्रत्याख्यानो मे से यथाशक्ति स्वीकार करे। फिर दो नमोत्थुण का पाठ पढ कर उत्तर तथा पूर्व दिशा मे मुख कर सीमन्धर स्वामी, महावीर स्वामी तथा मुनिराजो को वन्दना करे। बाद मे सभी को अन्त करण से खमावे तथा चौवीसी आदि स्तवन वोले।

अनध्याय

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो मे जो समय वताया गया है, उसी समय शास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते हे। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमो मे अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणिते, असुतिसामते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए इदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहि सझाहि सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए है, जिसका सक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२ दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पडे कि दिशा मे आग सी लगी है तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलो के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४ विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास मे नही मानना चाहिए। क्योकि वह

गर्जन और विद्युत् प्राय ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अत' आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलो सहित आकाश मे कडकने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा मे विजली चमकने जैसा, थोडे थोडे समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुध पडती रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल मे श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१० रज-उद्घात—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी, मास और रुधिर—पचेन्द्रिय तिर्यच की हड्डी, मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे तो जब तक वहाँ से वे वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते है।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश. सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४ अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६ चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

गर्जन और विद्युत् प्राय ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अत' आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलो सहित आकाश मे कडकने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोडे थोडे समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुध पडती रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल मे श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१० रज-उद्घात—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी, मास और रुधिर—पचेन्द्रिय तिर्यच की हड्डी, मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे तो जब तक वहाँ से वे वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते है।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश. सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४ अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६ चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बडे मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए । अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारुढ न हो, तब तक शनै शनै स्वाध्याय करना चाहिए ।

१६ राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करे ।

२० औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पडा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए ।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हे ।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव है । इन पूर्णिमाओ के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते है । इनमे स्वाध्याय करने का निषेध है ।

२९-३२ प्रात , साय, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रात सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे । सूर्यास्त होने से एक घडी पहले तथा एक घडी पीछे । मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घडी आगे और एक घडी पीछे एव अर्धरात्रि मे भी एक घडी आगे तथा एक घडी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए ।

□□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१ श्री सेठ मोहनमलजी चोरडिया, मद्रास
२ श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३ श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४ श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरडिया, बैंगलोर
५ श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६ श्री एस किशनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७ श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खींवराजजी चोरडिया, मद्रास
९ श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१० श्री एस बादलचन्दजी चोरडिया, मद्रास
११ श्री जे दुलीचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१२ श्री एस रतनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१३ श्री जे. अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४ श्री एस सायरचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१५ श्री आर शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१६ श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१७ श्री जे हुक्मीचन्दजी चोरडिया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१ श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३ श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४ श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५ श्री आर प्रसन्नचन्दजी चोरडिया, मद्रास
६ श्री दीपचन्दजी बोकडिया, मद्रास
७ श्री मूलचन्दजी चोरडिया, कटंगी
८ श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९ श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१ श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२ श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३ श्री प्रेमराजजी जतनराजजी महता, मेडता सिटी
४ श्री शा० जडावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, ब्यावर
६ श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७ श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरडिया, मद्रास
८ श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९ श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व श्री सुगनचंदजी झामड, मदुरान्तकम्
१० श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (KGF) जाडन
११ श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३ श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४ श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५ श्री इन्द्रचंदजी बैद, राजनादगांव
१६ श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७ श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, टंगला
१८ श्री सुगनचन्दजी बोकडिया, इन्दौर
१९ श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२० श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढा, चांगाटोला
२१ श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोल

२२ श्री सागरमलजी नोरतमलजी पीचा, मद्रास
२३ श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४ श्री केशरीमलजी जवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५ श्री रतनचदजी उत्तमचदजी मोदी, ब्यावर
२६ श्री धर्मीचदजी भागचदजी बोहरा, झूठा
२७ श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढा, डोडीलोहार
२८ श्री गुणचदजी दलीचदजी कटारिया, वेल्लारी
२९ श्री मूलचदजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३० श्री सी० अमरचदजी बोथरा, मद्रास
३१ श्री भवरीलालजी मूलचदजी सुराणा, मद्रास
३२ श्री बादलचदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३ श्री लालचदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, अजमेर
३५ श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६ श्री भवरीमलजी चोरडिया, मद्रास
३७ श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८ श्री जालमचदजी रिखबचदजी बाफना, आगरा
३९ श्री घेवरचदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४० श्री जबरचदजी गेलडा, मद्रास
४१ श्री जडावमलजी सुगनचदजी, मद्रास
४२ श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३ श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४ श्री लूणकरणजी रिखबचदजी लोढा, मद्रास
४५ श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१ श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेडता सिटी
२ श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३ श्री पूनमचदजी नाहटा, जोधपुर
४ श्री भवरलालजी विजयराजजी काकरिया, विल्लीपुरम्
५ श्री भवरलालजी चौपडा, ब्यावर
६ श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७ श्री बी गजराजजी बोकडिया, सेलम
८ श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी काठेड, पाली
९ श्री के पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१० श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११ श्री मोहनलालजी मगलचदजी पगारिया, रायपुर
१२ श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३ श्री भवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४ श्री उत्तमचदजी मागीलालजी, जोधपुर
१५ श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६ श्री सुमेरमलजी मेडलिया, जोधपुर
१७ श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टाटिया, जोधपुर
१८ श्री उदयराजजी पुखराजजी सचेती, जोधपुर
१९ श्री बादरमलजी पुखराजजी बट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचन्दजी गोठी, जोधपुर
२१ श्री रायचदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२ श्री घेवरचदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३ श्री भवरलालजी माणकचदजी सुराणा, मद्रास
२४ श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५ श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेडतासिटी
२६ श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७ श्री जसराजजी जवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८ श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९ श्री नेमीचदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३० श्री ताराचदजी केवलचदजी कर्णावट, जोधपुर
३१ श्री आसूमल एण्ड क०, जोधपुर
३२ श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३ श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी साड, जोधपुर
३४ श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५ श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६ श्री देवराजजी लाभचदजी मेडतिया, जोधपुर
३७ श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८ श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टाटिया जोधपुर
३९ श्री मागीलालजी चोरडिया, कुचेरा

४० श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१ श्री ओकचदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२ श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३ श्री घीसूलालजी लालचदजी पारख, दुर्ग
४४ श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट क) जोधपुर
४५ श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६ श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७ श्री भवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८ श्री लालचदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९ श्री भवरलालजी नवरत्नमलजी साखला, मेट्टूपालियम
५० श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१ श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२ श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३ श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४ श्री घेवरचदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५ श्री मागीलालजी रेखचदजी पारख, जोधपुर
५६ श्री मुन्नीलालजी मूलचदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७ श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८ श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेडता सिटी
५९ श्री भवरलालजी रिखबचदजी नाहटा, नागौर
६० श्री मागीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१ श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कला
६२ श्री हरकचदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३ श्री चन्दनमलजी प्रेमचदजी मोदी, भिलाई
६४ श्री भीवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५ श्री तिलोकचदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६ श्री विजयलालजी प्रेमचदजी गुलेच्छा, राजनादगॉव
६७ श्री रावतमलजी छाजेड, भिलाई
६८ श्री भवरलालजी डूगरमलजी काकरिया, भिलाई
६९ श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७० श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसघ, दल्ली-राजहरा
७१ श्री चम्पालालजी वुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२ श्री गगारामजी इन्द्रचदजी बोहरा, कुचेरा
७३ श्री फतेहराजजी नेमीचदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४ श्री बालचदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५ श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६ श्री जवरीलालजी शातिलालजी सुराणा, बोलारम
७७ श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८ श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९ श्री माणकचदजी रतनलालजी मुणोत, टगला
८० श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१ श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२ श्री पारसमलजी महावीरचदजी बाफना, गोठन
८३ श्री फकीरचदजी कमलचदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४ श्री माँगीलालजी मदनलालजी चोरडिया, भैरु दा
८५ श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६ श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७ श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८ श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९ श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९० श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१ श्री भवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२ श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३ श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४ श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भडारी
९५ श्री कमलाकवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६ श्री अखेचदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७ श्री सुगनचन्दजी सचेती, राजनादगॉव